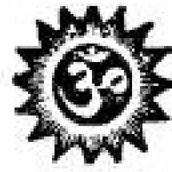


ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन

युधिष्ठिर मीमांसकः



ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन (१)

(तृतीय भाग)



सम्पादक—
युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

द्वितीय संस्करण
सं० २०५४, फाल्गुन शिवरात्रि
फरवरी, सन् १९९८

विशेष—इस संग्रह के प्रथम और द्वितीय भाग में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन छपे हैं तथा तृतीय और चतुर्थ भाग में ऋ० द० को लिखे गये पत्र आदि छाप रहे हैं। पत्र-लेखक के तात्पर्य को यथावत् समझने के लिए दोनों ओर के पत्रों को मिलाकर पढ़ना आवश्यक है। अतः हमने इस संस्करण में उभय-विध पत्रों को छापा है। परस्पर तुलना के लिये यथा-स्थान टिप्पणी में संकेत कर दिया है।

मूल्य
प्रथम भाग—
द्वितीय भाग—
तृतीय भाग—
चतुर्थ भाग—

मुद्रक—
नरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा)

प्रकाशकीय वक्तव्य (द्वितीय संस्करण)

महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' के साथ प्रारम्भ से ही जुड़े हुए थे। विद्वज्जगत् में वे इस विषय के प्रामाणिक विद्वान् के रूप में विख्यात थे। उन्होंने अपने जीवन काल में इस महत्त्वपूर्ण संकलन के चार संस्करण प्रकाशित किये थे। प्रत्येक नये संस्करण में उन्होंने विपुल नवीन सामग्री प्रस्तुत की थी। प्रथम संस्करण की अपेक्षा चतुर्थ संस्करण में संगृहीत पत्र-विज्ञापनों की संख्या द्विगुण कर देना उन्हीं के अथक प्रयास का फल था। पाद-टिप्पणियों और परिशिष्टों से उन की विमल मेधा और अद्भुत चिन्तन का बोध अनायास ही हो जाता है। 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' के तीसरे संस्करण के पश्चात् उन्होंने 'ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन' का संकलन किया और उसका यथेष्ट संयोजन एवं सम्पादन करके प्रकाशित कराया। इसकी सामग्री विपुल होने के कारण इसको दो भागों में प्रकाशित करना पड़ा। इन दो भागों को भी 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' के तृतीय एवं चतुर्थ भाग के रूप में छापा गया। 'ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन' के प्रथम संस्करण का प्रथम भाग दिसम्बर १९८२ में, और द्वितीय भाग अक्तूबर १९८३ में प्रकाशित हुआ। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों (२९ जून १९९४) तक श्रद्धेय श्री मीमांसक जी ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन से सम्बद्ध सामग्री के संकलन, संशोधन एवं परिवर्धन में संलग्न रहे। शारीरिक बाधाओं के बावजूद उन्होंने 'ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन' के दोनों भागों की मुद्रण प्रतिलिपि (प्रेसकापी) श्री अवनीन्द्र वत्स से तैयार कराई। इस कार्य के महत्त्व और श्रद्धेय मीमांसकजी की इच्छा और परिश्रम का आदर करते हुए रामलाल कपूर ट्रस्ट ने अपने सीमित साधनों के बल पर इसे प्रकाशित करने का निश्चय किया। फलस्वरूप श्रद्धेय मीमांसक जी के निधन के लगभग चार वर्ष पश्चात् 'ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन' का प्रथम भाग (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन का तृतीय भाग) सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। इस संकलन के दूसरे भाग (ऋषि दयानन्द सर-

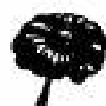
स्वती के पत्र और विज्ञापन का चतुर्थ भाग) का मुद्रण चल रहा है और शीघ्र ही छप कर पाठकों के समक्ष आ जायेगा।

प्रस्तुत संकलन के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण में संगृहीत पत्रों-पत्रांशों आदि की पूर्णसंख्या ४४१ थी और उस की पृष्ठ संख्या ४४८ थी। प्रकृत द्वितीय संस्करण में संगृहीत पत्रों-पत्रांशों आदि की पूर्ण संख्या ६३३ है और इसकी पृष्ठ संख्या ६३१ है। इसी संकलन के द्वितीय भाग के प्रथम संस्करण में संगृहीत पत्रों-पत्रांशों आदि की पूर्णसंख्या ५९७ थी और उस की पृष्ठ संख्या ७४० थी, जबकि इसी भाग के द्वितीय संस्करण में (जो छप रहा है) पत्रों-पत्रांशों की पूर्णसंख्या ६१६ हो गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस द्वितीय संस्करण में १५६ पत्रों-पत्रांशों आदि का परिवर्धन किया गया है। इस से श्रद्धेय मीमांसक जी के सत्प्रयास एवं सतत जागरूकता का अनुमान किया जा सकता है। इस संकलन के अन्त में (द्वितीय भाग के अन्त में) पूर्व संस्करण के समान परिशिष्ट रखे जायेंगे जिनकी संख्या इस द्वितीय संस्करण में दस हो गई है। कारण, प्रथम संस्करण के प्रथम परिशिष्ट में संगृहीत पत्रों-पत्रांशों आदि को यथास्थान समायोजित कर दिया गया है।

महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा महान् श्रम एवं सतत चिन्तन को इतिहास-प्रेमी आर्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए रामलाल कपूर ट्रस्ट श्रद्धेयवर मीमांसक जी के ऋण से किसी सीमा तक अपने को मुक्त अनुभव करता है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि आर्य जन अपना सहयोग पूर्ववत् प्रदान करेंगे। कागज, छपाई आदि के दिन-प्रतिदिन मंहगे होने के कारण संकलनों का मूल्य स्वभावतः बढ़ गया है। हमारा प्रयास यही रहा है कि पाठक को उत्कृष्ट सामग्री यथासम्भव न्यूनतम मूल्य में उपलब्ध कराई जाये।

बहालगढ़
१ मार्च १९९८

विजयपाल विद्यावारिधि



सम्पादकीय

[प्रथम संस्करण]

'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' का परिष्कृत वा परिवर्धित तृतीय संस्करण हम दो भागों में प्रकाशित कर चुके हैं। उस में छपे पत्रों से सम्बद्ध 'ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन' का प्रथम भाग (पूर्वतः—तृतीय भाग) हम वैदिक-धर्मप्रेमी ऋषि-भक्त पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहे हैं। इसका अगला भाग भी छप रहा है, उसे भी हम शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।

पहले हमारा अनुमान था कि ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्र और विज्ञापनों का उपलब्ध संग्रह एक भाग में संकलित हो जायेगा, परन्तु जैसे-जैसे हम कार्य करते गये, संग्रह बढ़ता गया। प्रस्तुत भाग का मुद्रण आरम्भ होने तक लगभग ८०० पृष्ठों की सामग्री संगृहीत हो गई थी। उसके पश्चात् इस में कुछ और वृद्धि हुई है और अन्तिम भाग के मुद्रण तक वृद्धि होने की आशा है। इस कारण हम इस संकलन को भी दो भागों में प्रकाशित कर रहे हैं।

प्रस्तुत भाग में पूर्ण संख्या ४४१ तक पत्र, पत्रांश, पत्र-सूचना, पारसल-सूचना, विज्ञापन तथा तार आदि का संग्रह है। शेष पत्र आदि तथा अनेकविध परिशिष्ट अगले भाग में दिये जायेंगे।

पाठकों को भली प्रकार विदित है कि कागज, छपाई तथा जिल्द बन्धाई का व्यय दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है। अतः इस भाग में पूर्व भागों की अपेक्षा पृष्ठ संख्या न्यून होने पर भी मूल्य पूर्ववत् ही रखना पड़ा।

ऋ० द० को लिखे गये पत्रों के पूर्व संस्करण

ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्रों का संग्रह दो भागों में पूर्व प्रकाशित हो चुका है। इन का विवरण इस प्रकार है—

१. म० मुंशीराम जी (स्वा० श्रद्धानन्द जी) ने 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' के नाम से सं० १९६६ (सन् १९१०) में इन का प्रकाशन आरम्भ किया था। परन्तु ऋषि दयानन्द के अनुयायियों द्वारा उस का उचित मूल्याङ्कन न करने के कारण प्रथम भाग के मुद्रण के अनन्तर उन्हें

इसका मुद्रण रोकना पड़ा। प्रथम भाग की भूमिका से ज्ञात होता है कि प्रथम भाग के छपने के पश्चात् उनके पास लगभग ५०० पृष्ठों में समाविष्ट होने वाले पत्र शेष रह गये थे।[1] जो अन्तत: नष्ट हो गये।

म० मुंशीराम सम्पादित प्रथम भाग में ऋषि दयानन्द के द्वारा लिखे गये पत्र भी छपे हैं, परन्तु उनकी संख्या स्वल्प है। विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को लिखे गये पत्रों की संख्या अधिक है।

२—पं० चमूपति जी ने म० मुंशीरामजी के आरम्भ किये गये प्रयत्न को आगे बढ़ाया। उन्हें भू० पू० पटियाला रियासत के राज-ऐतिहासिक श्री किशोरीसिंह जी की कृपा से ऋषि दयानन्द के राजपूताना (राजस्थान) सम्बन्धी पत्र-व्यवहार के कुछ संग्रह प्राप्त हुए। इसमें ऋषि दयानन्द के भी पत्र हैं और अन्य व्यक्तियों के भी। इस संग्रह को उन्होंने 'ऋ० द० का पत्र व्यवहार' के द्वितीय भाग के रूप में सं० १९९२ (सन् १९३५) में प्रकाशित किया।

इन उपर्युक्त दोनों महानुभावों के द्वारा प्रकाशित संग्रहों में ऋषि दयानन्द के जो पत्र छपे है उनका 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' के दोनों भागों में यथास्थान सन्निवेश हो गया है। अन्य व्यक्तियों द्वारा ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्रों का संग्रह प्रस्तुत भाग में तथा आगे छपने वाले भाग में किया जा रहा है।

अन्य संग्राहक

१. पं० भगवद्दत्त जी ने म० मुंशीराम जी द्वारा प्रकाशित 'ऋ० द० का पत्रव्यवहार' के पश्चात् इस कार्य को आगे बढ़ाया। इसमें उनके सहायक बने ऋ० द० के अनन्य-भक्त श्री मामराज जी खतौली निवासी। इन दोनों महानुभावों के वर्षों के अथक प्रयत्न से ऋषि दयानन्द के पत्र-व्यवहार की प्रचुर सामग्री संगृहीत हो गई थी। उसमें से 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' का बृहत्संग्रह तो रामलाल कपूर ट्रस्ट के सहयोग से सन् १९४६ के आरम्भ में लाहौर से प्रकाशित हो गया, परन्तु अन्य व्यक्तियों द्वारा ऋषि दयानन्द को लिखे गये **लगभग ५००-६०० पत्रों का विशाल संग्रह सन् १९४७** में देश विभाजन के समय लाहौर में ही रह जाने से नष्ट हो गया।[2]

---

१. द्र०—'ऋ० द० का पत्रव्यवहार, भाग १, भूमिका, पृष्ठ ४४।

२. इन नष्ट हुए पत्रों में से हम केवल एक ही पत्र, जिसे आर्यसमाज लाहौर के

यह परम सौभाग्य का विषय है कि 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' का बृहत् संग्रह रामलाल कपूर ट्रस्ट ने देश-विभाजन (अगस्त सन् १९४७) से लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व प्रकाशित कर दिया था, अतः वह बच गया। अन्यथा श्री पं० भगवद्दत्तजी एवं श्री मामराज के भगीरथ प्रयत्न से संगृहीत ऋ० द० के पत्र और विज्ञापनों का बृहत् संग्रह भी नष्ट हो जाता।

२. पं० लेखरामजी ने ऋषि दयानन्द का जीवन-चरित लिखने के लिये विविध स्थानों की जो यात्राएं की, उसमें उन्होंने यथासम्भव प्राप्त हुए ऋषि दयानन्द के अनेक पत्र और विज्ञापन तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को लिखे गये पत्र और विज्ञापनों का भी संग्रह किया। ये सब पत्र और विज्ञापन उनके द्वारा लिखे गये ऋ० द० के जीवन-चरित में यथास्थान सन्निविष्ट हैं।

३. पं० देवेन्द्रनाथ जी ने भी ऋषि दयानन्द का जीवन-चरित लिखने के लिये जो सामग्री संकलित की, उनमें भी कुछ पत्र और विज्ञापन संगृहीत थे, परन्तु उनके द्वारा संकलित जीवन-चरित में इनकी संख्या स्वल्प है। इतना ही नहीं, पं० लेखराम जी ने पत्र विज्ञापन के आदि के मूलपाठ को अधिक सुरक्षित रखा है।

पं० लेखराम कृत जीवन-चरित अद्भुत आकर ग्रन्थ

पं० लेखरामजी कृत ऋ० द० का जीवन-चरित उर्दू में प्रकाशित हुआ है, वह ऋषि दयानन्द सम्बन्धी इतिहास की दृष्टि से एक अद्भुत ग्रन्थ है। उसमें ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापनों तथा ऋषि दयानन्द के प्रति लिखे गये पत्रों का पर्याप्त संग्रह है। उसके अतिरिक्त ऋषि दया-

---

पुस्तकाध्यक्ष बल्लभदास ने १५ सितम्बर १८७८ को ऋ० द० के प्रति लिखा था, पुनः प्राप्त कर सके। यह भी इसलिये सम्भव हो सका कि इसकी मूल प्रति प्रयाग निवासी स्व० डा० धीरेन्द्र वर्मा के संग्रह में सुरक्षित थी। डा० धीरेन्द्र वर्मा के पास ऋषि दयानन्द तथा अन्यों के जो मूल पत्र थे, उनकी फोटोस्टेट (जेरोक्स) कापी उनके सुपुत्र राजेन्द्रकुमार जी (अकाउण्टेण्ट जनरल, पंजाब, चण्डीगढ़) की कृपा से प्राप्त हो गई है। इस पत्र की प्रतिकृति प्राप्त होने से पूर्व प्रस्तुत तृतीय भाग में हम पूर्णसंख्या ६२(पृष्ठ ५२)पर 'पत्र-सूचना' छाप चुके थे। अब यह पूर्ण पत्र चतुर्थ भाग के अन्त में परिशिष्ट १ में छपेगा। [अब यह तृतीय भाग के द्वितीय संस्करण में यथास्थान पूर्णसंख्या ८६ पृष्ठ ७६ पर पूरा पत्र छापा गया है—प्रकाशक]।

नन्द के कार्यकलाप के सम्बन्ध में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में जो छपता था उसका भी विपुल संग्रह है। श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस जीवन-चरित से ऋ० द० के पत्र, पत्रांश तथा विज्ञापनों का बड़ी मात्रा में संग्रह किया था, परन्तु समयाभाव से अथवा अनवधानता से बहुत से पत्र, पत्रांश और विज्ञापनों का संग्रह उनसे छूट गया। उनके अप्रतिम साथी महाशय मामराज जी उर्दू नहीं जानते थे, अन्यथा उनकी दृष्टि से ये ओझल नहीं रहते।

सं० २०१२ (सन् १९५५) में 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' का मैंने सम्पादन किया था। उस समय अन्य सभी स्रोतों से प्राप्त हो सकने वाली सामग्री का संग्रह तो मैंने कर लिया, परन्तु मुझे उर्दू भाषा का ज्ञान न होने से मैं भी पं० लेखरामजी विरचित जीवन चरित का उपयोग न कर सका। यह मेरा परम सौभाग्य है कि ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन के प्रस्तुत नये संस्करण के छपने से पूर्व श्री० पं० लेखराम जी कृत जीवन-चरित का आर्यभाषानुवाद आर्यसमाज नयाबांस, देहली के सत्प्रयास से प्रकाशित हो गया और मुझे उसका सदुपयोग करने का अवसर प्राप्त हो गया। मैंने उससे तब तक असंगृहीत अनेक पत्र, पत्रांश और विज्ञापनों को संगृहीत करके प्रस्तुत संस्करण में यथास्थान संन्निविष्ट कर दिया है।

ग्रन्थ की बृहत्ता तथा अपनी अस्वस्थता के कारण हो सकने वाली अनवधानता को ध्यान में रखकर गतमास मैंने पं० लेखराम जी द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण जीवन-चरित का पुनः 'अथ' से 'इति' तक पारायण किया। इससे ज्ञात हुआ कि इसमें ऋ० द० और अन्य व्यक्तियों के कुछ पत्रांश, पत्र-सूचना आदि का संकलन करना रह गया है। उसे हम अगले चतुर्थ भाग के अन्त में संकलित कर देंगे।

मास्टर लक्ष्मण कृत जीवन-चरित

श्री मास्टर लक्ष्मण जी ने भी ऋ० दयानन्द का एक बृहत्काय जीवन चरित उर्दू में लिखा था, जो लगभग ६५-७० वर्ष पूर्व लाहौर से प्रकाशित हुआ था। इस जीवन-चरित में भी पर्याप्त ऐसी सामग्री हो सकती है, जिस का उल्लेख न पं० लेखराम कृत जीवन-चरित में हुआ हो और न पं० देवेन्द्रनाथ संकलित जीवन-चरित में। परन्तु उर्दू भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण मैं इसका सदुपयोग नहीं कर सका। हां जर्मन के प्रो० वाईज, जिनके साथ ऋषि दयानन्द का भारतीय नवयुवकों को कलाकौशल सिखाने के लिये पत्र-व्यवहार हुआ था, उन प्रो. वाईज के ८-९ पत्र इस संस्करण के

अन्त में संगृहीत हैं, ऐसा मुझे पूर्वतः ज्ञान था, अतः उनको तो कथंचित मैंने इस संग्रह में संकलित कर लिया है। इसके पश्चात् ज्ञात हुआ कि मास्टर लक्ष्मण जी कृत जीवन-चरित में विदेशी महानुभावों के ऋ० द० को लिखे गये कुछ पत्र और हैं। उन्हें भी प्रतिलिपि कराया, परन्तु जिस तिथिक्रम में उन्हें जोड़ना था वह अंश उस समय तक छप चुका था। अतः हम उन्हें भी चतुर्थ भाग के अन्त में देंगे।

क्या ही अच्छा हो कोई उर्दू जाननेवाले ऋषि-भक्त महानुभाव इस को नागरी लिपि में अथवा आर्य भाषा में रूपान्तरित कर दें, तो यह आर्य-समाज की महती सेवा होगी। इसे छपवाने की व्यवस्था मैं तत्काल कर दूंगा ऐसा विश्वास दिलाता हूं।

पत्रों को छापने के दो प्रकार

१—म० मुंशीराम जी ने जो 'ऋ० द० का पत्र-व्यवहार' का प्रथम भाग छापा था, उसमें एक व्यक्ति के द्वारा लिखे गये सभी पत्र यथासम्भव एक स्थान पर छापे हैं। पं० चमूपति जी ने भी अपने द्वारा प्रकाशित द्वितीय भाग ठा० किशोरीसिंहजी से प्राप्त संकलन के अनुसार छापा है। इस संकलन में जिस व्यक्ति के साथ ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार हुआ था वह एक स्थान पर संकलित है। इन दोनों ही प्रकारों में तिथि-क्रम की उपेक्षा होना स्वाभाविक था। परन्तु एक व्यक्ति के पत्र एक स्थान में होने से उसके पत्रों के अनुशीलन में कुछ सरलता अवश्य थी।

२—पं० भगवद्दत्त जी ने 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापनों' को तिथि-क्रम से छापा है। इस संग्रह के दो संस्करण पूर्व छप चुके हैं। द्वितीय संस्करण के छपने के पश्चात् हमें ऋ० द० के जो पत्र, पत्रांश, पत्र-सूचना और विज्ञापन आदि प्राप्त हुए, उनको हमने तिथि-क्रमानुसार यथास्थान प्रकाशित कर दिया है। प्रस्तुत संस्करण के छपते-छपते जो पत्र-विज्ञापनादि ज्ञात हुए उन्हें द्वितीय भाग के अन्त में प्रथम परिशिष्ट में दे दिया है। द्वितीय भाग छपने के पश्चात् भी ऋ० द० के पत्रों की उपलब्धि का क्रम चालू है। नये उपलब्ध तीन पत्र हमने 'ऋ० द० और आ० स० से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख' शीर्षक संग्रह में प्रकाशित कर दिये हैं।

यतः 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' तिथि-क्रम से छपे हैं, इसलिये ऋ० द० को लिखे गये पत्रादि भी हमने इस संस्करण में तिथि-क्रम से ही छापे हैं।

तिथि-क्रम से छापने के लाभ

पत्रों को तिथि-क्रम से छापने के जहां कई लाभ हैं वहां प्रधान लाभ ऐतिहासिक घटना-चक्र का क्रमिक ज्ञान होना है। इस दृष्टि से ऋ० द० के पत्रों को तिथि-क्रम से छापने से ऋ० द० के जीवन-चरित में वर्णित अनेक घटनाओं की तिथि मास और संवत्सर सम्बन्धी भूलें परिज्ञात हुईं। द्र०—पं० भगवद्दत्त जी द्वारा लिखित भूमिका, भाग १, पृष्ठ ३८-४१।

इसी प्रकार ऋ० द० को लिखे गये पत्रों को भी तिथि-क्रम से छापने पर हमें भी ऋ० द० के जीवन-चरित में वर्णित घटनाओं की भूलों का परिज्ञान हुआ। उदाहरणार्थ हम पाठकों का ध्यान हरयाना (जिला-होशियारपुर, पंजाब) की माई भगवती के द्वारा ऋषि दयानन्द के दर्शन की घटना की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।

माई भगवती ने ऋ० द० के बम्बई में दर्शन करके उनसे शिक्षा प्राप्त की थी। इस घटना का उल्लेख पं० लेखराम कृत जीवन-चरित में नहीं मिलता। स्वामी सत्यानन्द जी ने दयानन्द-प्रकाश में सन् १८७५ में पूना जाने से पूर्व इस घटना का उल्लेख किया है। ऐसा ही निर्देश पं० देवेन्द्र-नाथ संकलित जीवन-चरित में भी मिलता है। लखनऊ-निवासी पं० रामाधार वाजपेयी के एक तिथि तारीख मास संवत् सन् आदि रहित पत्र में इस का संकेत है (द्र०-यही भाग ३, पृष्ठ २७२, पं० १)। उससे भ्रान्त हो कर हमने रामाधार वाजपेयी के इस पत्र को पहले सन् १८७५ के क्रम में जोड़ा था, परन्तु अचानक कुछ शंका हो जाने पर हमने रामाधार वाजपेयी के समस्त पत्रों और उनसे संबद्ध आर्यसमाज लखनऊ के मन्त्री हरनामदास आदि के समस्त पत्रों को पुनः पढ़ा तथा और पूर्वापर के प्रसङ्ग जोड़ने से विदित हुआ कि रामाधार वाजपेयी का उक्त तिथि-रहित पत्र सितम्बर १८८२ का है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि माई भगवती ने ऋ० द० के दर्शन जून १८८२ को बम्बई में किये थे। इस की पुष्टि माई भगवती के ४ नवम्बर सन् १८८२ के पत्र (पूर्ण संख्या २८५, भाग ३, पृष्ठ २८१-२८२) से भी होती है।

ऋ० द० को लिखे गये पत्रों की प्रेस कापी

सन् १९५५ में जब 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' का द्वितीय

संस्करण छपा, उसी समय मैंने उस समय उपलब्ध ऋ० द० को लिखे पत्रों की प्रेसकापी तैयार कर ली थी, परन्तु उस समय उसे प्रकाशित नहीं किया जा सका। तदनन्तर सन् १९६१ में परोपकारिणी सभा अजमेर के 'परोपकारी' पत्र में इन पत्रों को क्रमश: छपवाना आरम्भ किया था, लगभग ३४-३५ पत्र छप गये थे, परन्तु आर्यसमाज के एक विद्वान् के विरोध करने पर सम्पादक महोदय ने इन्हें छापना बन्द कर दिया।

प्रस्तुत संस्करण तैयार करने तक अनेक असंगृहीत पत्रों की उपलब्धि के कारण समस्त पत्रों की पुनः नये सिरे से प्रेस कापी बनानी पड़ी। इस कार्य से पूर्व बनाई गई प्रेस कापी की भूलें परिमार्जित हुई।

तुलनात्मक-निर्देश

इस संस्करण में हमने एक प्रमुख कार्य किया है। ऋषि दयानन्द के द्वारा किसी को लिखे पत्र में **'तुम्हारा पत्र आया'** आदि का संकेत है, और यदि उस व्यक्ति का उक्त पत्र हमें उपलब्ध हो गया है तो हमने नीचे टिप्पणी में लिख दिया है—'**···का पत्र तीसरे[1] भाग में देखें।**' इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति द्वारा ऋ० द० को लिखे गये पत्र में **'आपका पत्र मिला'** आदि का संकेत है और वह संकेतित ऋ० द० का पत्र हम छाप चुके हैं, तो हमने टिप्पणी में **'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पूर्ण संख्या······भाग···· पृष्ठ······का पत्र देखें'** ऐसा यथास्थान निर्देश कर दिया है। इससे दोनों ओर के पत्रों के तुलनात्मक अध्ययन में सुगमता होगी।

पत्रों में निर्दिष्ट विचारणीय विषय

ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्रों में अनेक ऐसे विषय हैं, जिन पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। अतः इन पर अपने विचार अगले चतुर्थ भाग की भूमिका में प्रस्तुत करेंगे।

म० मुंशीराम और पं० चमूपति जी की भूमिकाएं

म० मुंशीराम जी ने 'ऋ० द० का पत्र व्यवहार' के प्रथम भाग में

---

१. अब ऋ० द० के पत्रों के दो भागों में छपने के कारण इनका समावेश तीसरे चौथे भागों में हुआ है। तिथि अथवा तारीख की सहायता से इन्हें यथास्थान देखा जा सकता है।

और पं० चमूपति जी ने द्वितीय भाग में जो भूमिकाएं लिखी हैं, उनका अधिकतर भाग उपयोगी होने से हम उन्हें अगले भाग में छापेंगे। इससे जहां उनके द्वारा किये गए कार्य की स्मृति बनी रहेगी वहां हम कृतघ्नता के दोष से भी मुक्त होंगे। उक्त दोनों महानुभावों की भूमिका इस भाग में नहीं छाप सकते, क्योंकि जिन पत्रों के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं, उनमें से अनेक पत्र अगले भाग में छपेंगे। हमें उन्हें सूचित करने के लिये उन पत्रों की पूर्ण संख्या तथा पृष्ठ संख्या का निर्देश करना पड़ेगा।

विविध विशिष्ट परिशिष्ट

जिस प्रकार हमने 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' से सम्बद्ध अनेकविध परिशिष्ट दूसरे भाग में दिये हैं, उसी प्रकार ऋ० द० को लिखे गये पत्रों से सम्बद्ध विविध परिशिष्ट हम चतुर्थ भाग के अन्त में छापेंगे।

पत्रों की भाषा

इस भाग में मुद्रित पत्र प्रधानतया आर्य-भाषा में लिखे हुए हैं। कतिपय पत्र संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। कुछ पत्र उर्दू और अंग्रेजी में निबद्ध हैं। कुछ मूलतः उर्दू और अंग्रेजी भाषा में लिखे गये पत्र मूल पत्रों के उपलब्ध न होने पर उनका जो आर्यभाषा और उर्दू अनुवाद हमें उपलब्ध हुआ, उसे ही छापा गया है। दो पत्र गुजराती भाषा के भी हैं।

आर्यभाषा के अनेक पत्रों पर राजस्थानी, पञ्जाबी, अवधी और बिहारी भाषाओं का प्रभाव उपलब्ध होता है। कुछ पत्र राजस्थानी की ठेठ मेवाड़ी, जोधपुरी आदि बोलियों में भी लिखे गये हैं। राजस्थानी में लिखे गये पत्रों में **'ख'** को प्रायः **'ष'** लिखा गया है (अन्य पत्रों में भी कहीं कहीं ऐसा देखा जाता है)।

अनेक पत्रों की भाषा बड़ी अटपटी है। इसका कारण कुछ लोगों का अल्प शिक्षित होना, शिक्षितों का भी आर्यभाषा में लिखने का यथावत् अभ्यास न होना तथा जवाहरसिंह सदृश अनेक व्यक्तियों का ऋ० द० की प्रेरणा से अंग्रेजी और उर्दू भाषा को छोड़कर आर्यभाषा में लिखने का प्रयास करना है।

कतिपय राजस्थानी पत्रों में संवत् की समस्या

शाहपुरा, मसूदा और उदयपुर के अनेक पत्रों पर **सं० १६४० के**

स्थान में सं० १६३६ लिखा मिलता है। गुजरात में चैत्र सुदि प्रतिपदा के स्थान पर कार्तिक सुदि प्रतिपदा से नया संवत् प्रवर्तित होता है। तदनुसार सं० १६३६ का लेखन युक्त हो सकता है, परन्तु इसमें यह विचारणीय है कि क्या १०० वर्ष पूर्व मसूदा शाहपुरा और उदयपुर के क्षेत्र में गुजराती संवत् प्रचलित था ? अथवा किसी गुजराती लेखक के द्वारा पत्र लिखाये जाने के कारण कहीं कहीं गुजराती संवत् का प्रयोग हो गया है। मसूदा के पं० छगनलाल श्रीमाली तो गुजराती ब्राह्मण थे अतः उनके पत्र में गुजराती संवत् का प्रयोग समझ में आता है। ऐसे स्थानों पर हमने सर्वत्र टिप्पणी दे दी है।

अपने विषय में

निरन्तर चार वर्ष की व्याधि से शरीर प्रतिदिन निर्बल होता रहा है। इस से कई बार विविध प्रकार की बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। ऋ० द० के पत्र-व्यवहार के प्रारब्ध किये गये कार्य को पूर्ण करने के लिये मीमांसा भाष्य-व्याख्या जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य को भी १ वर्ष से स्थगित कर रखा है। विगत तीन मास से स्वास्थ्य के अधिक गिर जाने से कई बार मन में आया कि ऋ० द० को लिखे पत्रों को ही तृतीय भाग में छाप कर इस कार्य को यथाकथंचित् समाप्त करदूं, परन्तु इन पत्रों में उपस्थापित अनेक विचारणीय विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत न किये गये तो कदाचित् यह कार्य अधूरा ही रह जायेगा। इसी प्रकार अनेक परिशिष्टों के देने से पाठकों को जो सुविधा होती है उस से भी वे वञ्चित रह जायेंगे। यह विचार कर तृतीय भाग को पूर्ण संख्या ४४१, पृष्ठ ४४८ पर ही समाप्त करके पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूं।

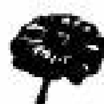
चार वर्ष से निरन्तर प्रतिदिनि रात्रि में दोनों पैरों में पीड़ा होने से रात जागते हुए बितानी पड़ती है। शीतकाल में यह कष्ट बढ़ जाता है। निरन्तर रात्रि-निद्रा के अभाव के कारण आमाशय विकृत हो चुका है। इस कारण न यथोचित क्षुधा लगती है और न रस-रक्त ही बनता है। इससे शारीरिक निर्बलता बढ़ती जा रही है। अब तो मानसिक बल भी क्षीण हो रहा है। ऐसी अवस्था में भी किसी प्रकार यह कार्य पूर्ण हो जावे, इसलिये शीतकाल में भी यहीं रहने का संकल्प किया है। कल की कौन जानता है, वर्तमान का उपयोग करना ही मानव के हाथ में है। इसलिये सर्वविध

बाधाएं होते हुए भी वर्तमान का यथाशक्ति सदुपयोग करने में लगा हुआ हूं।

इस महती अस्वस्थता के कारण इस कार्य में अनेक त्रुटिया हुई हैं, जिन्हें मैं जानता हूं और कुछ पाठक महानुभावों के सम्मुख भी उपस्थित होंगी। परन्तु मैं इस अस्वस्थता में जो कुछ कर सकता हूं अपनी ओर से कर रहा हूं। अधिक नहीं तो भी इस से इस कार्य के भावी सम्पादकों के लिये मार्ग तो सुलभ हो ही जायेगा, ऐसी आशा है।

कार्तिक-पूर्णिमा, सं० २०३९
रा० ला० क० ट्र० बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

विदुषां वशंवद:
युधिष्ठिर मीमांसक



ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन (१)

(तृतीय भाग)

—: ओ३म् :—

ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्र और विज्ञापन

(तृतीय भाग)

[पूर्ण संख्या १] **पत्र-सूचना**

[स्वा० द० स० की पत्र द्वारा पूछी गई शङ्काओं के समाधान में श्री स्वा० विरजानन्दजी द्वारा लिखे गये पत्र][1]

स्वामी विरजानन्द

—:०:—

[पूर्ण संख्या २] **पत्र-सूचना**

[लाट साहब के नाम चिट्ठी लिख कर स्वा० द० स० को दी। गोरक्षा के सम्बन्ध में][2]

अजमेर

कर्नल ब्रुक
एजेण्ट गवर्नर जनरल

—:०:—

१. ऋ० द० ने अपने आत्मचरित में आगरा और ग्वालियर के निवास-काल (वि० सं० १९२०-२१) के वर्णन में पत्र द्वारा शङ्का समाधान करने का उल्लेख किया है। इस प्रकार के कई पत्रों के उत्तर स्वा० विरजानन्द जी ने दिये होंगे। हम यहां संग्रह मात्र की दृष्टि से पत्र-सूचना के रूप में एक का निर्देश करते हैं।

२. इस पत्र की सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६४ पर मिलती है।

[पूर्ण संख्या ३] पत्र-सारांश

[राजा रामसिंह, जयपुर के नाम][1]

खेद है कि ऐसे उत्तम वेदवक्ता के साथ आपने कुछ बातचीत न की।

अजमेर

कर्नल ब्रुक
एजेण्ट गवर्नरजनरल

—:०:—

[पूर्ण संख्या ४] प्रशंसा-पत्र-सारांश

यह एक प्रसिद्ध वेद के विद्वान् हैं। हमने सारी आयु में संस्कृत का ऐसा विद्वान् नहीं देखा। ऐसे मनुष्य संसार में अप्राप्य हैं। जो इन से मिलेगा उसे अत्यन्त लाभ होगा। जो कोई सज्जन इन से मिले वह इन का बहुत सम्मान करे।[2]

अजमेर

पादरी राबिन्स

—:०:—

[पूर्ण संख्या ५] पत्र-सूचना

[कर्नल ब्रुक ने एक चिट्ठी स्वा० द० स० को भी जयपुर के महाराजा रामसिंह के नाम लिखकर दी।][3]

—:०:—

[पूर्ण संख्या ६] पत्र-सूचना

[अंगद शास्त्री (पीलीभीत वाले) की चिट्ठी, जिसके अन्त में निम्न श्लोक था—]

---

१. इस पत्र का सम्बन्ध ऋ० द० के साथ होने से इसे हम यहां दे रहे हैं। यह पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६६ पर मुद्रित है।

२. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६५ पर उद्धृत है। सं० १९२३ के द्वितीय ज्येष्ठ के लगते ही (= ३० मई १८६६ को) ऋ० द० अजमेर पधारे थे।

३. इस पत्र की सम्भावना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६६ पर प्रकट की है।

[1]शेष: पातालके चास्ति स्वर्लोके च बृहस्पति: ।
पृथिव्यामङ्गद: साक्षात् चतुर्थो नैव विद्यते ॥

—:०:—

[पूर्ण संख्या ७] पत्र-सारांश[2]

[स्वामी दयानन्द सरस्वती]

हम लोग आज शास्त्रार्थ करने आवेंगे। आप मूर्ख और दुष्टादि कड़े शब्द कह दिया करते हैं। यदि ऐसा ही हमको कहा तो दण्ड दिया जावेगा।[3]

[मिर्जापुर के पण्डित]

—:०:—

[पूर्ण संख्या ८] पत्र-सूचना[4]

[श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, फर्रुखाबाद]

..................................।[5]

[गङ्गादत्त शर्मा]

—:०:—

१. अङ्गद शास्त्री के पत्र की सूचना तथा इस श्लोक का उल्लेख पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ९४ तथा ११७ पर मिलता है। यह पत्र कर्णवास के निवास काल (सं० १९२४) को प्राप्त हुआ था।

२. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवन चरित हिन्दी सं० पृष्ठ २०९ पर निर्दिष्ट है।

३. इस के लेखक वा लेखकों का नाम अज्ञात है। यह पत्र सम्भवत: फाल्गुन सं० १९२६ (मार्च सन् १८७०) को लिखा गया था।

४. इस पत्र की सूचना 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन', पूर्ण संख्या २५ पृष्ठ १६-१८ पर मुद्रित पत्र से मिलती है।

५. यह अनुपलब्ध पत्र सम्भवत: भाद्रपद कृष्ण पक्ष के अन्त में या शुक्ल पक्ष के आदि में लिखा गया होगा। पत्र संस्कृत में था। यहां सूचित गङ्गादत्त शर्मा का पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन भाग १, पूर्ण संख्या ६० के पत्र के उत्तर में था।

[पूर्ण संख्या ९] विज्ञापन[1]

जो कि दयानन्द सरस्वती मत के मुताबिक बहुत लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य वगैर: अपना कुलधर्म छोड़कर देवताओं की मूर्तियां गंगा जी में प्रवाह कर देते हैं—यह बात बेजा व नामुनसिब है। इसलिये यह इश्तिहार जारी किया जाता है कि जो लोग उन के मत को अख्त्यार करें उनको चाहिये कि मूर्तियों को बराये मेहरबानी एक मन्दिर कैलाश नामी महाराज गुरु प्रसाद शुक्ल का है उसमें या मन्दिर महाराज प्रयाग नारायण तिवारी में पहुंचा दिया करें और अगर उनको पहुंचाने की गुञ्जायश न हो तो इत्तला करें हम उन को उठा लिया करेंगे और उन्हें बहाने वा फेंकने में जो पाप है वह संस्कृत में लिखा है। फक्त

दस्तखत हलधर ओझा।

—:०:—

[पूर्ण संख्या १०] पत्र-सारांश[2]

हम को वहां[3] आने से फायदा तो बहुत है, मगर यहां मथुराजो मूर्तियों का घर है और यहां बड़े-बड़े खम्ब सोने की मूर्तियों के खड़े हैं। और रङ्गाचार्य सब देश में [अपनी विजय का] डङ्का बजा और

१. यह विज्ञापन पं० लेखरामकृत जीवनचरित्र हिन्दी सं० पृष्ठ ६३८ पर छपा है। यह घटना ऋ० द० के द्वितीय बार कानपुर निवासकाल (जुलाई-अक्टूबर १८६९) की है। जीवनचरित (पृष्ठ ६३८) में २ अगस्त १८६९ के 'शोलयेतूर' (कानपुर) के अङ्क में इस विज्ञापन के छपने का निर्देश है।

२. ऋषि दयानन्द ने मथुरा निवासी पं० गङ्गादत्त चौबे को फर्रुखाबाद के सेठ पन्नीलाल की पाठशाला में पढ़ाने के लिए बुलाया था। इसके लिये उन्हें भाद्र शु० ६ सं० १९२७ (१ सि० १८७०) को एक पत्र संस्कृत में लिखा था [देखो ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पूर्ण संख्या २५, पृष्ठ१६-१८] और १० रुपये भेजे थे। उस पत्र के उत्तर में पं. गङ्गादत्त चौबे ने जो पत्र लिखा था, उसका जो सारांश प० गङ्गादत्त ने पं० लेखराम जी को बताया था, वही हम ने पं० लेखराम संकलित ऋषि के उर्दू जीवनचरित पृष्ठ २१६ (हिन्दी सं० पृष्ठ २४९) से लेकर लिखा है। मूल पत्र संस्कृत भाषा में था।

३. अर्थात् फर्रुखाबाद की पाठशाला में।

दिन में मशाल जलाकर फिर आये हैं कि मूर्ति [पूजा] सत्य है। आप [तो] दूर-दूर मूर्तिपूजा का खण्डन कर रहे हैं। जब तक इस स्थान में [आप] मूर्ति का खण्डन न कर लेंगे तब तक हम वहां किस तरह आ सकते हैं। क्योंकि इस तरह जाने से (हमारी) निन्दा होगी और आप की अगर यहां आन कर मूर्ति [पूजन का] खण्डन करोगे तो ज्यादह प्रतिष्ठा होगी।[1]

[गंगादत्त]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ११] **पत्राशय**

आप हमारे मत का खण्डन न करें।[2]

गोस्वामी पुरुषोत्तमदास

—:o:—

[पूर्ण संख्या १२] **पत्र-सूचना**[3]

[श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती]

....।

ज्येष्ठ शुदि ७ सं० १९३१।[4] शिव सहाय गौड़

—:o:—

---

१. यह पत्र ऋषि दयानन्द के सं० १९२७ भाद्र शु० ६ बृहस्पतिवार (१ सितम्बर १८७०) के पत्र के उत्तर में कुछ दिन बाद लिखा गया होगा।

२. यह पत्राशय पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी संस्करण पृष्ठ २५४ पर उद्धृत है। ऋ० द० वृन्दावन से मथुरा आकर गोस्वामी पुरुषोत्तमदास के बलदेव बाग में ठहरे थे। वही जीवनचरित, पृष्ठ २५४। मथुरा में ऋ० द० ने चैत्र कृ० ११, सं० १९३० से चैत्र शु० २ सं० १९३१ (=१४-२० मार्च १८७४) तक निवास किया था।

३. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के (ज्येष्ठ सुदी १३ शुक्रवार(१८ मई १८७४)लिखे गये पूर्ण संख्या ३७, पृष्ठ ४६-४७ पर छपे पत्र से मिलती है।

४. २२ मई १८७४ पत्र की तिथि का निर्देश ऋ० द० के पूर्व निर्दिष्ट पत्र (पूर्ण संख्या ३७, पृष्ठ ४६) में विद्यमान है।

[पूर्ण संख्या १३] पत्र

मुंबाई

पण्डितेश्वर दयानन्द सरस्वती[1]

में आपकुं विनय पूर्व्वक ए लिखने कुं इच्छता हुं, जो भारतवर्ष निवासी विशेषतः ए मुंबाई शहेर के रहने वारे, विधवा विवाह करना वा न करना ईस विषय परस्पर में बहु तर्क वितर्क करे हैं कोई केहते हैं जो ए करना उचीत हैं और कोई कहैते है जो ओ अनुचीत हैं एसी खट पट चलि रहि हैं और में एसा सुना है जो आप आगामी शनिवार[2] अर्थात् कल्य सायंकाल के समय महाजन वाडी में आख्यान करोगे सो एसी आशा रखता हुं जो आप ये उपर लिखा हुआ विषय पर कूच्छमात्र आख्यान करि के आर्यों का सन्देह दूरि कृत करोगे।[3]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १४] आ कृष्णेन रजसा (यजु० ३३।४३) का अर्थ[4]

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

---

१. यह पत्र मुंशीराम सम्पादित 'ऋ० द० का पत्र व्यवहार' भाग १, पृष्ठ ३०० पर छपा है।

२. ऋषि दयानन्द का एक व्याख्यान ता० २८ नवम्बर सन् १८७४ शनिवार को पांच बजे सायंकाल 'फ्रामजी कावसजी हाल' में हुआ था(द्र० देवेन्द्रनाथ सं० जीवनचरित, भाग १, पृष्ठ २९१)। सम्भवतः उसी की ओर यह संकेत है, क्योंकि बम्बई के पण्डित विष्णु परशुराम [इन्दु प्रकाश के सम्पा०] विधवा विवाह के समर्थक थे, उन्होंने १३ नवम्बर १८७४ से पूर्व स्वामीजी से भी विधवा विवाह के विषय में बात की थी। देखो पं० देवेन्द्रनाथ सं० जी० च० भाग १, पृ० २८९।

३. इस पत्र के अन्त में लेखक का नाम नहीं है।

४. यह अर्थ पौराणिक शास्त्रार्थेच्छुक पण्डितों ने सं० १९३१ पौष बदि (उ० भारतीय—माघ बदि) ६ बुधवार (२७ जनवरी १८७५) सायं ७ बज कर ४० मिनट पर लिख कर दिया था। इस मन्त्र का ऋ० द० कृत अर्थ 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या ५०, पृष्ठ ६७ पर देखें।

(आ कृष्णेन) ईषत् कृष्णेन (रजसा वर्तमानः) सहितः (सविता देवः) सूर्यः (अमृतं) स्वर्गं (मर्त्यं) भूलोकं (निवेशयन्) स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन्(हिरण्ययेन रथेन)स्यन्दनेन (भुवनानि पश्यन् याति)गच्छति।

सही—लल्लूभाई बापूशास्त्रिणः सम्मतोऽर्थः

शास्त्री सेवकराम रामनाथ

सम्मतिरत्र भास्करशास्त्रिणः

सम्मतिरत्र अमृतरामशास्त्रिणः ।[1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १५] पत्र[2]

स्वामीजी,

विनय पूर्वक विज्ञापन यह है कि गत वक्त बुद्धिवर्धकसभा में आप का व्याख्यान हो न सका इसमें वहोत गम खा के यह ठहराने का विचार रखता हों की काल शिवरात्रि[3] को सायंकाल आप व्याख्यान करे। आप को कोई भी हरकत हो तो सेवक को लिखें। कलाक कलाक टपाल निकालता हे सो आप ऐसे कार्ड पर लिख पाओगे तीन बजे तक आप का खत की राह देख रहा हूं। फिर इश्वर चाहे आदमी भेजना पड़ेगा।

सेवक बु० स० मन्त्री

खत इस पते पर भेजीये।

मणिलाल नभुभाई द्विवेदी

गीरगाम, मोरारजी गोकलदास वाला

—:o:—

१. पौराणिक शास्त्रियों का यह अर्थ पं० देवेन्द्रनाथ संकलित ऋ०द० के जीवन चरित, भाग १, पृष्ठ ३२३ पर छपा है।

२. यह पत्र मुंशीराम सम्पा० पत्र व्यवहार, भाग १, पृष्ठ २९९ पर छपा है।

३. यहां संवत् का उल्लेख नहीं है। पत्र पर 'बुद्धिवर्धक सभा' के सहायक मन्त्री के हस्ताक्षर होने से स्पष्ट है यह व्याख्यान चैत्र सुदी ५ स० १९३२ (१० अप्रेल १८७५ शनिवार)से पूर्व हुआ था। शिवरात्रि फाल्गुन कृष्णा १३

[पूर्ण संख्या १६] **पत्र-सूचना**[1]

.... ।

[गोपालराव हरि देशमुख]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १७] **तार-सूचना**

[मन्त्री आर्यसमाज बम्बई ने तार देकर ऋ० द० को अहमदाबाद से बुलाया ।][2]

—:०:—

(गुजराती पञ्चाङ्गानुसार माघ कृष्णा १३)सं० १९३१ को ५ मार्च १८७५ शुक्रवार था। पं० देवेन्द्रनाथ सम्पादित जीवनचरित पृष्ठ ३३० के अनुसार १६ मार्च १८७५ से ऋषि दयानन्द के कुछ समय तक अनवरत व्याख्यान हुए थे। अत: यह शिवरात्रि सं० १९३१ की समझी जानी चाहिए। तदनुसार यह पत्र फाल्गुन कृष्णा १२ सं० १९३१(४ मार्च १८७५)को लिखा गया था।

टिप्पणी:—आर्यसमाज की स्थापना वस्तुत: चैत्र सुदि ५ सं० १९३२ (गुजराती सं० १९३१)तदनुसार १० अप्रेल १८७५ शनिवार को ही हुई थी, न कि चैत्र सुदी १ बुधवार द्र० ऋ० द० का गुजराती सं० १९३१ (उत्तर-भारतीय सं० १९३२) चैत्र सुदि (११ अप्रैल सन् १८७५) को लिखा गया पूर्ण संख्या ५५ का पत्र पृष्ठ ७३, तथा टि० ४। इस विषय की पूर्ण विवेचना के लिए 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' भाग २, परिशिष्ट ४,(पृष्ठ १०४६-१०६४) देखें।

१. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के फा० शु० ९ सं० १९३१ को लिखे पूर्ण संख्या ५२ (पृष्ठ ६८) के पत्र से मिलती है। ऋ० द० के इसी पत्र से अनुमान होता है कि पं० गोपालराव हरि देशमुख ने 'गान की पुस्तक ४, छाता १, दवात १' भेजने की सूचना भी दी होगी।

२. इस तार का उल्लेख पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ २७२ पर मिलता है।

टिप्पणी—पं० लेखरामकृत जीवनचरित (हिन्दी सं० पृष्ठ २७२) के अनुसार बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना (१० अप्रेल शनिवार १८७५) के एक दो सप्ताह के पश्चात् ऋ० द० अहमदाबाद चले गये थे। वहां मई १८७५ के अन्त तक रहे। बम्बई में शास्त्रार्थ का शोर मचने पर वहां से बुलाने के लिये उक्त तार दिया गया था। इस बार अहमदाबाद जाने का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता है।

[पूर्ण संख्या १८] **पत्र-सूचना**[1]

.... ।

[गोपालराव हरि देशमुख]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १९] **पत्र-सारांश**

[पं० स्वामी दयानन्द सरस्वती]

यदि आप यहां आवें तो बहुत बड़ी कृपा होगी । और वहां के धन्य भाग हैं, जहां आपने जन्म लिया है ।[2]

मैक्समूलर

—:०:—

[पूर्ण संख्या २०] **पत्र**

[महार-मांग-चमार आदि का पत्र]

[3]राजमान राजेश्री दयाणंद स्वामी महाराजास वी० वी० कळावे की आपण कलकत्याचे संवस्तान सोडुन आम्हा गरीब दुबळया देश-बांधवास अज्ञान अन्धकाराच्या पाशातूण काढण्यास पाऊल पुढे टाकीला आहे. असे आम्ही म्हार, मांग, चांभार व ढोर वगैरे हींदु

---

१. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के सं० १९३२ चैत्र वदी (?, ज्येष्ठ वदी ९ (=२९ मई १८७५) को लिखे गये पूर्ण संख्या ५७ (पृष्ठ ७६) के पत्र से मिलती है ।

२. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ २८७ से लिया गया है । वहां लिखा है—'बम्बई में मैक्समूलर का पत्र जर्मनी(?) से आया था ।' इसका जो उत्तर ऋ० द० ने दिया था उसका सारांश 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या ६४, पृष्ठ ८३ पर छपा है ।

३. यह पत्र पुणे से ईसाइयों द्वारा प्रकाशित होनेवाली 'सत्यदीपिका' मासिक के अगस्त सन् १८७५ के अङ्क में 'प्रस्तुत वृत्त आणि अभिप्राय' शीर्षक के अन्तर्गत छपा था । द्र० वेदवाणी, नवम्बर १९८३, पृष्ठ १६-१७ ।

धरमातील ग्रंथकारांच्या म्हणण्याप्रमाणे नीच वर्णातील कांही अज्ञाण लोकांनी आपली वार्ता आकिली आहे की आपण जातीभेद ण पाळिता वेदांतावरुण आपण बहुतेक लोकास जागोजागि उपदेश करीत आला आहात आणि कीतेक लोक आपल्या ऊबदेशांकडुन या ज्ञातिभेद अज्ञाण अन्धककातुण पार पडले असी वार्ता माईकून आम्ही [आ]शाड शुद्ध त्रैयोदशी रोज शुक्रवारी सायंकाळी सात वाजता पुणे पेठ जुनागंज येथे मोमीणपुर्यात शुद्रादी अती शूद्रांच्या शाळेमध्ये ऊपदेशासाठी जांगा येका साहेबापासी मागुण घेतली आहे तर आपण कृपा करुण यालच असी आश्या बाळगुण आपणास हे दोण दिवस अगोदर सुचणापत्र लीहीले आहेतर आपण कृपा करुण आलाच पाहीजे आणि आम्हास ऊपदेश करुण नीट मार्गास लावावे हा आपला धर्म होये ।।[1]

ता० १३ माहे जुलई स० १८७५.

सही गोवींद तुकाराम मांग वस्ती.
पेठ जुना गंज, दस्तुर खुद.
गनु बणि बाबाजी चांभार
हारी बी ।। गोपाळ चांभार
माहदु सकाराम महार.
भाऊ सकाराम मांग·
रघू व० बापू. महार,

[मराठी पत्र का भाषानुवाद]

राजमान्य राजश्री दयानन्द स्वामी महाराज को विशेष प्रार्थना। मालूम हो [हुआ है] कि आप कलकत्ता संस्थान छोड़कर हमारे निर्धन-दुर्बल देशबांधवों [देशवालियों] को अज्ञान अन्धकार के पाश से मुक्त करने के लिये अग्रसर हो चुके हो। ऐसा हम महार, मांग, चमार व ढोर आदि हिंदू धर्म के ग्रन्थकर्त्ताओं के कथनानुसार नीच वर्ण के कुछ अज्ञानी लोगों ने, आपका समाचार सुना है कि आप जाति भेद न मानते (पाळिता) हुए वेदांत [वेदों] के आधार पर आपने बहुत से लोगों को स्थान-स्थान पर उपदेश देते (करीत) आये

---

१. प्रस्तुत मराठी पत्र में 'न' के स्थान में 'ण' लिखने की तथा ह्रस्व-दीर्घ लिखने की बहुत त्रुटियां हैं। इस का कारण शुद्ध भाषा-ज्ञान से रहित व्यक्तियों द्वारा पत्र लिखना है।

हो, और [न जाने] कितने लोग आपके उपदेश से इस जातिभेद के अज्ञान अन्धकार से मुक्त हो गये हैं (पार पडले)। यह समाचार जान कर हमने [आ]षाढ शुद्ध त्रयोदशी के दिन (रोज) शुक्रवार को सायं ७ बजे पुणे: पेठ: जुनागंज के यहां (ये थे) मोमीणपुर में स्थित शूद्र अतिशूद्रों के विद्यालय में [आपके] उपदेश के लिये एक साहब के पास से जगह मांग ली है। इसलिये आप कृपा कर पधारेंगे ही, ऐसी आशा रखकर आपको यह दो दिन पहले सूचना पत्र लिखा है। एतदर्थ आपको पधारना ही चाहिए और हमें उपदेश [दे] कर सन्मार्ग पर लगाना चाहिये। यही आपका धर्म है ॥

ता० १३, महिना: जुलाई, सन् १८७५

हस्ताक्षर:—गोवींद तुकाराम मांग बस्ती।
पेठ जुनागंज, दस्तुर खुद।
गनु बणि बाबाजी चमार।
हारी बी ॥ गोपाळ चमार।
माहदु सकाराम महार।
भाऊ सकाराम मांग।
रघू व० बापू महार।

—:०:—

[पूर्ण संख्या २१] पत्र-सारांश[1]

मैं दर्शन शास्त्र पढ़ना चाहता हूं, अष्टाध्यायी महाभाष्य पढ़ने से मुझ को यथोचित बोध हो गया है और आप यदि लिखाना आदि कुछ काम मुझ से लेना चाहते हों तो मैं यह भी कर सकूंगा। उसके लिये मेरी कुछ जीविका, जो आप उचित समझें नियत कर दीजिये परन्तु मेरा पढ़ना आपके पास हो सके यही मेरा विचार प्रधान है।

[भीमसेन][2]

---

१. यह पत्र-सारांश 'पूर्णसिंह वर्मा' द्वारा लिखित प० भीमसेन शर्मा के जीवनचरित पृष्ठ १२ पर छपा है। यह जीवनचरित सं० १९७५ (सन् १९१८) में ब्रह्मप्रेस इटावा में छपा है।

२. यह पत्र सं० १९३३, ज्येष्ठ शुक्ला ४ से भाद्र कृष्णा १० (२७ मई से १४ अगस्त सन् १८७६) के मध्य जब ऋ० द० काशी में विराजमान थे, तब लिखा गया था। मूल पत्र संस्कृत में था।

[पूर्ण संख्या २२, २३] पत्र-सूचना[1]

[दो पत्र]............... ...

कालूराम शर्मा

—:o:—

[पूर्ण संख्या २४] पत्र-सूचना

[रजिस्टर्ड पत्र भेजा][2]

कालूराम शर्मा

—:o:—

[पूर्ण संख्या २५] पत्र-सारांश

आचार्यवर्य स्वामी जी महाराज आप को निन्दक लोग तो बहुत मिले, परन्तु सच्चा शिष्य कोई नहीं मिला। आप सद्गुरु का दर्शन पं० कालूराम को तन्द्रावस्था में जिस दिन से हुआ है। उसी दिन से अपने आप को आपका शिष्य और आप श्री महाराज को अपना सद्-वैदिक गुरु मानकर अहर्निश आपके दर्शन की अभिलाषा में निमग्न रहते हैं। सो कृपा करके अब पत्र द्वारा दो चार उपदेश देवें। फिर आप के दर्शन को हम सब लोग उपस्थित होवेंगे।[3]

जवाहर
शिष्य पं० कालूराम

—:o:—

---

१. जयपुर आर्यसमाज शताब्दी स्मारिका पृष्ठ २२-२३ पर इस पत्र की सूचना मिलती है।

२. इस पत्र की सूचना सेठ जयनारायण पोद्दार रचित पं० कालूराम जी का जीवनचरित, पृष्ठ २६ (आर्यसमाज जयपुर के १०० वर्ष का इतिहास एवं स्मारिका पृष्ठ २२) से मिलती है।

३. यह पत्र-सारांश उस पत्र का है जिसे पण्डित कालूराम जी ने अपने शिष्य जवाहर से लिखवाया था। द्रष्टव्य: पोद्दार जी रचित कालूरामजी का जीवनचरित, पृष्ठ २६। इस पत्र का उत्तर ऋषि दयानन्द ने जो दिया था वह ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार और विज्ञापन भाग १ पूर्ण संख्या ७७

[पूर्ण संख्या २६] पत्र-सारांश

.... ।

प्रेत की गिनती कब से होती है? अनद्यतन शब्द का क्या अर्थ है? वेदोक्त मार्ग को अब तक कितने मनुष्य स्वीकार कर चुके हैं? तथा जयपुर पधारने का कष्ट भी करें।[1]

[कालूराम शर्मा]

—:o:—

[पूर्ण संख्या २७] पत्र-सूचना[2]

.... ।

[रामाधार वाजपेयी, लखनऊ]

—:o:—

[पूर्ण संख्या २८] पत्र-सारांश

.... ।

१० प्रतियाँ विज्ञापन[3] की बांटने के लिए और भेजिये।[4]

९-२-७७ [रामाधार वाजपेयी]

—:o:—

पृष्ठ १०६ पर देखें। उक्त पत्र दिल्ली दरबार के समय १७ दिसम्बर १८७६ से १६ जनवरी १८७७ के मध्य कभी दिया था। पत्र में राजधानी शब्द का प्रयोग होने से कालूराम जी के जीवनचरित लेखक का अर्थ शाहपुरा समझकर अस्थान में सङ्कलित किया है।

१. यह पत्र-सारांश ऋषि द० के संवत् १९३३ माघ कृष्णा ४ पत्र और विज्ञापन भाग १ पूर्ण संख्या ७८ पृष्ठ १०६-१०८ के आधार पर बनाया है।

२. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के ६ फरवरी १८७८ के पूर्ण संख्या ८१ पृष्ठ १०९-११० के पत्र से मिलती है।

३. यह वेदभाष्य सम्बन्धी विज्ञापन है जो पत्र व्यवहार और विज्ञापन के भाग १ में पूर्ण संख्या ७४ पृष्ठ ९४-९६ पर छपा है।

४. यह पत्र-सारांश और पत्र लिखने की तिथि का निर्देश ऋ० द० के १३ फरवरी १८७७ के पूर्ण संख्या ८२ पृष्ठ १११-११२ के पत्र में मिलता है।

[पूर्ण संख्या २९] **पत्र-सारांश**

दो सप्ताह का हम प्रबन्ध नहीं कर सकते परन्तु एक सप्ताह का प्रबन्ध करेंगे। आप अवश्य पधारिये और जितने आपके साथ नौकर चाकर हों उन के विषय में हम को लिखें ताकि आपकी सेवा में पहले से खर्च भेज दिया जाये।[1]

प्रबन्धक, मेला चांदापुर

—:०:—

[पूर्ण संख्या ३०] **पत्र-सूचना**[2]

.... ।

६-३-१८७७ [रामाधार वाजपेयी, लखनऊ]

—:०:—

[पूर्ण संख्या ३१] **पत्र-सारांश**

श्याम जी तीन वर्ष के लिये इङ्गलैण्ड जाना चाहते हैं।[3]

१२-४-१८७७ हरिश्चन्द्र चिन्तामणि

—:०:—

[पूर्ण संख्या ३२] **पत्र-सूचना**[4]

.... ।

[रामाधार वाजपेयी लखनऊ]

—:०:—

१. यह पत्र-सारांश प० लेखराम कृत जीवन चरित हिन्दी संस्करण पृष्ठ ३०३ पर मिलता है।

२. इस पत्र की सूचना तथा पत्र लिखने की तारीख का निर्देश ऋ० द० के ९ मार्च १८७८ को लिखे पूर्ण संख्या ८६, पृष्ठ ११४-११५ के पत्र से मिलती है।

३. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के १६ अप्रैल १८७७ के पूर्ण संख्या ८९, पृष्ठ १२३-१२४ के पत्र में निर्दिष्ट है। तारीख का निर्देश भी वहीं से लिया है।

४. इस पत्र की सूचना तथा अगले पत्र-सारांश का निर्देश 'ऋ० द० के १५ मई १८७७ पूर्ण संख्या ९२, पृष्ठ १२५-१२६ के पत्र में मिलता है।

[पूर्ण संख्या ३३] पत्र-सारांश

सत्यार्थप्रकाश और आर्याभिविनय आदि भेजिये।
यहां सत्य-निरूपण-सभा की स्थापना की है।[1]

रामाधार वाजपेयी

—:०:—

[पूर्ण संख्या ३४] पत्र-सारांश

आप ऋग्वेदभाष्य के साथ यजुर्वेद का भाष्य भी आरम्भ करें।
श्यामजी कृष्ण वर्मा आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में पढ़ने के लिये जाना चाहते हैं। महानिर्वाण तन्त्र क्या आप के पास है?[2]

गोपालराव हरि देशमुख

—:०:—

[पूर्ण संख्या ३५] पत्र-सारांश

अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूं। वेदभाष्य का नमूना भेजिये और नियम लिखिये।[3]

१७ जुलाई १८७७ दीनानाथ गांगोली

—:०:—

[पूर्ण संख्या ३६] पत्र-सारांश

इस में[4] आपने नम्रता से काम नहीं लिया है और कठोर शब्दों का प्रयोग किया है।[5] राय कन्हैयालाल एग्जेक्टिव इञ्जिनियर

१. ऋ० द० के १५ मई १८७७ पूर्णसंख्या ९२ पृष्ठ १२५-१२६ के पत्रों में दो पत्र प्राप्त होने का तथा उक्त पत्र-सारांश का निर्देश मिलता है। प्रकृत पत्र-सारांश का निर्देश ऋ० द० के ८ जून १८७७ के पूर्ण संख्या ९७, पृष्ठ १३१ के पत्र में भी उपलब्ध है।

२. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के ६ जून १८७७ के पूर्ण संख्या ९४ (पृष्ठ १२७-१२८) के पत्र के आधार पर बनाया है।

३. यह पत्र सारांश तथा तिथि का निर्देश ऋ० द० के २१ जुलाई १८७७ के पूर्ण संख्या ९८ (पृष्ठ १३२) के पत्र में मिलता है।

४. यहां 'इसमें' शब्द से सम्भवतः ऋ० द० कृत 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तक की ओर सकेत है। द्र. पं. लेखरामकृत जीवनचरित, हिन्दी सं० पृष्ठ ८२७।

५. यह सारांश पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी संस्करण पृष्ठ ८२७

[पूर्ण संख्या ३७] पत्र-सारांश

मैं बम्बई आर्यसमाज में हर पक्ष में जाकर विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देता हूं।[1]

गोपालराव हरि देशमुख

—:o:—

[पूर्ण संख्या ३८] पत्र-सारांश

वेदभाष्य के हिन्दी के प्रूफ कौन शोधेगा? डा लाजरस से वेदभाष्य की छपाई का कितनी अवधि के लिये निश्चय हुआ है।[2]

३० नवम्बर १८७७ गोपालराव हरि देशमुख

—:o:—

[पूर्ण संख्या ३९] पत्र-सूचना

[महाराजा जम्मू की चिट्ठी][3]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ४०] पत्र-सारांश

श्रीमान् यहां पधारें।[4]

विशनदास

—;o:—

पर मुद्रित है। इस के उत्तर में लिखे ऋ० द० के पत्र का सारांश ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पूर्ण संख्या ४२५ (पृष्ठ ४५७) पर देखें।

१. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के २८ नवम्बर १८७७ के पूर्ण संख्या ११६ (पृष्ठ १५९-१६०) के पत्र के अन्तिम भाग में संगृहीत किया है।

२. यह पत्र-सारांश और पत्र की तिथि का उल्लेख ऋ० द० के ६ दिसम्बर १८७७ के पूर्ण संख्या ११८ (पृष्ठ १६२-१६३) के पत्र मिलता है।

३. इस चिट्ठी का उल्लेख पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ३८६ पर मिलता है। यह ऋ० द० को रावलपिण्डी में प्राप्त हुई थी।

४. यह पत्र सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ३९६ पर उद्धृत है। यहां 'मैंने पत्र द्वारा रावलपिण्डी में सम्भवत: सन् १८७८ के

[पूर्ण संख्या ४१] पत्र-सारांश

वेदभाष्य के········रु० ३१ के लिए·········२४ पृष्ठ के········ कागज का मूल्य भी सम्मिलित है········वेदभाष्य को ठेके पर देने में कोई आपत्ति तो नहीं है? श्यामजी कृष्णवर्मा वेदभाष्य के मुद्रण वितरण की व्यवस्था कर सकते हैं।[1]

६ दिसम्बर १८७७ गोपालराव हरि देशमुख

—:०:—

[पूर्ण संख्या ४२] पत्र-सारांश

ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य के दो-दो अङ्क प्रतिमास भेजें। सन्ध्योपासना[2] की कुछ प्रतियां भेजिये। सत्यार्थप्रकाश का दूसरा भाग[3] छपा या नहीं? पंजाब में कितने ठिकानों पर आर्यसमाज बन गया है आदि।[4]

पौष कृष्ण [सं० १९३४] (=१६ दिस० १८७७) कालूराम शर्मा

आरम्भ में ·····प्रार्थना की थी' लिखा।' यहां 'सन् १८७७ के अन्त में' पाठ होना चाहिये। ऋ० य० रावलपिण्डी में ८ नवम्बर से २६ दिसम्बर १८७७ तक रहे थे।

१. यह खण्डित सारांश ऋ० द० के १२ दिसम्बर १८७७ के पत्र में मिलता है। तारीख का निर्देश भी उसी पत्र में है। द्रष्टव्य ऋ० द० का पत्र व्यवहार और विज्ञापन भाग १ पूर्ण संख्या१२० पृष्ठ ११६-११७।

२. 'सन्ध्योपासना' से यहां सं० १९३४ में काशी के लाजरस प्रेस में छपी पञ्चमहायज्ञविधि की ओर संकेत है।

३. यहां दूसरे भाग से अभिप्राय सम्भवत: १२वें समुल्लास तक छपे हुए अंश से आगे १३-१४ समुल्लासों से है। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जनता कि अधिक मांग को ध्यान में रखकर ऋ० द० ने १२० पृष्ठ तक का अंश पृथक् रूप से प्रकाशित कर दिया था। द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ६९, पं० २-३ तथा पृष्ठ ७०, पं० २।

४. यह सारांश ऋ० द० के पौष सुदि ५ सं० १९३४ के पूर्ण संख्या १२६ पृष्ठ १७४ से संगृहीत किया है। तिथि का निर्देश भी इसी पत्र में है।

पूर्ण संख्या ४३] पत्र-सूचना

.... ।

२२ दिसम्बर १८७७[1] रामाधार वाजपेयी(लखनऊ)

—:o:—

[पूर्ण संख्या ४४] पत्र-सारांश

आपके २७ दिसम्बर १८७७ के पत्र के अनुसार डाक टिकट न भेजकर १० रु० का करेन्सी नोट भेज रहा हूं। उसे स्वीकार करें।[2]

३ जनवरी १८७८ रामाधार वाजपेयी

—:•:—

[पूर्ण संख्या ४५] पत्र-सारांश

प्रचलित वर्ष के लिए वेदभाष्य का क्या चन्दा होगा। आप लखनऊ कब आवेंगे?[3]

६ जनवरी १८७८ रामाधार वाजपेयी

—:o:—

[पूर्ण संख्या ४६] पत्र-सारांश

वेदभाष्य का उर्दू और अंग्रेजी में अनुवाद किया जाये तो अच्छा प्रचार होगा।[4]

बम्बई बी० एच० चिन्तामणि

—:o:—

१. इस तिथि को लिखे गये रामाधार वाजपेयी के पत्र का निर्देश ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या १२२, पृष्ठ १६६ में मिलता है।

२. ऋ० द० का यह पत्र 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या १२५ (पृष्ठ १७३) पर छपा है।

३. इस पत्र-सारांश तथा तिथि का संकेत ऋ० द० के १४ जनवरी १८७७ के पूर्ण संख्या १२८ (पृष्ठ १७५) के पत्र में मिलता है।

४. इस पत्र सारांश की सूचना ऋ० द० के १६ जनवरी १८७८ के पूर्ण संख्या १२६ (पृष्ठ १७७) के पत्र से मिलती है।

[पूर्ण संख्या ४७] **पत्र-सारांश**

बम्बई की ··········दुकान से १६ रुपया प्रतिरिम कागज मिल सकेगा। कागज का नमूना भिजवाता हूं।[1]

श्यामजी कृष्ण वर्मा

—:o:—

[पूर्ण संख्या ४८] **पत्र-सारांश**

यहां (=वजीराबाद) पर पधार कर कुछ दिन निवास कीजिये और उपदेश दीजिये।[2]

शहजादानन्द[3]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ४९] **पत्र-सारांश**

आप हमारे यहां कब आवेंगे? मेरी अपने देशवासी भाइयों को उन्नति के लिये यत्न करने की इच्छा है[4]

माधोलाल

—:o:—

---

१. इस पत्र-सारांश का उल्लेख ऋ० द० के १६ जनवरी १८७८ के पूर्ण संख्या १२९ (पृष्ठ १७७) के पत्र में मिलता है।

२ यह पत्र सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ३९८ पर उद्धृत है। पं० शहजादानन्द (लाहौर वाले) के कथनानुसार पत्र गुजरात (पंजाब) भेजा गया था। ऋ० द० गुजरात में १३ जनवरी से २ फरवरी १८७८ तक रहे थे।

३. पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ३९८, पं० २६ में 'पं० सहजानन्द जी लाहौर निवासी' लिखा है। इसके पश्चात् इसी पृष्ठ की पं० ३१ में 'स्वामी सहजानन्द' नाम का उल्लेख किया है। पं० देवेन्द्रनाथ संकलित जीवनचरित भाग २, पृष्ठ ४६२ पं० ६ में पं० शहजादानन्द (लाहौर निवासी) शुद्ध नाम मिलता है। ऋ० द० ने स्वामी सहजानन्द को संन्यासधारण कराने की सूचना ६ मार्च १८८३ के पूर्ण संख्या ७६७ (भाग २, पृष्ठ ७९९) के पत्र में दी थी। अतः यहां 'स्वामी सहजानन्द' लिखना भूल है।

४. इस पत्र-सारांश का निर्देश ऋ० द० के २८ जनवरी १८७८ के पूर्ण

[पूर्ण संख्या ५०] पत्र-सारांश

मुलतान में बुलाने के लिये।[1]

मुलतान जसवन्तराय

—:•:—

[पूर्ण संख्या ५१] पत्र

No. 71, Broadway, New York;
18th February 1878

To the Most Honourable Pandit Dayanand Saraswati, India.

Venerated Teacher—A number of American and other students who earnestly seek after spiritual knowledge, place themselves at your feet and pray you to enlighten them. They are of various professions and cillings, of several different countries, but all united in the one object of gaining wisdom and becoming better. For this purpose they, three years ago organized themselves into a body called the Theosophical Society. Finding in Christianity nothing that satisfied either their reasion or their intuition, seeing on every side the evil effects of its pernicious doctrines, finding priests who were hyprocrites, rapacious and sensual; and worshippers who lived false and unclean lives, beholding crime

---

संख्या १३१ (पृष्ठ १८०) के पत्र में मिलता है।

'दानापुर में ऋ० दयानन्द का पदार्पण और प्रभाव' पुस्तक में पृष्ठ १८ पर इस पत्र का आशय इस प्रकार लिखा है—

"हम लोग शक्तिभर समाज-सुधार और देश-कल्याण का कार्य कर रहे हैं। आपके पुनीत दर्शनों के लिये हम उत्सुक हैं।"

१. इस पत्राशय की सूचना ऋ० द० के ६ फरवरी १८७८ के पूर्ण संख्या १३४ (पृष्ठ १८२) के पत्र से मिलती है।

conceald an dcondoned, ard virtue and wisdom put aside,as obnoxious to existing conditions of society in Christendom, they stood apart from the world turned to the east for light, and openly proclaimed themselves the foes of Christianity. The boldness of their conduct naturally drew upon them public attention and reprobation of all influential organs and persons whose worldly interests or private prejudices were linked with the established order.

We have been called atheists. infidels and, pagans . Eighteen months ago in this great city of over a million Christians, we burried one of our number with "pagan" rites, employing the symbols of fire, lights, the ancient Tan entwined with the serpent and others. Six months later we took the corpse from its temporary testing place. and reduced it to ashes by burning according to the customs of the race.

We need the assistance not only of the young and the enthusiastic, but also of the wise and the venerated. For this reason we come to your feet as children to a parent, and say "Look at us, our teacher; tell us what me ought to do Give us your counsel and your aid." Here are some hundreds of millions who are shut out from the light of the spirit, and grovelling in the lust and darkness of matter. Not content with being misled, bigoted, and unhappy themselves they expend their wealth, their active intelligence and their quenchless energies in carrying on a crusade throughout the east against the ancient religious philosophies and persuading the ignorant masses to embrace their false

theological system. Our society through its members has access to the press. We would spread throughout Christendom a correct idea of Eastern thoughts, and throughout "heathen" and "pagan" lands expose the practical effects of the religion offered to their acceptance by lying missonaries. Orientalists. so called, who acqnire Sanskrit and other old languages, forge and mutilate the Vedas and other sacred books in translating them. We wish to print and circulate correct translations made by learned Pandits with their own commentaries upon the text.

Will you honour us by accepting the society's diploma of "Corresponding Fellow." Your countenance and favour will immensely strengthen us. We place ourselves under your instruction. Perhaps we may directly and indirectly aid you to hasten the accomplishment of the holy mission, in which you are now engaged; for our battle-field extends to India; – from the Himalayas to Cape Comorin there is work that we can do.

You venerable man, who have learned to pierce the disguises and masks of your fellow-creatures, look into our hearts, and see that we speak the truth. See that we approach you not in pride but humility, that we are prepared to receive your counsel and do our duty as it may be shown to us.

If you will write us a letter, you will know just what we wish to know, and will give us what we need.

In behalf of the society, I subscribe myself, venerable sir, with great respect,

(Sn.) Henry S. Olcott.
President of the Theosophical Society.

[भावार्थ]

ब्राडवे नं० ७१, न्यूयार्क
अमरीका
[१८ फरवरी १८७८

सेवा में[1]—

अत्यन्त माननीय पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज (आर्य्यावर्त),

स्वामी जी महाराज ! अमरीका के तथा दूसरे-दूसरे स्थानों के कुछ विद्यार्थी—आत्मिक ज्ञान के ग्रहण की जिनकी हार्दिक अभिलाषा है—अपने आपको आपके चरणों में रखकर यह प्रार्थना करते हैं कि आप उन के मन में ज्ञान का प्रकाश प्रदान करें। वे बहुत से विभिन्न देशों और विभिन्न नौकरियों तथा व्यवसायों के करने वाले मनुष्य हैं; परन्तु सभी इस बात पर सहमत हैं कि हमारा उद्देश्य बुद्धिमान् बनना और श्रेष्ठ कहलाना है। तीन वर्ष हुए कि उन्होंने अपनी एक संस्था बनायी थी और नाम "थियोसोफिकल सोसायटी" अर्थात् 'ईश्वर के अन्वेषकों की सभा' रखा। चूंकि उन्होंने ईसाईमत में कोई ऐसी बात न देखी कि जो उनकी बुद्धि अथवा उनकी निसर्ग प्रवृत्ति को सन्तोष दे और सब ओर उसके बिगाड़ने वाले सिद्धान्तों के बुरे प्रभाव देखे और ऐसे लोग पाये जो कि दिखावटी बातों के उपासक, घाऊ घप्प और प्राणनाशक हैं और ऐसे उपासना करने वाले देखे कि बुरा और अपवित्र जीवन व्यतीत करते हैं और देखा कि पापों को छिपाते हैं और क्षमा कर देते हैं और भलाई और बुद्धिमत्ता को पृथक् रख देते

---

१. यह भाषानुवाद प० लेखरामकृत जीवन चरित हिन्दी स० पृष्ठ ८५७-८५९ से लिया है। मूल पत्र अंग्रेजी में छपा है। इस पत्र का जो उत्तर ऋ० द० ने दिया था, वह 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' के पूर्ण संख्या १५१, पृष्ठ १९२ पर छपा है।

हैं और चूंकि ये सब बातें वर्तमान परिस्थिति में, सर्वसाधारण जनता के लिए, ईसाई देशों में हानिकारक हैं इसलिए हम उनकी टोली से पृथक् हो गये हैं और ज्ञान के प्रकाश के लिए पूर्व की ओर मुड़ते हैं और हमने अपने आपको ईसाई मत का प्रकट शत्रु प्रसिद्ध किया है। हमारे इस आचरण के साहस से जनता का ध्यान स्वयमेव हमारी ओर आकृष्ट हुआ और समस्त अधिकारी, कार्यकर्ता, समाचारपत्र और वह लोग जिनके सांसारिक स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत पक्षपात, मजहब आदि की नियत कार्यवाही से मिले हुए हैं, हमारी निन्दा करते हैं और हमें धर्महीन, काफिर और गंवार कहते हैं। अठारह मास व्यतीत हुए, दस लाख से अधिक ईसाई-आबादी वाले इस बड़े नगर में हमने अपनी संस्था के व्यक्ति को उन गंवारी प्रथाओं-सहित दफन किया (पृथिवी में गाड़ा) और अग्नि, प्रकाश तथा बिरानी छाल(जो कि सांप के साथ गयी थी) के चिह्नों का अन्य चिह्नों के साथ-साथ प्रयोग किया। ६ महीने के पश्चात् हमने शव को उसके स्थायी विश्राम करने के स्थान से निकाल कर उसको, अपनी आर्यजाति के पूर्वजों की प्रथा के अनुसार जलाकर भस्म कर दिया। हम केवल नवयुवक और उत्साही पुरुषों की ही सहायता नहीं चाहते प्रत्युत उन की भी सहायता चाहते हैं जो बुद्धिमान् और स्वामी हैं। इसलिये हम आपके चरणों में सिर झुकाते हैं जैसे कि बच्चे माता-पिता के चरणों में पड़ते हैं और कहते हैं कि 'हे हमारे गुरु ! हमारी ओर देख और हमको बतला कि हम क्या करें ?' हमको अपनी शिक्षा और सहायता दे। यहां लाखों मनुष्य हैं जो आत्मिक प्रकाश से वञ्चित हैं और विषयभोग की इच्छाओं और नास्तिकमत के अन्धकार में पड़े हुए हैं और वह पथभ्रष्ट, पक्षपाती और अशान्त रहने पर ही सन्तुष्ट नहीं हैं प्रत्युत अपने धन, अपनी तीव्र बुद्धि और न कम होने वाले जोश को पूर्व की प्राचीन धार्मिक विद्याओं और फिलासफी से धार्मिक युद्ध जारी रखने तथा विद्याहीन मनुष्यों को अपना मिथ्या ईश्वरीय मार्ग स्वीकार कराने में व्यय करते हैं। हमारी संस्था के समाचारदाताओं की पहुंच केवल समाचारपत्रों तक है। हम चाहते हैं कि समस्त ईसाई देशों में पूर्वीय विचारों के वास्तविक-स्वरूप का प्रचार करें और उन जातियों में जिनको कि ईसाई मूर्तिपूजक और गंवार कहते हैं—उस मत का वास्तविक स्वरूप जिसको झूठे पादरी उनके स्वीकार करने

के लिये उपस्थित करते हैं—प्रकट कर दें। जिनको कि पूर्वी मनुष्य कहते हैं और जो संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करते है वह वेदों और अन्य पवित्र पुस्तकों का भाष्य करने में काट-छांट और जालसाजी करते हैं। हमारा अभिप्राय यह है कि हम ठीक अनुवाद जिसको कि विद्वान् पण्डित करें उनकी व्याख्याओं सहित छपवा कर प्रकाशित कर दें। यदि आप इस संस्था के डिप्लोमा अर्थात् धर्मपत्र लेखक (Epistolary correspondant)—सदस्य के प्रमाणपत्र को स्वीकार कर लें तो हम अत्यन्त सम्मानित और कृतार्थ होंगे। आपकी कृपा और सहायता से हमको बड़ा लाभ होगा। हम अपने आपको आपकी शिक्षा के आधीन रखते हैं। कदाचित् हम सीधे रूप में और प्रकार से आपको उस पवित्र काम के पूरा करने में—जिसमें कि आप अब संलग्न हैं—सहायता दें क्योंकि हमारा युद्ध क्षेत्र (कार्यक्षेत्र) भारतवर्ष तक है। हिमालय दे लेकर रासकुमारी तक ऐसा काम है जिसको कि हम कर सकते हैं। स्वामीजी ! आप अपने समान प्रकार वालों के वेश और वहिरूप से हमारे हृदयों को भली-भांति जानते हैं और हमारे हृदयों की ओर ध्यान दीजिये और देखिये कि हम सत्य कहते हैं। विचार कीजिये कि हम आपके पास नम्रता से, न कि अभिमान से आते हैं और सच जानिये कि हम आपकी शिक्षा मानने के लिये और उस कर्त्तव्य का पालन करने के लिये जो आप हमको बतलावें, उद्यत हैं। यदि हम आपको पत्र लिखें तो आप जान जायेंगे कि ठीक-ठीक हम क्या जानना चाहते हैं और वह वस्तु जिसकी हमको आवश्यकता है, हमको देंगे। हे सम्मानित सज्जन ! संस्था की ओर सै मैं अपने आप को बड़ी नम्रता के साथ 'ईश्वर के अन्वेषकों की सभा' का सभापति हैनरी ऐस० अलकाट लिखता हूं।

—:o:—

[पूर्ण संख्या ५२] पत्र-सूचना

[पं० जस्साराम कहरोड़ निवासी का पत्र][1]

—:o:—

१. इस पत्र की सूचना पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी संस्करण पृष्ठ ४१३ पर मुलतान वर्णन-प्रसङ्ग में मिलती है।

[पूर्ण संख्या ५३] पत्र[1]

ओं नमो ब्रह्मणे[2]

लुप्तान् काल वशात् कलौ शुभकरान्धर्मांस्तु वेदोदितान्
व्यत्यासप्रमितेः सदर्थविततेश्चाबोधतो भूतले ।।
भूयोपि प्रकटय्य लोकमखिलं दुःखाम्बुधेस्तारयन्
व्यासोनूतन आविरास तु दयानन्दः सरस्वत्यसौ ।।१।।

सोऽयं गीष्पतिवद्वदावदमणिः क्षेत्रेषु काश्यादिषु
प्रापन् धर्मपथं गदन् कुधिषणान् वादोद्यतान् कुण्ठयन् ।
आहूतः सकलागमार्थविदुषा धर्मात्मना सादरम्
ख्यातेऽस्मिन्नजमेरनामनगरे श्रीभाग्यरामेण[3] वै ।।२।।

अत्युद्दण्डशिरःसहस्रविपुलक्षोणीधरक्षोभित-
क्षीराब्धिप्रसरत्प्रचण्डलहरीसोहार्दसंपद्वहाम् ।
यस्मिन् सूक्तिसुधां प्रवर्षति भवाघैश्चोग्रसूर्यांशुभिः
संतप्ता मुदिता सभास्थजनता तापं समस्तं जहौ ।।३।।

भद्र श्रीपङ्कलेपो वितरति न तथा मन्दमानन्दमन्ता
राका संपूर्णजैवातृककरनिकरो नानिलो दाक्षिणात्यः ।
उद्यानं वा ऽनवद्यं न च नमुचिभिदो नैव साक्षात्सुधा
वा वेदार्थ भासयन्ती भवगदमथनीयस्य वाणी यथालम् ।।४।।

आधिव्याधिजरादिदुस्तरभवाम्भोधौ प्लवो यो दृढो
निस्ताराय समस्तमानवकुलस्यालस्यलेशोज्झितः ।
वर्षन् सूक्तरसं विधिः स्वयमिव श्रेयो वितन्वन् हरन्
सर्वाघं कृपया हरस्य जयतादाचन्द्रमार्त्तण्डभम् ।।५।।

केरलीय शंकरशास्त्रिणा निर्मितं[3] पद्यपञ्चकम्,
परिस्कृत यमुनाशंकर शर्म्मणा
प्रशस्तिः

---

१. यह पत्र मुंशीराम सम्पा० ऋ० द० का पत्र व्यवहार, भाग १, पृष्ठ ४४०-४४२ पर छपा है।

२. इस पत्र पर कोई तिथि नहीं है। यह पत्र सम्भवतः ५-२३ मई १८७८ के मध्य लिखा गया है।

३. यहां वेदार्थ जानने वाले भाग्यराम द्वारा अजमेर बुलाने का उल्लेख

(१) कलि में, कालवश, मति के उलटा होने तथा अज्ञान के कारण, भूतल में लुप्त वेद में कहे हुवे, कल्याणकारी धर्मों को, अच्छे अर्थों को फैलाने के लिए फिर से प्रकट कर के, सारे लोक को दुःख-सागर से पार उतारता हुवा क्या यह (दयानन्द सरस्वती) व्यास उत्पन्न हो गया है ?

(२) सो काश्यादि क्षेत्रों में जाकर बृहस्पति की तरह, धर्ममार्ग को कहते हुवे, और वाद में डटे हुवे मूर्खों को पराजित करते हुवे इस वदावदमणि(वाद करने वालों में श्रेष्ठ)को, इस प्रसिद्ध अजमेर नगर में, सारे वेदार्थ जानने वाले धर्मात्मा श्री भाग्यराम ने बुलाया।

(३) जिस समय इन(स्वामी जी ने) बड़ी-बड़ी चोटी वाले पर्वत से क्षुब्ध दुग्ध सागर के जल तरङ्गों की तरह निर्मल सूक्ति सुधा को बरसाया; उस समय संसाररूपी तेज सूर्य से जले हुवे सभा के लोग प्रसन्न होकर सारे ताप को भूल गये।

(४)वेदार्थों को वर्णित करनेवाली, संसार के रोगों को नष्ट करने वाली इस की (स्वामी जी की) वाणी जैसा आनन्द देती है वैसा न तो चन्दन का लेप न पूर्णिमा के चांद की किरणें, न दक्षिण की वायु, न इन्द्र का सुन्दर बाग और नाही साक्षात् सुधा वैसा आनन्द देती है।

(५) आधि व्याधि जरादि रूपी दुस्तर समुद्र में नांव की तरह दृढ़, आलस्य को छोड़ कर सारी मनुष्य जाति के उद्धार के लिये स्वयं ब्रह्मा की तरह सूक्ति रस को बरसा कर कल्याण को करने वाला, और पापों को हरने वाला, यह(स्वामी दयानन्द) जब तक सूर्य्य चांद का प्रकाश है तब तक परमात्मा की कृपा से विजयी हो।

केरलीय शङ्कर शास्त्रि के बनाए हुवे पांच श्लोक, यमुनाशङ्कर ने परिस्कृत (?) किये।

—:०:—

[पूर्ण संख्या ५४] तार-सूचना

[मुलतान आने के लिये][1]

है। ये भाग्यराम सम्भवत: पं० भागराम जज प्रतीत होते हैं। ये स्वामीजी महाराज के प्रति अति श्रद्धावान् थे। देखो पं० देवेन्द्रनाथ सं० जी० च० भाग २ पृष्ठ २६८॥

१. इस तार की सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ

[पूर्ण संख्या ५५] पत्र-सारांश

सत्यार्थ प्रकाश; संस्कारविधि, आर्याभिविनय, सन्ध्योपासन, आर्योद्देश्यरत्नमाला, मेला चांदापुर प्रश्नोत्तर हलधर पुस्तकें भेजिये। डाक व्यय सहित मूल्य लिखिये। हमने अपनी 'हिन्दु सत्सभा' का नाम 'आर्य समाज' रखा है।'

७ अप्रेल १८७८ माधोलाल

—:o:—

[पूर्ण संख्या ५६] पत्र

May 21st 1878

My Dear Sir and Brother—As I am about to leave the city of New York to take a needed rest at the sea-shore, with no probability of my returning before I sail for Europe and India (whether I will stop in London one month or one year **fate** alone knows) I have concluded to send a portion of my books direct to Bombay to await my coming (some 250 volumes and as many unbound books), The President adds some of his. If any accident should prevent my coming there in person, you will please

---

४०५ पर मिलती है। जीवनचरित के अनुसार यह तार सम्भवत: लाहौर भेजा गया था। इस बार ऋ० द० लाहौर में ३ मार्च से १२ मार्च १८७७ तक रहे थे।

१. यह पत्र-सारांश तथा तिथि ऋ० द० के १२ अप्रैल १८७८ के पूर्ण संख्या १४६, (पृष्ठ १६०) के पत्र में निर्दिष्ट है।

दानापुर में ऋ० द० का पदार्पण और प्रभाव पुस्तक में (पृष्ठ १८) ७ अप्रेल १८७८ के माधोलाल के पत्र का आशय इस प्रकार लिखा है—

"हिन्दू-सत्सभा हिन्दू-समाज की प्रचलित बुराइयों को दूर कर उन सच्चाइयों का प्रचार करना चाहती है जिसे आप आर्यसमाज के द्वारा करना चाहते हैं। कृपया आप अपने समाज के नियमों और ईश्वर उपासना पद्धतियों से हमें अवगत करें।"

present them to any library of Arya samaj. By "accident" I mean **Death**; for nothing except death will prevent our coming to India in due season. I have decided, as soon as I am in the **Mother-Land**, to present the greater part of the volumes to such Samaj as you may designate; and I hope to bring a load more from England, and Olcott also).

(I hope you will not feel annoyed at my writing and bothering you so often, but I assure you I never breathe so easily as when I either write to, or receive letters from, India. It seems to me as if I was sending a portion of my heart and saul to the blessed **Mother-Land** every time).

(Sd.) H. P. Blavatsky[1]

[भाषार्थ]

न्यूयार्क[2]
२१ मई सन् १८७८—

"हे प्रिय भ्राता,

चूंकि मैं न्यूयार्क नगर से चलने को ही हूं, ताकि समुद्र पर इच्छित विश्राम पाऊं और यह सम्भव नहीं है कि मैं योरुप और आर्यावर्त को जाकर वापस आ जाऊं। मैं लन्दन में एक मास या एक वर्ष ठहरूंगी —यह ईश्वर को विदित है। इसलिये मैंने अपनी कुछ पुस्तकें बम्बई में भेजने का विचार कर लिया है। कोई ढाई सौ प्रतियां सजिल्द हैं और इतनी ही बिना जिल्द हैं। सभापति ने कुछ अपनी ओर से दी

---

१. यह भाषानुवाद पं० लेखरामकृत जीवनचरित, हिन्दी सं० पृष्ठ ८५९ से लिया है।

२. यद्यपि यह पत्र तथा अगले पत्र भी बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को सम्बोधन करके लिखे गये हैं, परन्तु इनका ऋषि दयानन्द के साथ सम्बन्ध होने से हम यहां छाप रहे हैं। इन पत्रों की प्राप्ति का निर्देश ऋषि दयानन्द ने पूर्ण सख्या १७६, के संस्कृत पत्र में किया है (द्र० पृष्ठ २१४, पं० १, २)। इसी कारण हम इन्हें यहां छाप रहे हैं।

हैं। यदि मैं किसी संयोग से वहां स्वयं न आ सकी तो आप कृपा कर के आर्यसमाज के किसी पुस्तकालय को भेंट कर दीजिये। संयोग से मेरा अभिप्राय मृत्यु से है क्योंकि मृत्यु के अतिरिक्त और कोई चीज हमको आर्यावर्त में उचित समय पर पहुंचने से रोक नहीं सकती। मैंने यह निश्चय कर लिया है कि जब मैं अपनी जन्म-भूमि(आर्यावर्त्त) में पहुंचूंगी तो ऐसी बहुत सी पुस्तकें उस समाज को भेंट करूंगी जिस को आप बतलावेंगे। और मुझे आशा है कि मैं बहुत सी पुस्तकें उस इंगलस्तान से लाऊंगी, अलकाट साहब भी लावेंगे। मैं आशा करती हूं कि आप मेरे लिखने पर और इतना कष्ट देने पर अप्रसन्न न होंगे परन्तु में आपको विश्वास दिलाती हूं कि मैं इतनी प्रसन्नता का श्वास कभी नहीं लेती हूं जैसे कि इस समय। जबकि मैं आर्य्यावर्त को लिखती हूं या आर्य्यावर्त्त की चिट्ठियाँ मेरे पास आती हैं, मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं अपने मन और प्राणों का एक भाग शुभ जन्मभूमि (अर्थात् आर्य्यावर्त) को प्रत्येक समय भेज रही हूं।"

—(हस्ताक्षर) ऐच० पी० ब्लैवेटस्की।"

—:o:—

[पूर्ण संख्या ५७] पत्र

New York, 21st May 1878

Dear Brother,—I will add a few lines to our sister's letter to say that I have read its contents, and its several propositions have my unqualified approval. In suggesting that our society should make itself known as a branch of Arya Samaj subject to Pandit Dayanand's control and myself. I am proud to acknowledge fealty to such an instructor and guide as that wise and holy man.

There is much work to be done by us before we can expect very great results.

As you say, let us work together in hearty co-operation and we will be able to effect wonders.

Believe me every yours fraternally,

(Sd.) H. C. Olcott.

To

Brother Harry Chand Chintamani.

[भाषार्थ]

न्यूयार्क[1],
२१ मई सन् १८७८—

मेरे प्रिय भ्राता,

मैं अपनी बहन की चिट्ठी में कुछ पंक्तियां अपनी ओर से अधिक करके सूचना देता हूं कि मैंने चिट्ठी के लेख को पढ़ा और उसके उचित विभिन्न सुझावों को मैं भली-भांति पसन्द करता हूं। इस बात के सुझाते समय कि हमारी सोसायटी आपके आर्यसमाज की एक शाखा के रूप में प्रसिद्ध हो जावे और पण्डित दयानन्द सरस्वती के और मेरी आज्ञाओं के आधीन रहे। ऐसे गुरु और पथप्रदर्शक के प्रति जैसे कि वह बुद्धिमान् और पवित्र मनुष्य हैं—सेवकभाव प्रकट करता हूं। हमको बहुत बहुत कुछ कराना है इससे पहले कि हम बड़े-बड़े परिणामों की आशा करें और इस प्रकार हम बड़ी-बड़ी बातों का चमत्कार दिखला सकेंगे। आप मुझको अपना भाई समझें।"

(हस्ताक्षर) ऐच० सी, अलकाट।

सेवा में,

भ्राता हरिश्चन्द्र चिन्तामणि

—:o:—

[पूर्ण संख्या ५८] पत्र

The Theosophical Society,
New york, May 22nd 1878

To The Chiefs of the Arya Samaj.

Honoured sirs,—You are respectfully informed that at a meeting of the Council of the Theosophical Society, held at New York on the 22nd of May 1878, the President in the chair, upon motion of Vice-President A. Wilder, seconded by the Carresponding Secretary **H. P.** Blavatsky,

---

१. यह भाषानुवाद पं० लेखरामकृत जीवन चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ८५९ से लिया है।

it was unanimously resolved that the society accept the proposal of the Arya Samaj to unite with itself, and that the title of this society be changed to "The Theosophical Society of the Arya Samaj of India."

Resolved, that the Teosophical Society, for itself and branches in America, Europe and elsewhere, hereby recognize Swami Dayanand Saraswati, Pandit, Founder of the Arya samaj, as its lawful Director and Chief.

Awaiting the signification of your approval and any instructions that you may be pleased to give,

I am, honoured sirs, by order of the Council,

Respectfully yours,

(Sd.) Augustus Gustam,
Recording Secretary.

[भावार्थ]

ईश्वर-परिचायक समाज, न्यूयार्क[1]
२२ मई १८७८

सेवा में, श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा,
आर्यसमाज के नेताओं के नाम!

माननीय सज्जन वृन्द! मैं आपको आदर के साथ सूचना देता हूं कि ईश्वर-परिचायक समाज[2] के अधिवेशन में जो कि न्यूयार्क में २२ मई सन् १८७८ को सभापति ने ई० वल्डर साहब उपसभापति की प्रेरणा और पत्रव्यवहार की कार्यकर्त्री ऐच० पी ब्लैवेटस्की के समर्थन से सहमत होकर यह प्रस्ताव किया है कि सभा आर्यसमाज के उस सुझाव को कि उसके साथ मिल जायें और उस सभा का नाम "ईश्वर-परिचायक सभा आर्यसमाज-आर्यावर्त" हो जाये–स्वीकार करती है। यह भी निश्चय हुआ कि ईश्वर-परिचायक सभा अपनी और अपनी शाखाओं अमरीका, योरुप तथा अन्य स्थानों के लिये स्वामी दयानन्द

---

१. यह भाषानुवाद पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ८६० से लिया है।
२. अर्थात् थियोसोफिकल सोसाइटी।

सरस्वती पंडित को आर्यसमाज और उसका प्रवर्तक पथप्रदर्शक तथा नेता मानती है। आपकी स्वीकृति और शिक्षाओं का जो कि आप कृपा करके दें, मैं प्रतीक्षक हूं।"

हस्ताक्षर अगस्टस् गस्टम् रिकार्डिंग सेक्रेटरी।

—:o:—

[पूर्ण संख्या ५६]　　　　पत्र

New York, May 23rd 1878.

Harry Chand Chintamani, Esq.

Dear Brother—Your letter of the 21st ultimo seeming to indicate that we need not delay until receipt of your answer to my enquiry about the affiliation of the Theosophical Society with the Arya Samaj, a meeting of the council was called yesterday, and a quorum being present, it was unanimously agreed to accept your proposition for an amalgamation with change of title. The necessary official certificate is herein enclosed, with the request that you will farward it to its destination. I also send you a rough draft of the new form of Diploma (vide page 3) we propose to adopt, unless you have something better to offer.

We think it best to have the new form lithographed or engraved to save the trouble of writing each one, and as the Venerated Chief of the Arya Samaj is too far off for us to submit each Diploma for his countersignature, we respectfully request him to sign his name in the place indicated, in Sanskrit or other vernacular-tongue as is his custom, so that we may have the signature lithographed or engra-

ved with the rest of the Diploma. If he uses a seal for himself or the Arya Samaj, will he kindly affix it, and we will have that also engraved. We intend to send one of the new Diplomas to each of our fellows throghout the world to replace the old one he has.

I rejoice to find my associates in the Theosophical Society so perfectly in accord with my own views respecting this amalgamation, especially professor Wilder, out learned and excellent First Vice-President, whom you would surely esteem very highly. did you but know him.

Ever fraternally yours,
(Sd.) Henry S. Olcott, President.

[भाषार्थ]

न्यूयार्क[1],
२३ मई १८७८।

सेवा में, श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि !

प्रिय भ्राता, आपकी चिट्ठी पिछले मास की २१ तारीख को लिखी हुई आयी, जिसका आशय यह प्रतीत होता है कि हम आपके उत्तर के प्रतीक्षक न रहें कि आप हमारी ईश्वर परिच्चायक समाज का अपने आर्यसमाज की शाखा हो जाना पसन्द करते हैं या नहीं। सभा की कल एक बैठक हुई और चूंकि बहुत से सदस्य उपस्थित थे इस लिए सर्वसम्मति से यह निश्चय हुआ कि दोनों सभाओं के मिल जाने और उस सभा का नाम बदल जाने का आपका सुझाव स्वीकार किया जाये। नियमानुसार आवश्यक प्रमाणपत्र इस पत्र के साथ भेजा जाता है और आपसे प्रार्थना की जाती है कि आप उसको अभीष्ट स्थान पर पहुंचा दें। मैं एक रूपरेखा नये प्रकार के डिप्लोमा की जिसको हम प्रचलित करना चाहते हैं (परन्तु इस शर्त पर कि आप

१. यह भाषानुवाद पं० लेखरामकृत जीवनचरित, हिन्दी सं० पृष्ठ ८६० -८६१ से लिया है।

कोई अच्छा सुझाव न निकालें)भेजता हूं। इस नये प्रकार के डिप्लोमा का छपवा देना इस अभिप्राय से कि देखने का कष्ट दूर हो जाए—उचित समझता हूं और चूंकि आर्यसमाज का प्रतिष्ठित नेता हमसे इतनी दूर है कि प्रत्येक डिप्लोमा को उस के हस्ताक्षरों के लिये नहीं भेज सकते इसलिये हम विनयपूर्वक यह प्रार्थना करते हैं कि वह विशेष स्थान पर संस्कृत या किसी और भाषा में जैसा कि उनका नियम है—हस्ताक्षर कर दें ताकि वह भी डिप्लोमा के साथ छप जावें। यदि वह अपनी या आर्यसमाज की मुहर प्रयुक्त करते हों तो कृपा कर के उस पर लगा दें और हम उसको भी छपवा लेंगे। हमारा यह निश्चय है कि संसार भर में अपने सदस्यों में प्रत्येक के पास नया डिप्लोमा भेजें कि उसको पुराने के स्थान पर रखें। मैं अपनी ईश्वर-परिचायक सभा के साथियों के इस बात पर सहमत होने से कि दोनों मिल जायें—अत्यन्त प्रसन्न हूं। विशेषकर प्रोफेसर वल्डर की स्वीकृति से जो कि हमारे विद्वान् और श्रेष्ठ उपसभापति हैं। यदि आप उन को जानते होते तो मुझे विश्वास है कि आप भी उनका बड़ा सम्मान करते'।

(हस्ताक्षर) ऐच० ऐस० अलकाट सभापति।

—:o:—

[पूर्ण संख्या ६०] पत्र

New York, May 29th 1878.

Dear Brother,—We have been made very happy today by the receipt of the benevolent reply of Swami Dayanand Saraswati to my official letter, We feel highly honored not alone by his acceptance of our Diploma, but also by the very kind phrases in which he communicates his decision to us.

I cannot tell you how glad I am to feel that we have established such close fraternal relation with the Arya Samaj Its answering hail comes across the seas to us like that of a rescuing party to the benighted traveller who finds himself in the depth of a

forest with wild beasts all around him. Eor where are there beasts more hostile than these Christians are towards Heathens and 'Infidels' like ourselves? With your hands clasped in ours, we feel strong enough to fear no odds that can be arrayed against us. My affectionate regards to—&c., &c.

Harry Chand Chintamani, Ecq.

Yours fraternally,
(Sd.) H. C. Olcott.

[भावार्थ]

न्यूयार्क,[1]
२६ मई १८७८.

प्रिय भ्राता, हम आज अपनी नियमानुसार भेजी हुई चिट्ठी के उत्तर में स्वामी दयानन्द सरस्वती का कृपा पत्र पाने से अत्यन्त प्रसन्न हुए। हमारा बड़ा सम्मान केवल इस बात से ही न हुआ कि उन्होंने हमारे डिप्लोमा को स्वीकार कर लिया प्रत्युत इस बात से भी हुआ कि उन्होंने अपनी सम्मति को हमारे पास कृपापूर्ण शब्दों में प्रकट करके भेजा। मैं आपसे भली प्रकार उस प्रसन्नता का जो कि हमारे और आर्यसमाज के मध्य भ्रातृत्व सम्बन्ध स्थापित होने से हुई—वर्णन नहीं कर सकता। जैसे कि पथिक को जंगल के बीचों बीच जहां कि वन्य पशु उसके चारों ओर हों—अपने बचाव वाले का शब्द सुनकर प्रसन्नता होती है वैसे ही आपकी बधाई का उत्तर समुद्रों से पार उतर कर हमारे पास आया क्योंकि इन ईसाईयों से बढ़कर जो हमें काफिर और मूर्तिपूजक कहते हैं—हमारे शत्रु और कौन पशु हैं। जब आपकी कृपा का हाथ हमारे ऊपर है तो हम शत्रुओं का तनिक भी भय नहीं करते। मेरा प्रणाम।

सेवा में, श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि!

(हस्ताक्षर) ऐच० ऐस० अलकाट।

—:o:—

---

१. यह भाषानुवाद प० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ८६१ से लिया है।

[पूर्ण संख्या ९१] **पत्र**

New York May 30th 1878.

Mr. Harry Chand Chintamani

Dear Brother.

A Diploma for each nominee would have been sent also, but for the fact that in case the revered Swami approves our chhnge of title and declares us affiliated with the Arya Samaj, new Diplomas would have to be sent to replace the old ones.

Hoping for a favourable response from our venerable and illustrious chief, in the matter of the amalgamation of the two societies,

I am, dear brother,
Ever sincerely yours,

(Sd.) H. C. Olcott, President, &c.

[भाषार्थ]

न्यूयार्क[1],
३० मई, १८७८

सेवा में, हरिश्चन्द्र चिन्तामणि

प्रिय भ्राता,

प्रत्येक सदस्य के पास नये डिप्लोमा भी भेज दिये जाते यदि प्रतिष्ठित स्वामीजी हमारे नामपरिवर्तन और आर्यसमाज के साथ हो जाने को पसन्द कर लेते। अब जब वह पसन्द कर लेंगे तो पुरानों के स्थान पर नये डिप्लोमा भेज दिये जावेंगे। मैं दोनों सभाओं के मिल जाने के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध नेता के उत्तर का प्रतीक्षक हूं।

(हस्ताक्षर) अल्काट, सभापति

—:o:—

१. यह भाषानुवाद पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ८६१ से लिया है।

[पूर्ण संख्या ६२] पत्र

No. 71, Broadway, New York,
5th June 1878.

To the Most Honourable Pandit Dayanand
Saraswati, Swami

Venerated Teacher,—The benignant letter which you have so kindly sent us by the intervention of our brother Harry Chand Chintamani of Bombay, has come safely to our hands. It affords all the fellows of the Theosophical Society and its officers great happiness to receive your blessing upon them and upon their labors, and your wishes for their health and prosperity. In return,it only needs that we should express our fervent hope that your stay upon earth may be prolonged until your beneficent mission is fully accomplished, and humanity prepared to listen to and avil of your wise counsels.

2. We perceive, O i venerable sir, in your definition of the nature and attributes of the All Good, that we humble students at the west have not misinterpreted the teachings of aur Aryan ancestors. The supreme one whom you teach your disciples to contemplate and lift their aspirations to, is the very same Etarnal Divine Essence whom we have been pointing these Christians to as the proper object of their adoration, instead of their own cruel, remorseless, and vacillating Moloch—Jehovah. But it is a hard task for us to teach others when we ourselves so sorely need instruction. We feel our unfitness more and more every day, and but for the conviction that he who has learnt even a very little of the truth, should not withhold it from his needier brother, we would feel disposed to withdraw ourselves completely from public view until we had a

sufficient time of acpuire the precious knowledge you have promised the you will impart to us.

3. I have duly forwarded to our brother Harry Chand Chintamani the resolution unanimously adopted by the council to affiliate the Theosophical Society with the Arya Samai, and to change its title accordingly, provided that our action is approved by you. Recognizing, as we do, the Aryan source of our race, and of its knowledge of things terrestrial and celestial we, theosophists, Will feel proud to be permitted to call ourselves your disciples, and to disseminate throghout the west a correct idea of the Arya Samaj and its doctrines. Permit us to give you the name of our Teacher, our Father, and Chief; and we will try to deserve by our actions so great a favour. In respect to the Vedic Philosophy, we are but as children, instruct us. What shall we tell the people ? How shall we tell it ? We await your orders and will obey.

4. Whatever your wisdom may consider necessary or advisable to do, or have done, we promise shall be done to the extent of our power. This is a sordid, a prejudiced, an unspiritual people; their religious worship appeals to the bodily senses—to fear, pride, covetousness, cowardice, malice; their temples or churches vie with each other in ostentation; crime and vice nestle securely beneath velvet and silken robes, and in the corners of the soft-cushioned pews; their priests and ministers temporize with moral delinquencies, and promise the blessings of eternal communion with God and the saints in heaven to such us pay liberally and profess loudly. But, nevertheless, there are many earnest thoughtful men and women in every city and town who would joyfully unite with the Arya Samaj, did they but know of its existence, and the truths it was born to promulgate, These

minds we must reach through the press, since we have no Swami or Pandits here to discourse from the platform, What comes within our poor abilities to do, we are ready and anxious to set about, when we shall receive your instructions. We pray you to give the same to us as speedily as the pressure of your many important engagements shall permite.

5. And will you not carry out to all the Samajes throghout Aryavarta the assurance that, away off at the other Side of the globe, there is a society of men and women who hold to the same religious philosophy, teach the same doctrines, rejoice in the sameviews of the future life, are moved by the same aspirations, as themselves; and along that cord of sympathy which stretches from hearts which beat in unison, send to their Aryan brothers a message of fraternal love and encouragement.

6- We ask you what are the rules of the Arya Samaj; how is its work conducted; who are eligible and, especially, who ineligible, for membership; what should be our policy towards the various religious sects, towards society at large, in this country and in Europe; what books, in any western language, can we recommend for perusal to inquirers as containing true ideas as to God; man—his origin, powers and destiny; and Nature; and how far should the rules enforced in India to modified or changed to meet the different conditions of western life ? It is especially important for us to know what to say "Modern spiritualists"—numbering some millions—about their phenomena, their cause and effects, the nature of mediumship, its benefits and perils. Living men seem ever to have been striving to tear aside the curtain that hangs over the edge of the tomd and the funeral pyre. The human heart seems ever

to have vearned after an assurance that the dead have not passed beyond the reach of their symphathies. The mother cannot give up her dead babe as gone for ever from her embraces, nor the wife her husband, nor the lover his mistress. This is the fierce and unquenchable longing upon which western modern spiritualism has grown so enormously, and from its advocates has come the bitterest opposition we have had to combat. The "mediums" or psycho-physiological sensitives, by the help of whose organisms and magnetic emanations the intelligences behind these multifarious phenomena have been corresponding by writing, speech, percussive sounds, apparitions and other means, with enquirers, are numbered by thousands. Millions believe that their very deceased relatives are talking with them, and making their materialized forms visible. We ask what shall be our course with these people and this movement? We must be specific, exact and convincing to satisfy them. I clearly infer from your letter—that part where you speak of the phenomena of giving life to a dead man, healing lepers, moving a mountain, and touching the moon "as betraying an irreligious spirit," and "sure to give rise to many misfortunes"—that you disapprove of "miracle" working you esteem it as much inferior to the study of philosophy and one's innate spiritual powers. This is wisdom, and we recognize it as such. But the masses here, like the masses everywhere, are averse to philosophy and hunger after marvels. Their understandings seem attainable only through their imagination and senses. The "mediums" show them marvels, and we vainly offer them the discussion of philosophy. Perhaps we have not used the best methods. A conviction that this may be so, brings us to your feet for instruction and guidance.

7. I think that much progress will have been made we can lay before the western public an unmutilated, lucid and interesting exposition of Vedic philosophy. One of the ablest editors of America, a fellow of our society, who publishes a newspaper with a circulation of 50,000 copies. says the most crying want of the time is an analysis of eastern rellgions, showing whence the Christian dogmas, tradition and ceremonies have been stolen, and how each more mordern faith in turn sprang from the Aryan. Another fellow, a Vernacular philologist, who is just bringing out a work upon the origin and destiny of the English language, complains that the Christian Bishop Heber mutilated the translation of the Zend Avesta, and begs me when I go to India, to send to western scholars clearer data about the origin and emigrations of peoples, and the birth of languages. There is, in fact, so very very much that the east can teach an ignorant but willing west, that I scarcely know howto restrain my pen from propounding to you more questions than you could fitly answer ever were you to devote half of your precious time to the task. But you are accompanied and surrounded by many learned Pandits and other Aryan scholars who, for the love of the Mother land and Mother faith may be willing to give us some valuable help. We are so far away from you, and letter-writing is so meagre and unsatisfactory a method of correspondence between teacher and scholars, that a few of us feel the absolute necessity of coming very soon to Aryavarta to study, and fit ourselves for missionary work among our own races. We think that we can learn as much there in two or three years as we could here in twenty, and but for the brevity of human life, which warns those of us who are in middle life and older, to lose no time if we

would do good, even twenty years is not too much to devote to self-instruction. But pending our departure from America, we most earnestly, though respectfully, ask you to give us the wished-for information above specified.

8. And now rendering our homage, and praying for your continued health and happiness, I, no behalf of my whole society, write myself, with your permission,

your humble disciple and follower,

(Sd.) Henry S. Olcott,

Presdt. of the Teosophical Society.

—:o:—

THE THEOSOPHICAL SOCIETY

OF THE

Arya Samaj of Arya-Varta

Admits ....to the number of its Fellows.

Testimony where of, it has issued to..................the Present Diploma. New york ....Eighteen hundred and,

The Theosophical Society
Founded MDCCCLXXV

.....................President.

Approved and countersigned for the Arya Sama .

....
....
.... } Vice-Presidents.

............Recording Secretary.

...........Corresponding Secretary.

—:o:—

[भाषार्थ]

ब्राडवे नं० ७१, न्यूयार्क[1]
५ जून १८७८

सेवा में अत्यन्त प्रतिष्ठित और प्रख्यात पंडित दयानन्द सरस्वती स्वामी।

हे प्रतिष्ठित गुरु, वह कृपापत्र जो आपने कृपा करके हमारे भाई हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के कहने से भेजा–हमारे पास सकुशल पहुंचा। आपने जो आशीर्वाद हमको और हमारे प्रयत्नों को दिया और आप की इस इच्छा से कि हम फूलें फलें और स्वस्थ रहें–ईश्वर परिचायक सभा के समस्त सदस्यों और उसके अधिकारियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। इसके बदले में यह आवश्यक है कि हम अपनी उत्साह से भरी हुई यह आशा प्रकट करें कि पृथिवी पर आपका निवास जब तक कि आपका शुभकार्य पूरा न हो जाये— रहे और मनुष्य जाति आपकी युक्तियुक्त शिक्षाओं को सुनने और उनसे लाभ उठाने के लिए उद्यत रहे।

२. हे प्रतिष्ठित महोदय ! सर्वकल्याणमय (परमेश्वर) की प्रकृति तथा उसके गुणों की जो परिभाषा आपने की है। उसको देख कर, पश्चिम के हम छात्रों को यह बात समझ में आ गयी है हमने अपने आर्य-पूर्वजों की शिक्षा का अभिप्राय ठीक ही समझा है। वह परम-पिता परमात्मा कि जिस का ध्यान व भरोसा करने के लिए तुम अपने शिष्यों को कहते हो वही एक शाश्वत पवित्रात्मा है कि जिसको हमने इन ईसाईयों को बतलाया है कि नृशंस, निर्दय और चंचल चित्त मोलोक (Molok) अर्थात् जेहोवा (Jehan) के स्थान पर, वही तुम्हारी उपासना की विशेष वस्तु है। परन्तु (हमारे लिए) औरों को बतलाना कठिन है जबकि हमको स्वयं ही सीखने की इतनी आवश्यकता है। दिन प्रतिदिन हमको अपनी अयोग्यता अधिक प्रतीत होती जाती है और यदि हमको इस बात की सत्यता का विश्वास न होता कि जिस मनुष्य ने तनिक भी सत्य सीखा है–- वह उसको अपने आवश्यकता रखने वाले भाई से छिपा न रखे तो हम सर्वथा जनता

१. यह भाषानुवाद पं० लेखरामकृत जीवन चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ८६१-८६५ से लिया है।

की दृष्टि से पृथक् रहनेंकी ओर आकृष्ट होते जब तक कि हम पर्याप्त समय—उस बहुमूल्य विद्या की प्राप्ति में जिसकी कि आपने प्रतिज्ञा की है कि हम तुमको सिखला देंगे— व्यय न कर देते।

३—मैंने उचित रूप से अपने भाई हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के पास प्रस्ताव भेज दिया जो कि इस सभा में सर्वसम्मति से पास हुआ अर्थात् यह सभा आर्यसमाज की शाखा हो जावे और उसका नाम उसी ढंग पर बदल जाये परन्तु शर्त यह है कि आप हमारी कार्यवाही को पसन्द करें। चूंकि हम जानते हैं कि हम लोग आर्यों की सन्तान हैं और हमारा लौकिक और पारलौकिक ज्ञान आर्यों के यहां से आया है। हम ईश्वर प्रेमियों को अपने ऊपर गर्व होगा यदि आप इस बात की आज्ञा दे दें कि हम अपने आपको आपका शिष्य बतलावें और पश्चिम में आर्यसमाज और उसके सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप का प्रचार करें। हमको आज्ञा दीजिये कि हम आपका नाम अपना गुरु, पिता और नेता धरें। हमें सिखलाइये कि हम लोगों से क्या कहें और उसका किस प्रकार वर्णन करें। हम आपकी आज्ञाओं के प्रतीक्षक हैं और उनका पालन करेंगे।

४—जो कुछ कि आपकी समझ में हमारे लिए करना या किये जाना आवश्यक या उचित प्रतीत हो—बताइये। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि यथाशक्ति किया जायेगा। यहां के मनुष्य नीच, पक्षपातपूर्ण और अज्ञानी हैं। उनकी मजहबी पूजा शारीरिक ऐन्द्रियिक भावों अर्थात् भय, अभिमान, लोभ, कायरता और द्वेष की ओर प्रवृत्त है। उनके मन्दिर और गिर्जा एक दूसरे से भड़क में बात करते हैं। पाप और बुराई मखमल और रेशमी वस्त्रों और कोमल तकियों के पलंग के कोनों में सुरक्षित बैठे हैं। उनके महन्त और पुजारी पापियों और असभ्य मनुष्यों के आधीन हैं और ऐसों को—जो बहुत देते हैं और बहुत कुछ प्रतिज्ञा करते हैं—स्वर्ग में ईश्वर और फरिश्तों के साथ सदा रहने का विश्वास दिलाते हैं। परन्तु फिर भी प्रत्येक नगर और ग्राम में बहुत से अभिलाषी और सोचसमझ के स्त्री पुरुष हैं जो कि प्रसन्नता से आर्यसमाज में सम्मिलित हो जाते यदि उनको उसके अस्तित्व का और उस सत्य का जो कि वह बतलाने के लिये उत्पन्न हुए हैं—ज्ञान होता। चूंकि यहां पर कोई स्वामी या पण्डित नहीं है जो मञ्च पर से उपदेश दे इसलिये ऐसे मनुष्यों के हृदयों पर हमको

चाहिये कि समाचार पत्रों के द्वारा प्रभाव डालें। जो कुछ कि हम अपनी तुच्छ योग्यता से कर सकते हैं—करने के लिये उद्यत और इच्छुक बैठे हैं जबकि आपकी आज्ञायें हमारे पास आवें। हम प्रार्थना करते हैं कि हमको वह आज्ञायें शीघ्र दीजिये—जितना शीघ्र कि आपको अपने बहुत आवश्यक कामों के दबाव से अवकाश मिले।

५—आप आर्य्यावर्त की समस्त समाजों को यह विश्वास दिला दीजिये कि दूर संसार के परली ओर ऐसे स्त्री और पुरुषों की एक संस्था विद्यमान है कि जिनका तुम्हारे जैसा श्रेष्ठ धार्मिक ज्ञान है। और जो कि तुम्हारे जैसे ही सिद्धान्त सिखलाते हैं और भावी जन्म के विषय में जिनके तुम्हारे से ही विचार हैं और जिनका साहस भी तुम्हारे ही समान है। हम उन सहानुभूति के सम्बन्ध द्वारा जो कि उन हृदयों से उन हृदयों तक फैलता है कि जो एक विचारधारा में स्थित हैं अर्थात् आर्य भाइयों को भ्रातृप्रेम और शान्ति का सन्देश देते हैं।

६—हम आपसे पूछते हैं कि आर्यसमाज के नियम क्या हैं और उसकी कार्यप्रणाली किस प्रकार होती है? कौन भरती होते हैं और विशेष रूप से कौन भरती (सम्मिलित) नहीं होते और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के साथ और मनुष्यजाति के साथ इस देश में और योरुप में हमारी व्यावहारिक नीति क्या होनी चाहिये। ईश्वर सम्बन्धी वास्तविक विचारों को पढ़ने के लिए पश्चिमी भाषा की कौन-सी पुस्तकें हमें पूछने वालों को बतलानी चाहियें? मनुष्य, उसका आदि अन्त और शक्तियां क्या हैं? और प्रकृति क्या चीज है? वह विधान जो कि आर्यावर्त्त में प्रचलित किये गये हैं कितने परिवर्तित किये जावें कि पश्चिमी देशों की विभिन्न अवस्थाओं के अनुकूल हो जावें? हम को यह विशेष रूप से जानना आवश्यक है कि हम वर्तमान काल के उन लाखों लोगों को जो केवल आत्मा को ही मानते हैं (अर्थात् संसार की किसी वस्तु की वास्तविक सत्ता नहीं है; सभी वस्तुएं केवल मन की बनावट हैं) पदार्थों के उद्भव, उनके कारण और प्रभावों, उनके सम्बन्ध और गुणों, उनके हानि और लाभ के विषय में क्या बतावें? जीवित मनुष्य सदा इस बात का यत्न करते हुए देखे गये हैं कि उस आवरण को जो कब्र के किनारे और चिता के ऊपर पड़ा हुआ है—फाड़ दें। मनुष्य का मन सदा इस बात का विश्वास चाहने वाला

प्रतीत होता है कि मृतपुरुष हमारी सहानुभूतियों की पहुंच से बाहर नहीं चले गये हैं। न माता अपने बच्चों के विषय में ऐसा विचार कर सकती है कि मेरे मृत बच्चे सदा के लिए मेरी गोद से पृथक् हो गये, न पत्नी अपने पति का, न प्रेमी अपने प्रेमपात्र का। यह ऐसी तीव्र और प्रबल इच्छा है कि जिनके कारण ऐसे लोगों के जो आत्मा ही को मानते हैं—वर्तमान पश्चिमी विचार इतनी उन्नति कर गये हैं और उनके मानने वालों ने हमारा सबसे अधिक सामना किया है। माध्यम अर्थात् आत्मा और शरीर से निर्मित वस्तु की शक्तियां अनगिनत हैं जिनकी बनावट और चुम्बकीय शक्तियों की सहायता से बुद्धिमान् पीछे इन बहुत से उद्भवों के प्रश्न पूछने वालों से बातचीत लेख कड़की आवाजों, भूतनियों और इसी प्रकार के साधनों द्वारा बातचीत करते हैं। लाखों विश्वास करते हैं कि हमारे मृत सम्बन्धी ही हम से बातें कर रहे हैं और अपनी स्थूल आकृतियां दिखला रहे हैं। हम पूछते हैं कि उन लोगों और उनकी ऐसी बातों के साथ हम कौन सा व्यवहार बरतें? उनके सन्तोष के लिये हमको विशेष सत्य और विश्वास दिलाने वाली बातें करनी चाहियें। आपकी चिट्ठी से अर्थात् उस भाग से जहां पर कि आप एक मृत को जीवन देने, कुष्ठियों को अच्छा कर देने, पर्वत के उठाने और चांदी के तोड़ने—इन सब बातों को मिथ्या बतलाते हैं—इससे धर्महीनता की विशेषता सिद्ध होती है और बहुत सी विपत्तियां इन बातों से अवश्य उत्पन्न होती हैं। मैं स्पष्ट रूप से यह समझता हूं कि आप चमत्कारों को झूठा समझते हैं। आप उसको दर्शन-विज्ञान की शिक्षा और मनुष्य की अपनी आत्मिक शक्तियों की एक अत्यन्त निम्न कोटि मानते हैं। यह बुद्धिमत्ता की बात है और हम इस बुद्धिमत्ता को समझते हैं परन्तु यहां के साधारण मनुष्य सब स्थानों के साधारण मनुष्य की भांति दार्शनिकता के विरुद्ध हैं और चमत्कार के अभिलाषी हैं। हम केवल उनके वहम और इन्द्रियों के द्वारा ही केवल उनके हृदयों पर प्रभाव डाल सकते हैं। माध्यम आत्मा और प्रकृति से मिलकर बनी हुई वस्तु हैं; जो उनको चमत्कार प्रतीत होती हैं और दार्शनिकता की युक्तियां वे स्वीकार नहीं करते। कदाचित् हमने अत्यन्त श्रेष्ठ उपायों का प्रयोग नहीं किया। इस विचार से कि कदाचित् यही बात है कि हम शिक्षा और निर्देश लेने के लिये आपके चरणों में पड़ते हैं।

७—मेरा विचार है कि तब बहुत उन्नति हो जायेगी जबकि हम पश्चिमी जनता के सामने वेद के दर्शन विज्ञान का बिना कटा-छंटा उज्ज्वल और रोचक वृत्तान्त प्रकट करेंगे। अमरीका का एक अत्यन्त योग्य समाचारपत्र—सम्पादक जो कि हमारी सभा का एक सदस्य है और जिसके पत्र की पचास हजार प्रतियां बिकती हैं—कहता है कि वर्तमान युग में पूर्वीय मजहबों के वृत्तान्त की अत्यन्त आवश्यकता है और इससे यह प्रकट हो जायेगा कि ईसाई धार्मिक विश्वास और गाथायें और प्रथायें कहां से निकली हैं और आर्य्यों के मजहब से नया मजहब किधर और किस प्रकार बन गया। एक सदस्य जो भाषाओं के शब्दों की वास्तविकता (भाषा-विज्ञान) से भली-भांति परिचित हैं—अंग्रेजी भाषा के निकास और परिणाम पर एक पुस्तक प्रकाशित करने को है। वह शिकायत के रूप में कहता है कि **ईसाई बिशप हेअर ने "जिन्दावस्था"[1] के अनुवादों को बहुत बिगाड़ा** और उसने कहा है कि **जब तुम आर्य्यावर्त्त को जाओ तो पश्चिमी भाषा वालों के लिये, स्थानीय मनुष्यों के आरम्भ तथा उनकी** उत्पत्ति **और भाषाओं की उत्पत्ति का स्पष्ट वृत्तान्त भेजना**[2]। परन्तु पश्चिमी देशों के मनुष्यों को पूर्व वालों से वास्तव में इतना सीखना है कि मैं नहीं जानता कि क्योंकर अपनी लेखनी को आपसे वह प्रश्न पूछने से रोकूं। मैंने अभी इतने प्रश्न लिख दिये कि यदि आप अपने बहुमूल्य समय का आधा भाग उनके उत्तर में व्यय करें तो पर्याप्त हो। परन्तु आपके साथ बहुत से विद्वान् पण्डित और विद्वान् आर्य्य लोग रहते होंगे जो हमको अपने देश का और सहधर्मी समझकर अपनी कुछ बहुमूल्य सहायता देने के लिये सहमत होंगे। हम आपसे इतनी दूर हैं और चिट्ठी लिखना अध्यापक और विद्यार्थियों की बातचीत का ऐसा तुच्छ और सन्तोषप्रद साधन है कि हम में से कुछ व्यक्ति पूर्ण आवश्यकता इस बात की अनुभव करते हैं कि शिक्षा-प्राप्त्यर्थ बहुत शीघ्र आर्य्यावर्त्त को जायें और अपने आपको अपने सजातीयों में उपदेश करने के योग्य बनायें। हम समझते हैं कि वहां दो या तीन वर्ष में हम इतना सीख जावेंगे

१. वह पारसियों की धर्मपुस्तक का नाम है।

२. इससे स्पष्ट है कि भाषा विज्ञान के कतिपय विद्वान् योरोपिय भाषाविदों के निष्कर्षों से असन्तुष्ट थे, और वे इस विषय में प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिकों का विचार जानना चाहते थे।

जितना कि हम यहां बीस वर्ष पढ़ने में व्यतीत करने से न सीखते। चूंकि मनुष्य के जीवन की अवधि स्वल्प है; इसलिये उन मनुष्यों को जो हम में से युवावस्था में हैं या युवावस्था को पार कर गये हैं- वहां आने की बड़ी अभिलाषा है। यदि हम भलाई कर सकते हैं तो कोई समय नष्ट न करना चाहिये परन्तु जब तक हम अमरीका से चलें, हम अत्यन्त उत्सुकता और नम्रता के साथ चाहते हैं कि आप हम को उपर्युक्त बातों का ज्ञान देवें जिसके हम इच्छुक हैं।

८—प्रणाम करके और आपके स्वास्थ्य और प्रसन्नता की प्रार्थना करता हुआ समस्त सभा की ओर से मैं हैनरी ऐस अलकाट सभापति ईश्वर परिचायिका सभा अपने आप को आपकी आज्ञा से आपका तुच्छ सेवक और अनुयायी लिखता हूं।[1]

आपका विनम्र शिष्य व अनुचर
(ह०) हेनरी एस० अल्कॉट,
सभापति, थियोसोफिकल सोसायटी

—:०:—

[पूर्ण संख्या ९३] पत्र-सूचना

[रुड़की पधारने के लिये प्रार्थना पत्र][2]

[अनेक व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से]

—:०:—

१. इस पत्र का उत्तर स्वामीजी ने २९ जुलाई सन् १८७८ को लिखा द्र० ऋ० द० के 'पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या १७९, पृष्ठ २१३-२२५। जिसके पहुंचने पर वह अमरीका से चले। ये सारे पत्र संवत् १९३५, तदनुसार २२ जनवरी सन् १८७८ को आगरा में देवनागरी में प्रकाशित कराये और यही अंग्रेजी में विक्टोरिया प्रेस लाहौर में मुद्रित कराकर सन् १८७८ में प्रकाशित कराये गये। [यह निर्देश जीवन चरित पृष्ठ ८९५ पर पं० लेखराम जी ने किया था]।

२. इस पत्र की सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४१९ में मिलती है। यह पत्र कहां भेजा गया था इसका कोई उल्लेख नहीं है।

[पूर्ण संख्या ६४] पत्र-सूचना

[माधोलाल, दानापुर का पत्र][1]

—:०:—

[पूर्ण संख्या ६५] पत्र-सूचना

……………रुपया भेजा जा रहा है।[2]

रणजीत सिंह

—:०:—

[पूर्ण संख्या ६६] पत्राशय

रुपया हमारे पास मौजूद और तैयार रखा है। कहाँ भेजें।[3]

मुकुन्दसिंह

—:०:—

[पूर्ण संख्या ६७] विज्ञापन[4]

पण्डित दयानन्द सरस्वती जी की आत्मश्लाघाएं और विशेष रूप से इस्लाम मत के विषय में उनकी बकवास (वचन) किस-किस के

---

१. इस पत्र की सूचना 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या १७३ (भाग १, पृष्ठ २१३) के २५ जुलाई १८७८ के पत्र में मिलती है।

२. रुपया भेजने की यह सूचना मनि-आर्डर फार्म पर थी, अथवा अन्य साधन से रुपया भेजा था यह अज्ञात है। ऋ० द० के ६ अगस्त १८७८ के पूर्ण संख्या १८४ (पृष्ठ २३९) के ठा० भूपालसिंह को लिखे पत्र में लिखा है— 'ठा० रणजीतसिंह ने रुपया भेज दिया है।'

३. यह पत्राशय ठा० मुकुन्दसिंह ने दो तीन पत्रों में लिखा था। द्र० ऋ० द० का ६ अगस्त १८७८ का पूर्ण संख्या १८३ (पृष्ठ २३८) का पत्र।

४. यह विज्ञापन पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी संस्करण पृष्ठ ७५८-७५९ से लिया है। मौलवी मुहम्मद कासिम के इस विज्ञापन का निर्देश ऋ० द० ने इन्हीं मौलवी साहब को लिखे १० अगस्त १८७८ के पूर्ण संख्या १८७ (पृष्ठ २४१) में किया है। अत एव हमने इसे यहां छापा है। मूल विज्ञापन उर्दू में था। इस विज्ञापन के उत्तर में जो विज्ञापन छापा गया था, उसे 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' की पूर्ण संख्या १८८ (पृष्ठ २४१-२४४) पर देखें।

कान में नहीं पड़ी ? चूंकि गवर्नमेंट ने मजहब के सम्बन्ध में और उसका अनुसन्धान करने के विषय में अपनी प्रजा को स्वतन्त्र कर रखा है इसीलिये अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक भारतवर्ष में सैकड़ों शास्त्रार्थ-सभायें हुई किन्तु सरकार की ओर से कोई धर-पकड़ न हुई और दो वर्ष से शाहजहांपुर के पास "ब्रह्म-विचार" नामक मेला होता है जिसमें हजारों मनुष्य एकत्रित होकर धार्मिक शास्त्रार्थ का तमाशा देखते हैं। इसलिये हमने पण्डित जी की वाचालता की ख्याति सुनकर बहुत चाहा कि कुछ मित्रों के माध्यम से शास्त्रार्थ-सभा की ऐसी तिथि निश्चित हो जाय कि जिससे देव-बन्द पाठशाला के हमसे सम्बद्ध कार्यों की हानि न हो, और हमारी घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति में हमको किसी कठिनाई का सामना करना न पड़े और दूर-पास के सुनने की इच्छा रखने वाले सज्जन समय पर आ जावें और सरलता पूर्वक सत्य के निश्चय का आनन्द उठायें परन्तु ईश्वर जाने कि क्या रहस्य था कि पंडित जी तिथि निश्चित करने पर किसी प्रकार सहमत न हुए और कहा तो यह कहा कि मैं मौलवी कासिम अली से बातचीत करूंगा और जब वह आयेंगे तभी सब बातें हो जायेंगी। यद्यपि यह विशेषता निरर्थक है; क्योंकि जब आक्षेप सबको सुनाया जाये तो उत्तर भी सभी दे सकते हैं। परन्तु विवश होकर सब कार्य्यों को छोड़कर आज हमें ही आना पड़ा। अब समस्त हिन्दुओं और विशेषरूप से पण्डित जी के अनु-यायियों की सेवा में निवेदन है कि जिस प्रकार बन पड़े पण्डित जी को बातचीत पर सहमत करें और सभा की तिथि ऐसी नियत करायें जो बाहर के लोग भी सूचना पाकर सम्मिलित हो सकें और इसके अतिरिक्त शास्त्रार्थ सम्बन्धी बातों का भी शीघ्र निश्चय कर लें। तीन दिन तक हम प्रतीक्षा करते हैं। यदि ठीक उत्तर आया तो ठीक अन्यथा पण्डित जी और उनके अनुयायियों पर इस अपराध का उत्तरदायित्व सदा-सदा के लिए रहेगा:—

"हम वह नहीं कि दूर से दावा किया करें।
हम वह नहीं कि दून की बैठे लिया करें॥
अपना यह कौल है कि हम आये हैं, आइये।
दावा अगर किया है तो कुछ कर दिखाइये॥"

मिती ८ अगस्त सन् १८७८ बृहस्पतिवार। निवेदक मुहम्मद कासिम।

[पूर्ण संख्या ६८] **पत्र**[1]

हिन्दूधर्म के नेता पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती जी,

महान् ईश्वर हमारा और आपका पथप्रदर्शन करे। यह अत्यन्त तुच्छ अज्ञानी मुहम्मद कासिम कुछ समय हुआ खांसी से पीडित था। खांसी इतनी प्रबल थी कि कभी-कभी तो बात कहना भी कठिन हो जाता था और कुछ आवश्यकतायें भी ऐसी विद्यमान थी। इतने में यह शोर मचा कि आप रुड़की में आ विराजे हैं। और समस्त मतों पर विशेषतया इस्लाम मत पर आक्षेप करते हैं। अस्तु; यह बात तो ऐसी न थी कि इस पर ध्यान दिया जाता, क्योंकि प्रत्येक मत वाला दूसरे मतों पर आक्षेप किया ही करता है। परन्तु उसके साथ यह भी सुना गया कि आपको कोई मनुष्य उत्तर देता है तो आप नहीं लेते। इसको सुनकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ क्योंकि किसी मत पर आक्षेप हो तो, निस्संदेह उसका उत्तर देने का अधिकार प्रत्येक मतावलम्बी को है। फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि—'मैं तुझसे उत्तर नहीं लेता; उस व्यक्ति से उत्तर लूंगा। फिर इसके साथ यह भी सुना गया कि आप स्वयं सार्वजनिक विज्ञापन इस बात के स्थान-स्थान पर लटकवा चुके हैं जिसका अभिप्राय यह है कि 'जिस-किसी का जी चाहे आओ और शास्त्रार्थ कर जाओ।' यदि यह घोषणा सबके लिये थी तो फिर शास्त्रार्थ करने वाले में विद्या की विशेषता पर ध्यान क्यों देना पड़ा ? परन्तु हमको फिर भी कुछ प्रयोजन न था; इतने में यह सुना कि आप विशेष रूप से मेरी ओर संकेत करते हैं। यद्यपि रोग तथा उन आवश्यकताओं के कारण—जिनका ऊपर संकेत किया गया—मुझको आना कठिन था परन्तु सत्यमार्ग के अनुसन्धान के लिये प्रयत्न करना मनुष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य है; जब सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसके मार्ग को ही हमने और हमारे भाइयों ने न पहचाना तो और किसी वस्तु को जाना भी तो क्या हुआ'— यह समझकर इससे बच निकलना उचित न समझा। और आपकी मुझको विशेषता देने की बात को इस बात पर आधारित समझा कि

---

१. यह पत्र पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७५६-७६१ से उद्धृत किया है। इस पत्र का उल्लेख ऋ० द० के १० अगस्त १८७८ के पूर्णसंख्या १८७ (पृष्ठ २४१) के पत्र से मिलता है। मूल पत्र उर्दू में था।

मेरी और आपकी एक बार भेंट और परस्पर एक-दो बात भी हो चुकी हैं। और जिससे परिचय होता है, उसकी बातचीत पर अधिक विश्वास होता है और (जिस किसी से भी) वैसी बातचीत करने में कदाचित् आपको यह खटका हो कि 'ईश्वर जाने बातचीत का ढंग भी उनको आता है या नहीं ! यद्यपि यह बात उसी समय तक उचित है कि अपने विपक्षी का वृत्तान्त किसी साधन से भी विदित न हो सके। परन्तु यहां तो जो मौलवी अहमद अली साहब और हाफिज रहीमुल्ला साहब आपसे बातचीत की इच्छा रखते थे—उनकी योग्यता ऐसी नहीं है कि जिसको कोई न जानता हो। परन्तु जो कुछ भी परिणाम हो आपकी इस कृपा ने कि—आप मुझको विशेषता देते हैं—रुकावटें होने पर भी मुझको कल यहां तक पहुंचाया, अन्यथा विद्या की दृष्टि से मैं अपनी गणना इस्लाम के विद्वानों में नहीं करता। अकारण पांव आगे बढ़ाना यह काम विद्वानों और गुणवानों का है परन्तु यह भी ठीक है कि ऐसे झगड़ों में बड़े-बड़े विद्वानों का आना शोभा नहीं देता; हम जैसे अल्प विद्या वाले ही पर्याप्त हैं। अस्तु, कल उपस्थित होकर आपका अनुकरण किया अर्थात् जैसे आपने शास्त्रार्थ की घोषणा के लिये विज्ञापन लगवाये, मैंने भी विज्ञापन लगवा दिये। आपको उनकी और उनके विषयों की सूचना पहुंची होगी। इसलिये उसकी कोई प्रति भेजने की आवश्यकता नहीं। यह सब होने पर भी इस आवेदनपत्र के साथ आपकी सेवा में पृथक् पर्चा भी पहुंचे इस लिये सावधानता की दृष्टि से रजिस्ट्री द्वारा एक विशेष पत्र भी इस बारे में भेजना उचित समझा। अब यह निवेदन है कि आप कोई तिथि ऐसी नियत करें जिसकी सूचना के पश्चात् दूर और पास के उत्सुक जन भी सम्मिलित हो सकें। परन्तु इतना ध्यान रहे कि हम नितान्त बेकार नहीं हैं और पूर्ण स्वतन्त्र हैं; हजारों कार्य्य और सैकड़ों सम्बन्ध हमारे साथ लगे हुए हैं यदि तिथि में अधिक विलम्ब हुआ तो फिर हमको ठहरना कठिन होगा। इसके पश्चात् हमारी ओर से प्रथम तो यह निवेदन है कि आप बातचीत करें तो उर्दू भाषा में करें; क्योंकि बहुत से लोगों की साक्षी के अनुसार आप उर्दू बोलने में समर्थ हैं-व्याख्यान सुनने वाले सब इस बात के साक्षी हैं। दूसरे यह कि भाषण के लिये व्यर्थ में ऐसी सीमा नियत न की जावे कि जिससे आवश्यक बातों का वर्णन न हो सके। यदि ऐसा न हुआ तो शास्त्रार्थ ही क्या हुआ ? तीसरे यह कि जब तक एक बात का

निर्णय न हो ले तब तक दूसरे विषय में बातचीत आरम्भ न हो ले तब तक दूसरे विषय में बातचीत आरम्भ न हो। फिर भी यद्यपि उचित तो यह था कि हम और आप समान रहते अर्थात् दो-चार सिद्धान्त इस प्रकार के नियत हो जाते कि आधे से हम शङ्काकर्ता और आप उत्तरदाता और आधे में आप शङ्काकर्ता और हम उत्तरदाता होते। परन्तु हमारी न्यायप्रियता देखिये कि हम इसको भी महत्त्व नहीं देते। अभिप्राय यह है कि चांदापुर जैसी अव्यवस्था न हो। उचित उत्तर की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त और अधिक क्या निवेदन करूं।

इति मिती ८ अगस्त सन् १८७८।

पुन:—यह शास्त्रार्थ आरम्भ होने के पश्चात् ईश्वर ने चाहा तो हम आपसे अधिक पांव जमाने वाले सिद्ध होंगे। परन्तु बेकारी में दिन व्यतीत करना कठिन है। इति (हस्ताक्षर) मुहम्मद कासिम

—:०:—

[पूर्ण संख्या ६९] पत्र

सेवा में श्री पण्डित दयानन्द सरस्वती जी[1],

प्रणामादि के पश्चात् निवेदन यह है कि मैं तो कुछ कारणों से उपस्थित नहीं हो सकता। शास्त्रार्थ-महारथी हाफिज रहीमुल्ला साहब पधारते हैं। वह मेरी ओर से मुख्तार आम हैं, उनसे बातचीत करके आज सब बातों का निर्णय कर दीजिये और जो बात संशोधन या परिवर्तित करने योग्य हो उसका सुधार कर दीजिये।

११ अगस्त सन् १८७८ निवेदक मुहम्मद कासिम

—:०:—

[पूर्ण संख्या ७०] पत्र[2]

'हिन्दू धर्म के नेता पण्डित दयानन्द सरस्वती जी,

ईश्वर हमारा, आपका और सबका पथ प्रदशन करे। कल आप

१. यह पत्र पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७६५ से लिया है।

२. यह पत्र पं० लेखरामकृत जीवन चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७६६-७६९ तक छपा है मौलवी साहब ने यह पत्र ऋ० द० के ११ अगस्त १८७८,

का कृपापत्र पहुंचा। आपकी कृपायें मेरे शिर पर। रजिस्ट्री कराकर भेजने का केवल यह कारण है कि मुझको विश्वसनीय सूत्र से यह सूचना मिली थी कि आप इस सम्बन्ध में यदि पत्र व्यवहार हो तो रजिस्ट्री कराकर भेजे हुए पत्र का ही विश्वास करेंगे। परन्तु अब इस कृपापत्र से विदित हुआ कि इसकी कुछ आवश्यकता नहीं। इस लिए डाक के साधन की कुछ आवश्यकता नहीं है और वैसे ही आप की सेवा में भेजता हूं और यह निवेदन करता हूं कि नियमानुसार ऐसे विषयों में निर्णय हुआ तभी समझा जाता है जब लिखने के पश्चात् उस पर मुहर लगा दी जावे या हस्ताक्षर हो जावें। शास्त्रार्थ की बातचीत पर हस्ताक्षरों की आवश्यकता नहीं और न प्रथा है। केवल उपस्थित लोगों की साक्षी पर विजय या पराजय का आधार होता है। जब उसमें आप हस्ताक्षरों की आवश्यकता समझते हैं तो लिखने और हस्ताक्षर होने से पूर्व नियम क्योंकर स्वीकरणीय होंगे। हां, इतनी बात में कुछ सन्देह नहीं है कि जब आप अपनी किसी बात से न हटे और युक्तियुक्त कारणों के उत्तर में अकारण अपनी वही एक कहते गये तो स्वभाव के अनुसार मुझको कोमल होना पड़ा अन्यथा उस बातचीत का अन्त न(होना)था। सारांश यह कि, मुफ्त की माथा-पच्ची और समय नष्ट होता देखकर विषय को संक्षिप्त किया और यह भी कि नमाज में विलम्ब हो जाने की आशङ्का से भी मुझको उठना पड़ा अन्यथा मेरी सम्मति तो मेरे उसी भाषण से प्रकट है जिसको नियमों के सम्बन्ध में आप श्रवण कर चुके हैं। हां, यदि आप श्रोताओं की संख्या तथा भाषण के समय के सम्बन्ध में कोई बुद्धिपूर्ण कारण बताते तो अवश्य मेरी सम्मति बदल जाती। निस्सन्देह मकान नियत किये जाने के सम्बन्ध में तो अपनी यह दशा है कि किसी के मकान से इन्कार और न कहीं आने-जाने में कुछ लज्जा। ऐसे विचार से जैसे आपने कुछ आग्रह न किया था मैंने भी कुछ विवाद न किया; परन्तु न मुझको आपके मकान की तंगी या खुले होने की कोई सूचना थी और न उसके पास-पड़ौस का कुछ ज्ञान

पूर्ण संख्या १८६ (पृष्ठ २४४-२४८) पर छपे पत्र के उत्तर में लिखा था। मूल पत्र उर्दू में था। इस पत्र का उत्तर ऋ० द० ने १३ अगस्त १८७८ को दिया था। उसे 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या १६२ (पृष्ठ २५०-२५२) पर देखें।

था। यहां आकर सुना तो सबको यह बात अरुचिकर प्रतीत हुई। फिर उस पर नमाज की कठिनाई दिखायी दी। दो सौ मनुष्यों की नमाज के लिए पानी आदि का प्रबन्ध होना कठिन प्रतीत हुआ और आने-जाने और खाने-पीने का कष्ट पृथक् रहा। मेरे मित्र शास्त्रार्थ सुनने को बहुत उत्सुक हैं—उनका मकान पर ठहरना कठिन जो खाने का प्रबन्ध करें और उस समय बाजार खुला न रहेगा जो बाजार में खाकर काम करें। इसी प्रकार अन्य यात्रियों को खाने-पीने का जो कष्ट होगा—वह प्रकट ही है। सारांश यह कि चाहे यात्री हों चाहे नगरनिवासी— इतनी दूर रहना, विशाल समूह का जाना और आधी रात के समय वापिस आना पसन्द नहीं करते। इससे अच्छा यह है कि आप आने का कष्ट किया करें और नहर के समीप सुशोभित हो कर व्याख्यान के पिपासुओं की पिपासा बुझाया करें। शेष रही संख्या, उसका वृत्तान्त सुनिये। यहां आकर जिसको देखा उसे क्रुद्ध पाया कि चिरकाल के उत्सुकों को वञ्चित रखा जावे। गलियों और बाजारों में आपके इन्कार पर जो कुछ झगड़ा हो रहा है और आप के विषय में जो कुछ विचार प्रकट किये जा रहे हैं, मैं लिख नहीं सकता और कुछ आवश्यकता भी नहीं। आपको अवश्य सूचना पहुंची होगी मुसलमान तो मुसलमान, आपके हिन्दू पंडित भी प्रकट विरोध के कारण क्रुद्ध हैं और फिर इन सब बातों के होते हुए समय पर रुकते दिखाई नहीं देते। यदि ईश्वर न करे कोई अवर्णनीय बात सामने आयी तो इस कारण की सार्वजनिक आज्ञा के इच्छुकों में मेरी प्रथम गणना है—आश्चर्य नहीं कि उसकी पूछताछ मुझ से हो। विशेष रूप से जब यह विचार किया जावे कि अंधेरी रातें होंगी और रात का समय होगा और फिर वह सार्वजनिक उत्सुकता जिसने जनता को पागल बना रखा है—ऐसी अवस्था में किसी प्रकार की उद्दण्डता किसी से आपके प्रति हो जाये तो कुछ दूर नहीं। उक्त आशङ्का और भी प्रबल होती हैं। हां, यदि आप मुस्लिम मजहब के सन्देशवाहकों का अनुकरण करते हुए सत्य के प्रकाश में छाती चौड़ी कर लें और वीरतापूर्वक मैदान में आयें तो फिर कुछ आशङ्का नहीं प्रत्युत सत्य का प्रकाश (यदि आपके द्वारा हो गया तो वह पुरानी शत्रुता जो आपके) सवा महीने तक आक्षेप करने से हिन्दू-मुसलमानों के हृदयों में भरी हुई है—प्रेम में परिवर्तित हो जावेगी और आप न समस्त आक्षेपों के करने में विवश समझे जावेंगे और इसलिए कोई हानि भी

न होने पायेगी और यदि हो भी गयी तो फिर सत्य का प्रकाश करने में मजहबी नेताओं ने बहुत कुछ कष्ट उठाये हैं; उनका अनुकरण कुछ बुरा नहीं।

यदि सत्य को प्रकट करने में कुछ कष्ट सामने आया तो उसकी गणना किसी के अनुकरण में करके अपने हृदय का सन्तोष कर लीजियेगा। इसके अतिरिक्त यह भय तो मुझे और आपको समान रूप से है। मैं सम्बन्धों की अधिकता के कारण इसे एक भ्रान्त धारणा समझता हूं, आप इस स्वतन्त्रता से क्यों इतना डरते हैं। फिर इन सब (बातों) को जाने दीजिये; इस जिले में विद्वान् और विद्यार्थी इतने अधिक हैं कि उन सबको एकत्रित कीजिये तो उनकी संख्या नियत सीमा से कहीं बढ़ जाती है और निरन्तर सूचनायें आती हैं कि सब को शास्त्रार्थ सुनने की उत्सुकता है, दिन रात इसी विचार में रहते हैं। इसके अतिरिक्त और मत पृथक् रहे। कितने अत्याचार की बात है कि उनकी इच्छायें मन का मन में रहें और रुड़की की सर्वसाधारण जनता बञ्चित रहे। फिर कालिज के कुछ कार्यकर्ताओं का इतना ध्यान हो कि प्रातः की शाम कर दी जाये। उपर्युक्त समस्त कारणों से यह दोनों नियम अर्थात् संख्या और समय भी स्वीकार करने योग्य नहीं इसलिए यह अन्तिम निवेदन है कि यदि आपको शास्त्रार्थ करना है तो कुछ आगा-पीछा न देखिये, सबको आने की आज्ञा दीजिये और समय को भी बदल दीजिये अन्यथा इन्कार लिख भेजिये ताकि हम निराशा की अवस्था में अपने घर का मार्ग पकड़ें परन्तु उस दशा में यह दुःख रहेगा कि हम निराश गये और आपकी अपकीर्ति हुई। रही तिथि—उसको स्वीकार करने में यद्यपि बोझ के नीचे दबना पड़ता है और समय नष्ट होने के कारण कठिनाई भी है परन्तु फिर भी हमको कुछ आपत्ति नहीं। जब चाहें आप हस्ताक्षर करा लें। इसी प्रकार इस बात में भी हमको कुछ झगड़ा नहीं कि आप पूर्वकाल के विपरीत तीन वेदों को क्यों नहीं मानते और यद्यपि संशयास्पद गाथाओं के अनुसार सब वेद समान हैं—तीनों को एक जैसा क्यों नहीं जानते? यदि विषयों की बुराई के कारण यह अस्वीकृति है तो वे सारी गाथायें आपत्तियोग्य लेख समान विश्वसनीय नहीं रहनी

चाहिये। इसी प्रकार हमको इसमें भी कुछ आपत्ति नहीं कि वह भाष्य जो सब वेद के विद्वानों की दृष्टि में मान्य हैं--आप क्यों नहीं मानते। अब मौलवी अहमद अली साहब की शिकायत—उनकी सभ्यता से मैं चिरकाल से परिचित हूं, उन्होंने अपनी ओर से कदापि कुछ न लिखा होगा। यदि लिखा होगा तो आपके और आपके शिष्यों के आक्षेपों और निन्दापूर्ण वचनों के उत्तर में लिखा होगा। आपके निन्दापूर्ण वचनों का प्रमाण तो मैं इसके अतिरिक्त कुछ नही दे सकता कि सैकड़ों मनुष्य इस बात के साक्षी हैं कि आपके आक्षेप इस रूप में भी थे और यही कारण हुआ कि जो सरकार की ओर से आपके व्याख्यान पर रोक लगी और आपके शिष्यों की सभ्यता पर तो यही आपका भेजा हुआ विज्ञापन साक्षी है। यह आपकी नम्रता है जो उन के इस अनुचित अभिमान का हम उत्तर नहीं देते अन्यथा किसी के इस वचन के अनुसार:— "**खुदा[1] जाने सबब[2] क्या है जो हम खामोश[3] हैं जालिम[4]। वगर्ना[5] हम रकीबों[6] के छक्के छुड़ा देते**॥" उनके ऐसे लत्ते लिये जाते कि कदाचित् उनको अपने पास से सरकारी पास वापिस करने पड़ते। तनिक उनका साहस तो देखो कि व्याकरण की ओर तो बढ़े सो बढ़े परन्तु दर्शनशास्त्र और वैद्यक में भी अनुचित हस्तक्षेप करने लगे। आप उनको सुना दें कि एक-दो बार की उपेक्षा के पश्चात् भी उन्होंने न माना तो फिर प्रसिद्ध कहावत के अनुसार एक बार, दो बार, अन्त में विवश होकर उन्हें बुद्धिमान् बनाना पड़ेगा। उनकी उलटी बात उलटे चित्र के समान उनके मुख पर शोभा नहीं देती और आपको जो कुछ किसी ने कहा वह सब आपके शिष्यों का फल है:—"**मन अज बेगानगां हर्गिज न नालम। कि बामन हर्चे कर्द आं आशनां कर्द**॥"[7]

हाफिज रहीमुल्ला साहब के विषय में आपके शिष्य जो कुछ कहते हैं कदाचित् उनको उस पदवी और उस प्रमाणपत्र की सूचना नहीं जो मुसलमानों में पूर्ण ज्ञानियों की ओर से मिलने की प्रथा है। हमने

---

१. ईश्वर। २. कारण। ३. मौन। ४. अत्याचारी, नृशंस। ५. और नहीं तो। ६. शत्रुओं।

७. मैं दूसरों के अत्याचार की शिकायत कदापि नहीं करता क्योंकि मेरे साथ तो जो कुछ किया वह मेरे मित्रों ने किया।

कल्पना की कि उनको अरबी भाषा में वह प्रभुत्व नहीं जिसके कारण उनको भाषाविद् कहना ठीक हो परन्तु मुसलमानों में वह कौन-सी आवश्यक पुस्तक है जिसका भाष्य फारसी अथवा उर्दू में अधिकता से प्राप्त न हो। कुरान के भाष्य और हदीसों (गाथाओं) की पुस्तकों के भाष्य अधिकता से बाजारों में मिलते हैं। अर्थज्ञान और मौलिक बातों तथा शाखाओं के ज्ञान के लिये जिस पर शास्त्रार्थ का आधार है—इतना पर्याप्त है। अन्यथा मैं जानता हूं कि वेदज्ञता संसार से लुप्त हो चुकी है जैसा कि संस्कृत भाषा के प्रचार की दशा से प्रकट है और चांदापुर की कुव्यवस्था की जो आप चर्चा करते हैं तो आप कदाचित् लोगों के कहने के अनुसार कुछ और समझ गये। वास्तव में क्रमबद्धता उस कार्य का नाम है जिसका परिणाम प्रबन्ध होता है। सो वह प्रबन्ध जिसको शास्त्रार्थ का प्रबन्ध कहिये न कि मेले का प्रबन्ध—वह भी नियमों के निश्चित होने पर निर्भर है। उसमें आप को स्मरण होगा कि आप पांच ही मिनट पर अड़ गये थे और इस सम्बन्ध में पादरियों के स्वर में स्वर मिलाकर वाक्यों की व्याख्या के लिये समय का विस्तार नहीं होने देते थे। हां, पीछे से बहुत कहने-सुनने के पश्चात् और पादरी स्काट साहब के पधारने पर उन के समर्थन से कुछ समय बढ़ाया गया और मैंने आपकी दृढ़ता पर कब आक्षेप किया था जो आपने स्मरण दिलाया जिससे मुझको यह स्मरण आया कि मुन्शी प्यारेलाल और मुन्शी मुक्ताप्रसाद ने जिनके आप प्रिय अतिथि थे और जो सब प्रकार से आपका मन रखने और आपकी प्रसन्नता प्राप्ति के लिये उपस्थित थे—सब प्रश्नों को छोड़-कर अन्तिम प्रश्न पर विचार कराया और जब सभा के लम्बा होने की आशा थी, उसको एक ही दिन में समाप्त करा दिया जिससे वह हमारी दूर की यात्रा और अपनी सामर्थ्य से अधिक किया हुआ खर्च व्यर्थ गया। विवश होकर शाहजहांपुर में वापिस आकर जो मोती मियां साहब की ओर से मुंशी इन्द्रमणि और आपकी सेवा में दो पत्र क्रमशः (एक के पश्चात् दूसरा) भिजवाये गये तो उसका उत्तर आप के स्मरण होगा कि क्या आया। जब सब प्रकार से निराशा हो गयी तब शास्त्रार्थ करनेवालों और शास्त्रार्थ सुनने के इच्छुक लोगों ने अपना-अपना मार्ग पकड़ा और 'कहरे[1] दरवेश बर जाने दरवेश' कह

१. अर्थात् दीन का क्रोध अपने ऊपर ही होता है।

कर चले आये। अब इस लम्बे लेख को समाप्त करता हूं; परन्तु समाप्ति पर दो-एक बात निवेदन किये देता हूं। निवेदन से यदि कोई व्यक्ति विवश हो जाये तो किसी दृष्टि में निन्दनीय नहीं। यह सब कुछ होने पर भी आपकी कृपा से दिन प्रतिदिन आरोग्य लाभ होता जाता है, आप कुछ चिन्ता न करें। परन्तु परमात्मा ऐसा न करे कि आपको किसी बम्बई की रजिस्ट्री और तार का बहाना करना पड़ जाये जिसकी सत्यता और तात्कालिक आवश्यकता को सिद्ध करने में आपको परिश्रम करना पड़े। अन्तिम कथन यह है कि आप कष्ट को कम करने के अभिप्राय से अपने शिष्यों को कह दें कि शब्द प्रति-शब्द उत्तर देने का विचार छोड़ दें अन्यथा हमको भी यह ढंग कुछ स्मरण है यद्यपि वैसी पूर्णता नहीं जैसी आपके शिष्य आपके विषय में समझते हैं। उत्तर बहुत शीघ्र प्रदान करें और स्वीकृति अथवा अस्वीकृति जो कुछ हो—स्पष्ट लिखें।

१२ अगस्त सन् १८७८।[1] निवेदक अज्ञानी मुहम्मद कासिम।

—:o:—

[पूर्ण संख्या ७१] पत्र

हिन्दूधर्म के नेता पण्डित दयानन्द सरस्वती जी[2]

ईश्वर हमको और आपको और सबको सत्यमार्ग दिखावे। इस समय प्रातःकाल[3] के पत्र का उत्तर पहुंचा। जी तो चाहता था कि

---

१. इस पत्र का उत्तर ऋ० द० ने १३ अगस्त १८७८ के पूर्ण संख्या १९२ (पृष्ठ २५०-२५२) के पत्र में दिया है।

२. यह पत्र पं० लेखरामकृत जीवन चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७७१ से लिया है।

३. यह मौलवी साहब का प्रातःकाल का कौन सा पत्र है, यह स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है। यदि इसका संकेत १२ अगस्त १८७८ के अपने (मौलवी साहब के) पत्र की ओर है, तो इन्होंने जिस का उत्तर पहुंचने का यहां उल्लेख है, वह कौन सा है। यह ज्ञात नहीं हुआ। ११ अगस्त के पत्र की ओर यह संकेत हो सकता है परन्तु उसे रजिस्ट्री से भेजने का अन्त में निर्देश है। द्र० 'ऋ० द० का पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ २४८। यहां पत्र वाहक की शीघ्रता का निर्देश किया है। प्रतीत होता है दोनों ओर के कुछ पत्र पं० लेखराम जी को उपलब्ध नहीं हुए।

जब दूसरे पत्र[1] का भी उत्तर आ लेता तभी उत्तर लिखता परन्तु पत्रवाहक शीघ्रता करता है इसलिये यह निवेदन है कि आपकी और मेरी यह पहली भेंट नहीं है, गत वर्ष मेरा बोलने का ढंग आप देख चुके हैं। उसको बदलने में चित का बहाव नहीं रहेगा और इससे शीघ्रता की शक्ति नहीं। इस अवस्था में आप से हो सके तो लिख भेजियेगा और न हो सके तो आप जानें। परन्तु यह आपत्ति कि जब तक यह नियम स्वीकार न किया जावे मैं शास्त्रार्थ को उचित नहीं समझता—पर्दे में शास्त्रार्थ से इन्कार है। इससे अच्छा यह है कि आप स्पष्ट ही इन्कार करें और किसी का समय नष्ट न करें। हजारों शास्त्रार्थ हुए, हजारों विचार-सभायें हुईं, किसी ने यह नियम न रखा था, आपको यह नियम सूझा। कारण इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि आप शास्त्रार्थ से बचना चाहते हैं। पूर्व पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा के अतिरिक्त और अधिक क्या निवेदन करूं।[2]

—हस्ताक्षर मुहम्मद कासिम।

—:०:—

## [पूर्ण संख्या ७२]		पत्र

हिन्दू धर्म के नेता स्वामी दयानन्द सरस्वती जी[3]

ईश्वर हमको और सबको सत्यमार्ग दिखावे। कल एक पत्र आप की सेवा में आपके कृपापत्र के उत्तर में भेज चुका हूं। आज यह पत्र दो कारणों से लिखना उचित प्रतीत हुआ। प्रथम तो परसों जिस समय आपका कृपापत्र पहुंचा, कुछ मित्रों के पधारने के कारण उस समय उसके अध्ययन का अवकाश न मिला; थोड़ी देर में शाम हो गयी। उस समय सूक्ष्म अक्षरों के पढ़ने में कठिनता प्रतीत हुई। प्रातः काल उसको तनिक देखकर उसका उत्तर लिखा और उसकी प्रति-

१. दूसरा पत्र कौन सा है? क्या १२ अगस्त का १८७८ के पूर्ण संख्या १८९ के पत्र से तात्पर्य है।

२. इस पत्र के अन्त में तारीख का निर्देश नहीं है। यह १२ या १३ को लिखा होगा।

३. यह पत्र पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७७१-७७३ पर छपा है। हम ने वहीं से लिया है।

लिपि कराकर उसी समय आपकी सेवा में भेज दिया। चूंकि शीघ्रता में लिखा था इसलिये पत्र में लिखते समय समस्त विषय स्मरण न रहे जो रात्रि को लिखता। और विषय तो विशेष विचारणीय न थे फिर विज्ञापन की शिकायत के कारण बताना भेंट के विचार से आवश्यक था इसलिये कारण बताने में विलम्ब होने का बहाना कर के निवेदन करता हूं कि उक्त विज्ञापन के लटकवाने और चिपकवाने से कुछ अपनी प्रसिद्धि और आपकी बदनामी (अपकीर्ति) अभीष्ट न थी। केवल इस बात का इतना अभीष्ट था कि विचार और शास्त्रार्थ की मांग हमारी ओर से आरम्भ नहीं हुई। मेरे देवबन्द से यहां तक आने और आपके उस ओर न जाने से कोई यह न समझे कि आरम्भ इस दास की ओर से है परन्तु यह बात सारी गाथा का विस्तार किये विना विचारणीय न थी। इसके अतिरिक्त मजहबी अनुराग के अनुरोध से प्रत्येक को अपने मजहब की सफाई अभीष्ट होती है और अपने मजहब की पवित्रता का प्रत्येक को ध्यान रहता है परन्तु यह बात विना इसके नहीं हो सकती कि प्रसिद्ध कहावत के अनुसार:—

आं रा कि हिसाब पाक अस्त अज मुहासिबा च बाक[1]"।

दूसरों के आक्षेपों को सुनकर निर्भीकता से अपने मजहब की सत्यता प्रकट करने के लिए आ उपस्थित हुआ और प्रत्येक को मौखिक रूप से और यदि आवश्यकता हो तो लेख द्वारा अपने उद्यत होने की सूचना दे दी। आपने कुछ और समझ कर मित्रतापूर्ण शिकायत की और मुझको ऐसा लज्जित किया कि क्या कहिये और इस शिकायत द्वारा—इस कारण से कि शिकायत विना कृपा के नहीं होती—अपना आभारी बना लिया। इसलिये यह शिकायत मेरी दृष्टि में कृपा के समान है। और क्या निवेदन करूं, सारांश यह कि अपनी बड़ाई और आपकी मानहानि अभीष्ट न थीं। चाहे आप नम्रता के कारण अपने आप को उतना न समझें जितना हम समझते हैं परन्तु मेरे विचार में आप अपने समय में अपने मजहब में अद्वितीय हैं। मुंशी कन्हैयालाल साहब आदि भी कदाचित् हों तो उतने ही हों। हां, मुंशी इन्द्रमणि के विषय में आप कुछ न कहें। अपरिचित

---

१. अर्थात् उसका हिसाब साफ है जिसको हिसाब लेने वाले से क्या भय ?

होने के कारण मुंशी कन्हैय्यालाल के सम्बन्ध में तो मैं कुछ नहीं कह सकता परन्तु मुंशी इन्द्रमणि को तो आप रहने ही दें। दो बातें तो आप मुझसे सुन लीजिये—गतवर्ष जब संस्कृत शब्दों की अधिकता के कारण मैं आपके भाषण को न समझा तो "**सौते अल्लाहुलजब्बार**" के लेखक मौलवी मुहम्मद अली साहब को कष्ट देने से पूर्व मुंशी इन्द्रमणि से मैंने कहा कि आप पंडित जी के भाषण का अनुवाद ही कर दें। उन्होंने धीरे से यह उत्तर दिया कि सच तो यह है कि मुझे कभी व्याख्यान देने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, जो लोग यह काम करते रहते हैं उन्हीं से यह काम हो सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रथम तो प्रातःकाल की सभा में मेरे निश्चय के विषय में आपको दो बार यह कहने का अवसर प्राप्त हुआ कि क्या कहिये, समय हो लिया, यदि समय शेष रहता तो मौलवी साहब की बात का भी उत्तर दिया जाता, परन्तु ११ बजे के लगभग अर्थात् अन्तिम सभा में कदाचित् इस दृष्टि से कि अब सभा विसर्जित हो और मुसलमानों को उत्तर का अवसर न मिलेगा— आपने मेरे उस विषय के सम्बन्ध में जिसमें मैंने सिद्ध किया था कि जगत् का उपादानकारण ऐसा सत्तावान् और विस्तृत है कि ईश्वर की सत्ता से ऐसा सम्बन्ध रखता है जैसे किरणें सूर्य्य के साथ—यह कहा कि यदि मौलवी साहब का कथन ठीक हो तो इस दृष्टि से कि बुराई भी संसार में है—ईश्वर पर बुराई भी लागू होगी और उसके पश्चात् मैं भाषण के स्थान पर पहुंचा तो पादरी लोगों न माना और यह कहा कि सभा का समय हो चुका और उस समय मैंने आपसे निवेदन किया कि पंडितजी! बातचीत तो अब हमारे और आपके मध्य है; आप तनिक ठहर जाइये, तो आपने भी यह कहा कि मुझसे भी ठहरा नहीं जाता; भोजन का समय आ गया है। यहां तक कि अपनी स्मृति के अनुसार मैंने आपका हाथ तक पकड़ा परन्तु आप हाथ छुड़ा कर चल दिये। जब आपकी ओर से भी उपेक्षा ही देखी तो फिर मैं मुंशी इन्द्रमणि की सेवा में पहुंचा और यह निवेदन किया कि पंडित जी तो नहीं सुनते, आप ही सुनते जायें उनको कुछ बहाना का अवसर समझ में न आया, विवश होकर सुनना पड़ा। मैंने निवेदन किया, इस आक्षेप का उत्तर तो मैं अपने भाषण व अपनी व्याख्या के समय भाग्य के हस्तक्षेप का निषेध करने के रूप में उदाहरण देकर दे चुका हूं, उसको समझ लीजिये। तो फिर इस आक्षेप का अवसर ही नहीं रहता। फिर जब पण्डित जी ने उस

पर कुछ ध्यान न दिया तो मुझको पुन: विस्तारपूर्वक निवेदन करना पड़ा। सारांश यह कि उस समय वह विषय निवेदन किया जिसका आधार इस बात पर था कि कर्ता और कर्म की दृष्टि से कर्ता का प्रभाव तो कर्म की ओर आता है परन्तु कर्म का प्रभाव कर्ता की ओर नहीं जाता। उस पर मुंशी साहब ने कहा तो यह कहा कि कदाचित् पण्डित जी इस पर कुछ और आक्षेप करें। मैंने उनको उभारने को यहां तक कहा कि ईश्वर ने चाहा तो पण्डित जी से प्रलय काल तक भी इसका उत्तर न आयेगा; परन्तु फिर भी वह कुछ न बोले और उठकर चल दिये। यदि वह भी गुणवानों में होते और आपका विचार उनके विषय में ठीक होता तो और कुछ नहीं तो उक्त अवसर पर तो बोलते। यही कारण जान पड़ता है कि यद्यपि उनका नाम भी शास्त्रार्थकर्ताओं में था परन्तु दोनों दिन आरम्भ से अन्त तक कुछ न बोले। इस दृष्टि से क्योंकर कह दीजिये कि वह तो गुणवानों में से हैं और आप इस सारे साहस के होते हुए उनसे कम हैं परन्तु आपको इन बातों की सूचना क्यों मिली होगी जिससे मुंशी इन्द्रमणि के विषय में आपके विश्वास में कुछ कमी आती। परन्तु मेरी दृष्टि में उनका बुलाना व्यर्थ है। मैं तो ऐसा समझता हूं कि यदि मुंशी साहब को यह सन्देह भी होगा कि कदाचित् मुझको बोलना पड़े तो इस ओर आने का विचार भी न करेंगे। दूसरा कारण पत्र लिखने का यह है कि आपको सार्वजनिक भीड़ के होने और इसी प्रकार सभा के समीप नहर होने के कारण कदाचित् कुछ झिझक हो परन्तु अभी तक आप की उन युक्तियों पर दृष्टि नहीं इसलिये शीघ्रता में कुछ कारण लिख कर निवेदन करता हूं, इसके पश्चात् कुछ और समझ में आयेगा तो पुन: निवेदन करूंगा। अब आपकी सत्यप्रियता से मुझको यह आशा है कि विदित अनुरोध के होते हुए स्वभाव के विरुद्ध आप भी सार्वजनिक सभा के पक्ष में ही सम्मति देंगे और कुछ विचार न करेंगे और यद्यपि आप बातचीत से इन्कार कर चुके हैं जैसा कि आज के पत्र से विदित होता है परन्तु फिर भी इच्छा अथवा अनिच्छा से बातचीत पर उद्यत हो जायेंगे। हे महाशय ! आपके प्रेमियों को अपने वञ्चित रह जाने का अत्यन्त दु:ख है, परमेश्वर के लिये अब तो आप मान ही लीजिये। चारों वेदों की स्वीकृति से हमको अत्यन्त प्रसन्नता हुई, परन्तु इस बात का दु:ख है कि आप उन वचनों को भूल गये जो कप्तान स्टुअर्ट साहब के सामने कुछ मनुष्यों के समूह में आपने कहे

थे। अत्यन्त खेद है कि आप अपने वचनों से फिर जाने पर भी लज्जित नहीं होते और हमको यह कहते हैं कि प्रतिज्ञा करके नहीं फिरा करते। आश्चर्य की बात है, क्या कहिये ? ईश्वर जाने इसमें भी कुछ भेद होगा। कदाचित् आपको स्मरण न रहा हो, आप अपने उन दो शिष्यों से ही पूछ लें जो उस समय साथ थे, उनको स्मरण होगा अन्यथा कप्तान से पूछ कर देखें। इन सब से बढ़कर यह है कि कर्नल साहब को भी आप निर्णय का साक्षी बताते हैं ! हे महाशय ! उनके सामने तो हमारी आपकी कुछ बातचीत नहीं हुई परन्तु ईश्वर करे आप इसी पर दृढ़ रहें। सभ्यता के अभाव की शिकायत आपको करनी शोभा नहीं देती, प्रथम तो मेरे लेख में कोई वाक्य सभ्यता से रहित न था दूसरे आपने यह देखा कि आरम्भ किसने किया—**"जरा इन्साफ तो कीजे निकाला किसने शर पहले"**[1]। जिस वाक्य को आप ने सभ्यता-विरुद्ध समझा उसका अर्थ आप कुछ और समझ गये हैं। उसका यह अर्थ नहीं है जो आप समझे हैं। अधिक क्या निवेदन करूं, आपसे शास्त्रार्थ की आशा ही रही।

१३ अगस्त सन् १८७८। हस्ताक्षर मुहम्मद कासिम।

पुन: निवेदन यह है कि आज आपने और उन्नति की। कल के कृपापत्र में तो तीन ही नियम निश्चित हुए बताये थे। आज चौथा नियम भी निश्चित हो गया, बता दिया[2]। इस अनुमान से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वीकृत किये हुए दिन तक बिना निश्चित किये हुए ही सब नियम निश्चित हो जायेंगे। इतना सत्य बोलने पर भी आप ही का साहस है कि हमको झूठा बनाते हैं। महाराज ! कर्नल साहब आपके गवाह हो गए, कप्तान साहब को आपने साक्षी बना लिया, हमारे लिये आपने किसको छोड़ा ? हे महाशय ! यहां से कर्नल साहब दूर नहीं हैं, कप्तान साहब की चिट्ठी विद्यमान है। वह मुंशी अहसानुल्ला

१. अर्थात् तनिक न्याय तो कीजिये कि किसने पहले शरारत आरम्भ की।

२. यह संकेत ऋ० द० के १३ अगस्त १८७८ को लिखे पूर्ण संख्या १९२ के पत्र की ओर है।

साहब को लिखते हैं कि उक्त बातों में परस्पर सहमत होकर और निर्णय करके हमको सूचना दो ताकि हम उस सम्मति में सम्मिलित हों या और कुछ सम्मति दें। यदि उनकी दृष्टि में निर्णय हो चुका था तो यों कहो कि कप्तान साहब को भी आपने झूठा सिद्ध कर दिया। इन्हीं बातों को आप युक्तियुक्त समझते हैं जिनके भरोसे आप यह कहते हैं कि युक्तियुक्त बात का उत्तर नहीं मिलता। हे महाशय! यदि आप कप्तान साहब पर भरोसा रखते हैं तो वही हमारे निर्णायक रहे; जो वह निश्चय कर दें और जो उनकी सम्मति हो वही हमको स्वीकार है और उन्हीं से यह भी पूछ लिया जाये कि वेद के विषय में आपने क्या कहा था और अब क्या कहते हैं। और हमने माना निर्णय हो गया था परन्तु हम यदि अपने लाभ की कहें तो आप न मानें। आप बताइये जन साधारण के मध्य और खुले मैदान में शास्त्रार्थ करने से हमारा क्या लाभ है? यदि लाभ है तो सार्वजनिक लाभ है और आपके साहस और विद्या का प्रकाश है। फिर यदि हम प्रतिज्ञा कर लेने के पश्चात् आपसे यह निवेदन करें कि आप पूर्व की अपेक्षा और कृपा करें और संख्या को सीमित न करें तो आप को क्यों अस्वीकार है? हां, यदि इस प्रकार का खण्डन निषिद्ध हो तो ऐसे भी सही। आप न्याय से कहिये कि यह बात कौन से वेद के अनुसार निषिद्ध है? शेष रही यह बात कि आप जो लिखते हैं कि मुझको तेरे एक-एक शब्द पर आक्षेप है तो वास्तव में यह पूर्ण न्याय का वाक्य है और उच्च श्रेणी की सच्चाई है और क्यों न हो विद्वानों में ही यह गुण होता है कि किसी की ठीक बात को भी और शब्द-शब्द को मिथ्या सिद्ध कर दें परन्तु मुझको उन आक्षेपों के जानने की अभिलाषा ही रही। क्या कहिये आपके इस संक्षिप्त लिखने से यह दुःख उठाना पड़ा अन्यथा आप निसन्देह लिख ही देते? पंडित जी! मैं इससे बढ़कर अन्य कोई पद नहीं देखता जो उत्तर में लिखूं। इस के अतिरिक्त और क्या लिखूं कि आपका तो शब्द-शब्द, और शुद्ध और अशुद्ध बातें, सभी ठीक हैं; स्वयं यही कह सकता हूं और क्या कहूं? श्रीमान् पण्डित जी! यदि करार इसी का नाम है तो यों कहो कि कल को आप उन धनवानों को भी भिक्षुकों पर धनव्यय करने का निषेध करेंगे कि जिन्होंने यह प्रण कर रखा हो कि रुपया-दो-रुपया भिक्षुकों को बांट दिया करेंगे। यह सब होते हुए यदि कुछ दोष आ गया तो हमारी ओर से आया, आपकी क्या हानि? परन्तु इस

में भी हानि है या नहीं कि कहीं कुछ दिया और कहीं कुछ; कप्तान साहब के बंगले में गये तो तीन वेदों को अस्वीकार कर दिया और शिष्यों को थामने का समय आया तो चारों को सिर और आंखों पर रखा। कानपुर के विज्ञापन में इक्कीस शास्त्रों पर आस्था प्रकट की, और कहीं और पहुंचे तो चारों वेदों पर सन्तोष कर लिया। कभी सारे भाग स्वीकरणीय और कभी ब्राह्मण भाग की अस्वीकृति और मन्त्र भाग की स्वीकृति; परन्तु आश्चर्य तो इस बात पर है पूर्वकाल में तो आप विश्वास बदलने का भी सामर्थ्य रखते थे और अब दो-सौ मनुष्यों से अधिक संख्या बढ़ाने की भी शक्ति नहीं? पंडितजी! विश्वास तो एक बाहरी आज्ञा के आधीन होता है अर्थात् किसी समाचारदाता का समाचार होता है और प्रकट है कि बाहरी आज्ञा वास्तव में किसी के अधिकार में नहीं। वास्तविक को कोई अवास्तविक नहीं बना सकता, अवास्तविक को वास्तविक नहीं कर सकता। यदि उन विश्वासों के बदलने में, जिनका संकेत किया गया, आप इस कारण से समर्थ हैं कि बाहरी आज्ञाओं के बदलने की आप में उपयुक्त रूप से सामर्थ्य है तो प्रतिज्ञा को भूलने और दास की प्रार्थना को स्वीकार करने की सामर्थ्य आपको क्यों नहीं और यदि बदलने का कारण यह है कि अपनी भूल प्रकट होगी तो बताइये कि आपकी सम्मति के ठीक होने में क्या युक्ति है? शेष रही मेरी सम्मति, उस की प्रथम सत्यता तो आपको कप्तान साहब की कोठी पर उस समय विदित हो गयी थी जब आप दास के निवेदन किये हुए कारणों का खण्डन न कर सके और जो कुछ सन्देह होगा तो वह ईश्वर की कृपा से अब दूर हो जायेगा। यह तो मैं जानता हूं कि यथासामर्थ्य आप बातचीत न करेंगे और जिस प्रकार हो सकेगा, टलायेंगे। परन्तु मैं अपनी उत्सुकता को क्या करूं इसलिये आपके इस गुप्त रूप में इन्कार करने पर भी मैं प्रकटरूप में अनुरोध किये जाता हूं। पंडित जी! यदि मानलो कि मैं प्रतिज्ञा से फिरता हूं तो आप न्याय के अनुसार शास्त्रार्थ से इन्कार करते हैं। श्रीमान् जी! प्रतिज्ञा इसको कहते हैं कि ऐसे विषयों में जिनमें दोनों पक्षों को लाभ-हानि की आशङ्का हो जैसे क्रय-विक्रय और राजाओं की प्रतिज्ञायें कि परस्पर किसी बात पर सहमत हो जायें—उससे फिरना बुरा है। यहां किसका लाभ और किसकी हानि है? यह प्रतिज्ञाहानि को बुरा समझते हैं और प्रतिज्ञा से नहीं फिरते। आप औरों से तो परामर्श कीजिये, यदि

बुद्धिमान् होंगे तो यही कहेंगे कि यदि दूसरी बात में अधिक गुण दिखाई दें तो फिर पहली बात पर अड़ जाना और हठ किये जाना बुद्धिमानों की प्रथा नहीं, औरों की प्रथा है। इसलिये बाल-हठ और त्रियाहठ किसी को अच्छी नहीं लगती। अब निवेदन यह है कि आप जिस प्रकार बन पड़े—मैदान और सार्वजनिक सभा को स्वीकार कीजिये। हमारी प्रार्थनाओं पर दृष्टिपात कीजिये। यह भी नहीं तो एक संसार की इच्छा पर विचार कीजिये। इसकी भी परवाह नहीं तो मेरे वर्तमान युक्तियुक्त निवेदन का ही अनुकरण कीजिये। यह भी नहीं हो सकता तो परमेश्वर ही के लिये सत्य की घोषणा पर कमर बांधिये। उस से भी सम्बन्ध नहीं तो अपना और अपने शिष्यों का मान तो संभालिये। यह भी स्वीकार नहीं तो यह कह दीजिये कि मुझमें साहस नहीं, हम अपना सा मुंह लेकर चले जायेंगे। अब निवेदन यह है आपको पचास से दो-सौ तक आना तो स्मरण रहा परन्तु यह स्मरण न रहा कि हम पुनः यह निवेदन कर चुके थे कि इस नियम को स्थगित रखिये। क्या स्थगित रखने का यह अर्थ नहीं कि इस पर फिर विचार किया जावेगा। हां, कदाचित् आप यह कहने लगें कि स्थगित रखने को पहले कहा था परन्तु इस का फिर उत्तर दीजियेगा कि हमने उठते समय यह कहा कि यदि आप दो-सौ से अधिक नहीं बढ़ते तो इतना तो करो कि इनके अति-रिक्त, जिनकी हम जमानत दें, वह आ जायें परन्तु आपने उस समय भी इस वाक्य के अनुसार कि "यह संसार एक ओर, और मैं अकेला एक ओर"—न माना परन्तु मेरे सहमत होने के लिए भी तो कोई युक्ति चाहिये। यदि आप ईश्वर को साक्षी करके यह कहें कि तू सह-मत हो गया था तो यों ही सही। वेदों के भाष्यों के विषय में आपकी खोज तो नयी ही निकली। अकबर बादशाह और दाराशिकोह के समय भाष्यों को पहले संसार से नष्ट कर देना था फिर यह वाक्य कहना था! यों तो सब बातें शोभा नहीं देतीं। उत्तर शीघ्र प्रदान कीजिये, दिन थोड़े रह गए हैं। आने वालों के सन्देश चले आते हैं। आपके हिस्से की लज्जा भी हमें ही उठानी पड़ती है। यदि आप थोड़ा-सा दान करें तो सबका मन बहल जाए।

१४ अगस्त सन् १८७८[1]। मुहम्मद कासिम।

---

१. प्रतीत होता है १३ अगस्त को लिखे पत्र के पश्चात् ही 'पुनः निवेदन

[पूर्ण संख्या ७३] पत्र-सूचना

[माधोलाल का पत्र १०) रु० का नोट २८ रु० के टिकट][1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ७४] पत्र-सूचना

... . ।

१४ अगस्त १८७८[2] मूलराज एम० ए०

—:o:—

[पूर्ण संख्या ७५] पारसल-सूचना

[डिप्लोमा, २ छपी चिट्ठी पारसल से मूलराज एम. ए. ने भेजा][3]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ७६] पत्र

'हिन्दू धर्म के नेता पण्डित दयानन्द सरस्वती जी[4],

ईश्वर हमको और आपको और सबको सत्यमार्ग दिखावे। इस

है' करके जो लेख आरम्भ किया था, वह १४ अगस्त को लिखा गया होगा। इस १३-१४ अगस्त को लिखे पत्र के उत्तर में ऋषि दयानन्द ने १५ अगस्त १८७८ को जो पत्र लिखा, वह 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' में पूर्ण संख्या १९३ पृष्ठ २५२-२६३ तक छपा है।

१. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के १५ अगस्त १८७८ को लिखे गये पूर्ण संख्या १९४ (पृष्ठ २६३) के पत्र से मिलती है।

२. इस तारीख के पत्र की सूचना ऋ० द० के १७ अगस्त १८७८ के पूर्ण संख्या १९६ (पृष्ठ २६४)के पत्र से मिलती है।

३. इस पारसल की सूचना ऋ० द० के १७ अगस्त १८७८ के पूर्ण संख्या १९६ (पृष्ठ २६४)के पत्र से मिलती है।

४. यह पत्र पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी संस्करण पृष्ठ ७८३ से लिया है। इस पत्र का जो उत्तर ऋ० द० ने दिया वह उनके पत्र और विज्ञापन में पूर्ण संख्या १९८ (पृष्ठ २६५-२६६) पर छपा है।

मौलवी साहब के एक ही तारीख के दो पत्र होने से जीवन चरित में आगे-पीछे छप गये हैं। हमने उन्हें दोनों पत्रों के वर्णन और उनके ऋ० द० द्वारा दिये गये उत्तरों का अध्ययन करके यहां यथाक्रम छापा है।

समय प्रातःकाल के पत्र का उत्तर पहुंचा। जी तो यूं चाहता था कि जब दूसरे पत्र का भी उत्तर आ लेता, तब उत्तर लिखता परन्तु पत्र-वाहक शीघ्रता करता है इसलिए यह निवेदन है कि आपकी और मेरी पहली भेंट नहीं। गतवर्ष मेरा बोलने का ढंग आप देख चुके हैं, उसके बदलने में चित्त का बहाव नहीं रहेगा और इससे अधिक शीघ्रता की शक्ति नहीं। इस अवस्था में आपसे हो सके तो लिख भेजियेगा और न हो सके तो आप जानिये। परन्तु यह आपत्ति कि जब तक यह नियम स्वीकार न किये जायें, मैं शास्त्रार्थ को अच्छा नहीं समझता—परदे में इंकार है। इससे अच्छा यह कि आप स्पष्ट ही इंकार करें और किसी का समय नष्ट न करें। हजारों शास्त्रार्थ हुए, हजारों सभायें हुईं, किसी ने यह नियम न किया था, आपको यह नियम सूझा। कारण इसका इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि आप शास्त्रार्थ से बचना चाहते हैं। पूर्वपत्र के उत्तर की प्रतीक्षा के अतिरिक्त और अधिक क्या निवेदन करूं।

१७ अगस्त सन् १८७८। (हस्ताक्षर) मुहम्मद कासिम।

—:०:—

[पूर्ण संख्या ७७] पत्र

हिन्दू धर्म के नेता स्वामी दयानन्द सरस्वती जी[1],

ईश्वर हमारा, आपका और सब का पथप्रदर्शन करे। प्रातःकाल एक पत्र आपकी सेवा में भेज चुका हूं। उसके अध्ययन से समस्त वृत्तान्त मालूम हो गया होगा और यह भी विदित हो गया होगा कि विवश होकर जिस प्रकार आप कहें—आप ही के मकान पर उपस्थित होने को तैयार हैं परन्तु दूरदर्शिता की दृष्टि से जैसे कल मैजिस्ट्रेट साहब की सेवा में एक प्रार्थनापत्र आज्ञा प्राप्त करने के लिये दिया था, आज कर्नल साहब की सेवा में एक प्रार्थनापत्र एतदर्थ दिया, परन्तु आपने जो उपद्रव की आशङ्का का कोलाहल मचाया तो न उन्होंने आज्ञा दी, न उन्होंने। दोनों ने सर्वथा निषेध किया।

---

१. यह पत्र पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७८३ से लिया है। इसका उत्तर जो ऋ० द० ने दिया वह उनके पत्र और विज्ञापन में पूर्ण संख्या १९९ (पृष्ठ २६६) पर छपा है।

कल का वृत्तान्त सुना होगा, आज का वृत्तान्त प्रार्थनापत्र की प्रतिलिपि और हुक्म की प्रतिलिपि से जो इस पत्र के साथ लगी हुई है—विदित होगा। इसलिए निवेदन है कि आपके मकान पर और रुड़की में तो यह शास्त्रार्थ हो ही नहीं सकता परन्तु रुड़की और छावनी के क्षेत्र से बाहर सम्भव है—जैसा कर्नल साहब के हुक्म से स्पष्ट प्रकट है, सो हमारी दृष्टि में तो ईदगाह का मैदान सबसे श्रेष्ठ है। यदि आप कहें तो वहीं सब प्रबन्ध किया जाये, हम सब काम कर लेंगे, आपको केवल पधारने ही का कष्ट होगा और ईश्वर ने चाहा तो यथासामर्थ्य आपके सन्तोष में कोई कमी न रखी जायेगी और आप विश्वास रखिये कि आपके और आपके साथियों के आतिथ्य और आदर-सत्कार में कोई उपेक्षा न की जावेगी। हमारा यह व्यवहार नहीं कि किसी के अपमान का विचार करें, प्रत्युत यदि किसी प्रकार का गुणवान् व्यक्ति हो तो हम उसका आतिथ्य अपने ऊपर आवश्यक समझते हैं। आप, परमात्मा ने चाहा तो उससे अधिक प्रसन्न रहेंगे जितना अपने मकान पर प्रसन्न रहते। आप, निस्संकोच दृढ़ संकल्प करें और बहुत शीघ्र हमको अपने अभिप्राय से सूचित करें ताकि अभी से ईदगाह के मैदान में या जहां आप कहें—विदित सामग्री भेज दें। अधिक क्या निवेदन करूं, उचित उत्तर का प्रतीक्षक हूं और यदि किसी प्रकार आपको किसी और स्थान पर पधारना स्वीकार हो नहीं तो अपने मकान पर शास्त्रार्थ की आज्ञा प्राप्त करके हम को सूचना दें।" इति।

१७ अगस्त सन् १८७८। (हस्ताक्षर) मुहम्मद कासिम

—:o:—

[पूर्ण संख्या ७८] पत्रांश[1]

हम दो हुक्म सुना चुके हैं। आप एक कर्नल साहब की आज्ञा प्राप्त करके सन्तोष करें। सार्वजनिक सभा न सही, हम थोड़े ही मनुष्यों सहित उपस्थित होंगे। कल भी लिखा आज फिर लिखता हूं।

(हस्ताक्षर) मुहम्मद कासिम

—:o:—

१. यह पत्रांश पं० लेखरामकृत जीवन चरित हिन्दी स० पृष्ठ ७८४ पर छपा है। वहां से हमने लिया है।

[पूर्ण संख्या ७९] पत्र-सारांश

[स्वामी दयानन्द सरस्वती]

[1]यह हुक्म कप्तान साहब का है। कप्तान साहब को उस से क्या सम्बन्ध जो उनको कष्ट देवें। इस बात का अधिकार कर्नल साहब को है। कप्तान साहब का कथन कहा परन्तु उनके इस लेख में यदि उस प्रथम बात की ओर संकेत है तो प्रकट हुक्म देने[2] के पश्चात् अब वह ध्यान देने योग्य नहीं है (अर्थात् जब वह पहले निषेध कर चुके तो हम इस हुक्म की ओर ध्यान नहीं देते)। एजेण्ट साहब और कर्नल साहब के हुक्म के पश्चात् हमको उस समय पकड़-धकड़ की आशङ्का तो है, छानबीन के करने के पश्चात् भी यही अर्थ निकलेंगे। आपका बंगला साहब की कोठी से बड़ा नहीं। घरेलू सामान के अतिरिक्त यदि उस में चौबीस पच्चीस की समाई है तो आप के बंगले में घरेलू सामान के अतिरिक्त कदाचित् बारह ही मनुष्य समायें। उसमें सिविल और छावनी के सज्जनों को निकाल देने के पश्चात् हमारे भाग में चार-पांच मनुष्य ही आयें तो आयें और यदि ठूंस-ठांस कर सौ पचास को भर ही दीजिये तो शेष दो सौ क्या आप के छप्पर पर बैठेंगे ? एक-एक वाक्य यदि लिखा जाए तो फिर मौखिक और लिखित शास्त्रार्थ में क्या भेद रहेगा ? इससे श्रेष्ठ यह है कि शास्त्रार्थ लिखित ही हो जाए। छः बजे से नौ बजे तक सारा शास्त्रार्थ का समय ठहरा, उसमें लिखने की भी पच्चर लगा दी जाये तो अर्थ हुए कि जाओ अपना काम करो।

१८ अगस्त सन् १८७८ मौलवी मुहम्मद कासिम

—:०:—

१. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७८६ पर छपा है। मौलवी साहब ने यह पत्र ऋ० द० के १८ अगस्त १८७८ के पूर्ण संख्या २०१ (पृष्ठ २६८-२६९) के पत्र के उत्तर में लिखा था।

२. मुसलमानों की ओर से १६ अगस्त १८७८ को मजिस्ट्रेट साहब रुड़की तथा कर्नल मानसल साहब को शास्त्रार्थ के स्थान के लिये पत्र लिखा गया था, उसका जो उत्तर उन्होंने दिया, उसकी ओर यह संकेत है। इसके लिये पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी संस्करण पृष्ठ ७८५ देखें।

[पूर्ण संख्या ८०] पत्र-सारांश

छपी हुई चिट्ठी २४ अगस्त को भेज देंगे।[1]

मूलराज एम० ए०

—:०:—

[पूर्ण संख्या ८१] पत्र

मा बाज फकीर मुहम्मद अब्दुल्ला[2], साकिन शहर मेरठ, मुहल्ला शामीबाड़ा दर खिदमत शामी दयानन्द प्रशाद से गुजारिश करता है कि आप दीन-ए-मुसलमानी पर चन्द ऐतराज करते हैं और यों भी कहते हैं कि जिसका दिल चाहे हमसे मुबाहिसा करे यानी बहस करे। और जो मसायलदर्यापत करे हम उसका फौरन जवाब देंगे। सो मुबाहसे के अन्दर बहुत शर्तें हों लेकिन इसमें पांच शर्तों का होना मुमकिन है। अव्वल यह कि सालिस का होना जरूर चाहिये यानी मुंसिफ का। और दोयम यह है कि जब तक मुबाहसा न हो चुके आपको कहीं जाना न होगा। सोयं यह है कि गुफ्तगू हमारी और तुम्हारी रहेगी। उसमें और कोई शख्श बोलने न पावेगा। चहारुम यह है कि खुदा को हाजिर व नाजिर जानकर और तास्सुब और नफसानियत को दूर करके शख्श मगलूब होये उसी वक्त हक को तस्लीम करे। और पंजुम यह है कि किसी रईस का बन्दोबस्त होना जायज है। और छः बजे से ४ बजे[3] तक मुबाहसा हो; क्योंकि बाद उसके रोजे का वक्त आ जाता है और गुफ्तगू तकरीरी चाहते हैं हम तहरीरी नहीं चाहते। अगर ये सब बातें आपको मंजूर हों तो जवाब इस का रुक्का हिजा की पुश्त पर दर्ज कर दीजियेगा। फिर इन्शा-अल्ला ताला आपसे मुबाहिसा रहेगा।[4]

अलबत—

मौलवी मुहम्मद अब्दुल्ला साहिब

---

१. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के २७ अगस्त १८७८ के पूर्ण संख्या २०४ (पृष्ठ २७०) से लिया है।

२. यह पत्र पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४३४-४३५ से लिया है। ३. यहां कदाचित् '४ बजे से ६ बजे तक' लिखना अभिप्रेत हो।

४. इस पत्र पर कोई तारीख नहीं दी गई है। इस पत्र का उत्तर ऋ०

॥ भावार्थ ॥

सब स्तुति परमेश्वर के वास्ते है जो पालन करने वाला है सब संसार का। इसके पश्चात् फकीर मुहम्मद अब्दुल्ला मुहल्ला स्वामीपाड़ा, मेरठ नगर निवासी, स्वामी दयानन्द की सेवा में निवेदन करता है कि आप मुसलमानी मत पर आक्षेप करते हैं और यह भी कहते हैं कि जिसका मन चाहे हमसे शास्त्रार्थ करे अर्थात् तर्क करे और जो सिद्धान्त पूछेगा हम उसका तत्काल उत्तर देंगे। सो शास्त्रार्थ के लिये यों तो बहुत सी शर्तें हैं परन्तु इन में पांच शर्तों का होना सम्भव है। प्रथम यह है कि मध्यस्थ अर्थात् न्यायकारी अवश्य होना चाहिये। और दूसरी यह है कि जब तक शास्त्रार्थ समाप्त न हो आपको कहीं जाना न होगा। तीसरी यह है कि बातचीत हमारी और तुम्हारी रहेगी, उसमें कोई व्यक्ति बोलने न पावेगा। चौथी यह है कि जो व्यक्ति पराजित हो वह ईश्वर को सर्वव्यापक और द्रष्टा जानकर और पक्षपात और स्वार्थ से रहित होकर उसी समय सत्य को स्वीकार करे और पांचवीं यह है कि किसी रईस का प्रबन्ध होना उचित है और छः बजे से ४ बजे तक[1] शास्त्रार्थ हो क्योंकि उसके पश्चात् रोजे का समय आ जाता है और बातचीत मौखिक चाहते हैं, हम लिखित नहीं चाहते। यदि ये बातें आपको स्वीकार हों तो इसका उत्तर इस पत्र की पीठ पर लिख दीजियेगा फिर ईश्वर ने चाहा तो आपसे शास्त्रार्थ रहेगा।

हस्ताक्षर— मौलवी मोहम्मद अब्दुल्ला साहब

—:o:—

[पूर्ण संख्या ८२] पत्र-सारांश

मुबाहसा तकरीरी होना चाहिये, तहरीरी नहीं।[2]

मौलवी मुहम्मद अब्दुल्ला साहिब

—:o:—

द० ने ७ सितम्बर १८७८ के पूर्ण संख्या २०८, (पृष्ठ २७२) के पत्र द्वारा दिया था।

१. पृष्ठ ७३ की टिप्पणी ३ देखो।

२. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४३६ पर निर्दिष्ट है। मौलवी मोहम्मद अब्दुला के जिस पत्र का सारांश ऊपर पर है, वह ऋ० द० के ७ सितम्बर १८७८ पूर्णसंख्या २०८ (पृष्ठ २७२) के पत्र के उत्तर में लिखा गया था।

[पूर्ण संख्या ८३] पत्र-सारांश

बलेश्वर महादेव में रविवार को धर्म निर्णय के लिये सभा होगी। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी सभा में आवें।[1]

६ सितम्बर १८७८ सत्यधर्म दक्षिणी सभा (मेरठ)
(विना हस्ताक्षर के)

—:०:—

[पूर्ण संख्या ८४] पत्र-सूचना

[माधोलाल का पत्र तथा १०।=)॥ की रकम][2]

—:०:—

[पूर्ण संख्या ८५] पत्र-सारांश

पण्डित श्री गोपाल जी यहां विद्यमान हैं। जिस दिन आप चाहें शास्त्रार्थ करें।[3]

सत्यधर्म दक्षिणी सभा (मेरठ)
(विना हस्ताक्षर के)

—:०:—

१. यह पत्र-सारांश तथा तारीख पं० लेखरामकृत जीवन चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४३६ पर छपी है।

२. दस रुपये साढ़े छ आने के साथ पत्र पहुंचने की सूचना ऋ० द० के १३ सितम्बर १८७८ के पूर्ण संख्या २१३ (पृष्ठ २७४) के पत्र में मिलती है। पत्र १० सितम्बर १८७८ वा उससे पूर्व भेजा गया होगा। १०।=)॥ की रकम पत्र में ही भेजी प्रतीत होती है।

३. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४३७ पर उद्धृत है। पं० लेखरामकृत जीवनचरित के अनुसार यह चिट्ठी १२ सितम्बर १८७८ के पश्चात् आई थी।

[पूर्ण संख्या ८६] **पत्र**

ओ[1]

स्वस्ती श्री ७ स्वामीजी महाराज योग्य लिखी लाहौर से बल्लभदास की चरणबंदना बंचनी ।। आगे महाराज जी आपकी रची हुई पुस्तक बहुत से ग्राहक चाहते हैं सो आपकी इच्छा हो तो इतनी पुस्तक मुंबई को लिखकर मेरे पास भिजवादें ।

आर्य्याभिविनय: १०० वेदविरुद्धमतखंडन ५०.
वेदांतध्वांतिनिवारण ५०.
सत्यासत्यविचार ५०.
शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारणोऽयङ्ग्रन्थ: ५०.

और जो कोई पुस्तक आपकी रची हुई हो सो भिजवाद जादा शुभ
ता० १५ सितंम्बर सन् १८७८ ई०
द० बल्लभदास[2] ।। रवीवार ।।

—:०:—

१. यह पत्र डा० धीरेन्द्र वर्मा (प्रयाग) के संग्रह में था। उनके संग्रह में ऋ० द० के द्वारा लिखे गये २५ पत्र और भी थे। प० भगवद्दत्त जी डा० धीरेन्द्रवर्मा से उनकी प्रतिलिपि प्राप्त करके 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' में यथास्थान छाप चुके थे। बल्लभदास का पत्र अन्य सग्रह में (जिसमें ऋ० द० को लिखे गये पत्र छापने थे) में छापने के लिए सुरक्षित रख छोड़ा था। परन्तु देशविभाजन काल (सम् १९४७) में लाहौर में छूट जाने से नष्ट हो गया था। इस पत्र के ऊपर ऋ० द० ने अपने हाथ से दो ढाई पंक्तियां लिख कर इसे पं० श्यामजी कृष्णवर्मा के पास बम्बई भेजा था। ऋ० द० की इन पंक्तियों को हम 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' की पूर्ण संख्या २१८ (भाग १, पृष्ठ २८०) पर 'पत्र-टिप्पणी' के रूप में छाप चुके हैं। हमारी प्रार्थना पर डा० धीरेन्द्र वर्मा के सुपुत्र श्री राजेन्द्र कुमार जी अकाउण्टेण्ट जनरल (पंजाब सरकार) चण्डीगढ़ ने अपने पिता जी के संग्रह मे विद्यमान सभी (२६) पत्रों की प्रतिकृति (=फोटो स्टेट कापी) कराकर हमें प्रदान की। उसी के आधार पर अब यह पूर्ण पत्र छापा जा रहा है।

२. मूल पत्र में बल्लभदास ने बारीक अक्षरों में महाजनी (मुड़िया) लिपि में हस्ताक्षर किये हैं। इस लिपि में मात्राएं नहीं होतीं। श्री बल्लभदास आर्यसमाज लाहौर के पुस्तकाध्यक्ष थे।

[पूर्ण संख्या ८७] **विज्ञापन-सारांश**

इस सभा में धर्म का उपदेश होगा और स्वामी दयानन्द सरस्वती शास्त्रार्थ के लिये बुलाये गये हैं।[1]

१६ सितम्बर १८७८ सत्यधर्म रक्षिणी सभा (मेरठ)
(विना हस्ताक्षर के)

—:०:—

[पूर्ण संख्या ८८] **पत्र-सारांश**

आपको सभा में ला० शिब्बनलाल के मकान पर आकर पण्डितों से शास्त्रार्थ करना चाहिये।[2]

सत्यधर्म रक्षिणी सभा (मेरठ)
(विना हस्ताक्षर के)

—:०:—

[पूर्ण संख्या ८९] **पत्र-सूचना**

[रजिस्टर्ड पत्र][3]

सत्यधर्म रक्षिणी सभा (मेरठ)
(विना हस्ताक्षर के)

—:०:—

[पूर्ण संख्या ९०] **शास्त्रार्थ-नियम पत्र**

१—[4]उन लोगों के नाम जिनको सभा के प्रबन्धक झगड़ने वालों

---

१. यह विज्ञापन-सारांश तथा तारीख का निर्देश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४३८ पर उद्धृत है।

२. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४३८ पर उद्धृत है। पत्र उर्दू लिपि में लिखा था। तारीख का उल्लेख नहीं है। सम्भव है पूर्व पूर्ण संख्या ५४० पर मुद्रित विज्ञापन के दिन ही यह पत्र भेजा गया होगा।

३. इस पत्र की सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४३९ पर मिलती है।

४. यह पं० गोपाल द्वारा प्रस्तावित तथा स्वामीजी की सेवा में प्रेषित नियम पं. लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४४३-४४४ तक छपे हैं।

में मानते हैं अर्थात् **प्रथम पक्ष**[1]—१—ला० किशनसहाय साहब २—ला० बख्तावर सिंह साहब ३—हकीम बलदेवसहाय साहब ४—ला० अम्बाप्रसाद साहब वकील ५—ला० तुलसीधर साहब वकील ६—ला० हुलासराय साहब साहू। और **दूसरा पक्ष**—१—ला० रामसरन दास साहब २—बाबू छेदीलाल साहब ३—ला० गणेशीलाल साहब ४—ला० जगन्नाथ साहब ५—पंडित गंगाराम साहब ६—ला० कुन्दनलाल साहब मास्टर।(इसमें कुछ नाम और होने चाहियें अर्थात् ला० हरसहाय साहब साहू, ला० शिब्बनलाल साहू, ला० मुरारिलाल साहब, हकीम लछमन नारायन साहब, स्वामी लेखराज साहब, मोती गोबिन्द प्रसाद साहब, ला० प्यारेलाल साहब, ला० बन्सीधर शिव प्रसाद साहब, बाबू गंगानारायन साहब गुमाश्ता कमसिरियट)।

२—हमारी दृष्टि में यदि साहब कलक्टर बहादुर जिला बुलन्द शहर, जो शास्त्रार्थ-विद्या का पर्याप्त ज्ञान रखते हैं—मध्यस्थ नियत होवें तो बहुत अच्छा है क्योंकि बिना मध्यस्थ के वेदों के सत्यासत्य अर्थों का निश्चय असम्भव है और एक मध्यस्थ नियत होने के विषय में ला० गंगासहाय से भी मौखिक बातचीत करली है और मध्यस्थ के नियुक्त किये बिना धर्मशास्त्र सम्बन्धी सभा करने का नियम नहीं है।

३—सभा में उपस्थित[2] होने वालों की संख्या नियत करने और टिकट जारी करने की कुछ आवश्यता नहीं। निषेध करने की अवस्था में अपकीर्ति का होना सम्भव है। समस्त प्रवन्धकर्त्ताओं को इसका ध्यान रहेगा और प्रबन्ध का उत्तरदायित्व उन पर होगा क्योंकि प्रवन्ध बिगड़ने की दशा में कीर्ति अथवा अपकीर्ति उनकी है।

---

१. आगे लिखे गये नाम आर्यसमाज मेरठ और ऋ० द० की सम्मति से लिखे गये थे। साथ ही शास्त्रार्थ के नियम भी लिखे थे। द्र० 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' (पूर्ण संख्या २१४ भाग १, पृष्ठ २७५-२७८)।

२. इस शर्त में पूर्ण अराजकता और उपद्रव होने की संभावना है। जब प्रत्येक अच्छा बुरा और पक्षपात पूर्ण मनुष्य भी सभा में सम्मिलित हो और कोई व्यक्ति दुष्कर्मी का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेवे तो फिर प्रबन्ध और शान्ति कहां ?

४—पंडित साक्षर हों; उनकी कुछ संख्या आवश्यक नहीं है। निरक्षरों को लाना व्यर्थ है।

५—ग्रन्थों[1] के बारे में नागरी चिट्ठी पत्र के साथ है। आप लिखते हैं कि वेदों से विरुद्ध वचन का प्रमाण ग्रन्थों में भी हो तो न माना जायेगा। विदित हो कि इसीलिये एक मध्यस्थ का नियुक्त करना—जो झूठ सच को विना किसी का पक्ष किये साफ-साफ प्रकट करे—आवश्यक है।

६—यह[2] लिखना आपका अत्यन्त पसन्द है कि सब सज्जनों को सच्चाई का अनुकरण करना चाहिये।

७—सभा का समय[3] चार बजे से सात बजे तक रहेगा और पांच मिनट प्रश्न लिखने, और १५ मिनट उत्तर लिखने के लिये बहुत कम हैं क्योंकि संस्कृत का लिखना ऐसा नहीं है कि इतना समय लिखने के लिये पर्याप्त हो। इसलिए प्रश्नोत्तर विना समय के नियन्त्रण रहें तो श्रेष्ठ है और सभा के मकान का निश्चय सभा के प्रबन्धकों की सम्मति पर होगा।

८—यह जो आप ने लिखा है कि—'सन्देह निवृत्ति के लिये कोई पंडित काशीजी या महाराजा जम्मू के यहां से दो दिन में तार भेज-कर ६ दिन के भीतर बुला लीजिये'—भला यह कब सम्भव है? वह पंडित कोई हमारे और तुम्हारे नौकर नहीं हैं जो इतने थोड़े समय में आ जावें। यह बात असम्भव है परन्तु सब बातों के निश्चित हो जाने के

---

१. जब प्रत्येक विवदास्पद बात के शब्दों और लेख का स्पष्टीकरण विश्वसनीय पुस्तकों द्वारा—जिनको दोनों पक्षों ने स्वीकार कर रखा है—भली भाँति हो सकता है और पक्षपातरहित मध्यस्थ का मिलना कठिन है तो सभा में उपस्थित लोग, मध्यस्थ की उपस्थिति के विना थोड़ी सहायता द्वारा ही, सन्तोष प्राप्त कर सकेंगे।

२. इससे प्रकट है कि सत्य का अनुकरण तो करें परन्तु यदि न करें तो अधर्म होगा—यह स्वीकार नहीं है।

३. इसका भय नहीं कि समय बढ़ा दिया जावे परन्तु विना समय का नियन्त्रण किये प्रत्येक पक्ष को अधिकार रहेगा कि कितने ही लम्बे समय तक अपने भाषण को समाप्त न करे। ऐसी अवस्था में ध्येय की प्राप्ति असम्भव है।

पश्चात् कोई विशेष व्यक्ति उपर्युक्त दोनों स्थानों को न भेजा जावेगा —किसी पंडित जी का ऐसे स्थान से आना कठिन है। इसलिये निवेदन है कि यदि आपको हृदय से इस आवश्यक बात का निर्णय कराना स्वीकार है तो विद्वान् पंडित लोगों के यहां पधारने तक आप भी यहां विराजिये और जो उनके यहां[1] पधारने तक आपको यहां ठहरना अच्छा न लगे तो ऐसा मनुष्य बताइये कि जो मध्यस्थ होने के योग्य हो अर्थात् वेदार्थ का और उन ग्रन्थों का ज्ञाता हो जिनको दोनों पक्ष स्वीकार करें।

विचारणीय है कि जब तक कोई मनुष्य मध्यस्थ नियत न होगा तब तक इस बात का भली-भांति निश्चय न हो सकेगा कि कौन सत्य कहता है और कौन झूठ कहता है और दोनों पक्षों में किसके अर्थ ठीक हैं। यदि आपका यह विचार हो कि ग्रन्थों के अनुसार हम साक्षी दे देंगे तो भी उन ग्रन्थों के अर्थों का निश्चय करने वाला चाहिये। सारांश यह है कि मध्यस्थ को नियुक्त किये विना सभा का प्रबन्ध पूरा-पूरा नहीं हो सकता। इस दशा में इस पत्र को पढ़ने के पश्चात् पंडित लोगों को बुलाने और मनुष्य भेजने के विषय में आप बहुत शीघ्र लिखिये ताकि मनुष्य भेजे जावें और कृपा करके सब बातों का उत्तर साफ-साफ और विस्तारपूर्वक दें। इति। उत्तर की प्रतीक्षा है।

लिखने की तिथि—१७[2] सितम्बर सन् १८७५"।

—:०:—

[पूर्ण संख्या ९१] पत्र-सारांश

पण्डितों के मुख से विदित हुआ कि आप वेद के विरुद्ध उपदेश करते हैं और इस प्रकार का लेख था जिसका लिखना यहां उचित

---

१. इस शर्त में पंडितों के पधारने के लिये कोई थोड़ा या बहुत समय नियत करना चाहिए था क्योंकि "उनके यहां पधारने तक" इन शब्दों के रहने से सृष्टि के अन्त तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है इसलिये ऐसी कौन स्वीकार करेगा ?

२. यह पत्र १८ को स्वामीजी के पास आया परन्तु १७ सितम्बर सन् १८७८ की तिथि के हस्ताक्षर भूल से उस पर किये गये थे।

नहीं और न उस से कार्य सिद्धि का प्रयोजन था।[1]

सत्यधर्म रक्षिणी सभा (मेरठ)
(बिना हस्ताक्षर के)

—:o:—

[पूर्ण संख्या ९२] पत्र-सारांश

नं० १६४

आप आगे किन-किन तारीखों में कहां-कहां रहेंगे ?[2]

२० सितम्बर १८७८ माधोलाल

—:o:—

[पूर्ण संख्या ९३] पत्र-सारांश

आप वेद बिलकुल नहीं जानते और आप पथ भ्रष्ट हैं और हमारे पंडित विद्वान् हैं। हम को हमारे पण्डित जैसे श्रीधर जी कहते हैं और लिखते हैं कि जब तक अपना वर्ण और आश्रम निश्चित न कर देंगे तब तक हम को आप के पास आना नहीं चाहिये और न पण्डितों को आप से संभाषण करना चाहिये।[3]

सत्यधर्म रक्षिणी सभा (मेरठ)
(बिना हस्ताक्षर के)

---

१. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४४५ पर निर्दिष्ट है। यह पत्र ऋ० द० के १८ सित० १८७८ के पूर्णसंख्या २१५ (ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ २७९ पर मुद्रित पत्र) के उत्तर में था। उक्त पत्र-सारांश के उत्तर में ऋ० द० ने एक विस्तृत पत्र लिखा था, जिसका सारांश पं० लेखराम कृत जीवन चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४४५ पर छपा है।

२. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के २३ सितम्बर १८७८ के पूर्ण संख्या २२२ (पृष्ठ २८२) के पत्र से बनाया है। उसी पत्र में पत्र नं० तथा तारीख का भी उल्लेख है।

३. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी संस्करण पृष्ठ ४४५ पर मुद्रित है।

[पूर्ण संख्या ९४] **पत्र-सूचना**

[बम्बई से श्यामजी कृष्ण वर्मा का पत्र][1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ९५] **पत्र-सूचना**

[ठाकुर रनजीत सिंह जयपुर का पत्र जयपुर बुलाने के लिये।][2]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ९६] **पत्र-सारांश**

नं० १८१

मैं आपसे मिलना चाहता हूं। देहली में किस स्थान पर आप मिलेंगे।[3]

१३ अक्टूबर १८७८ माधोलाल

—:o:—

[पूर्ण संख्या ९७] **पत्र-सारांश**

पुस्तकों का जो रुपया हमारे पास है, शीघ्र भेजेंगे।[4]

रामाधार वाजपेयी

—:o:—

१. यह पत्र सूचना ऋ० द० के ७ अक्टूबर १८७८ के पूर्ण संख्या २२६ (पृष्ठ २८४) के पत्र में मिलती है।

२. इस पत्र की सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४५० से मिलती है।

३. यह पत्र सारांश १३ अक्टूबर के माधोलाल के पत्र के उत्तर में ऋ० द० ने १५ अक्टूबर १८७८ को लिखे पूर्ण संख्या २२९ (पृष्ठ २८६) के पत्र के आधार पर बनाया है। इसी पत्र में पत्र नं० तथा तारीख का भी निर्देश है।

४. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के पूर्ण संख्या २३१ (पृष्ठ २८८) के पत्र के आधार पर बनाया है। ऋ० द० के पत्र पर तिथि नहीं है।

[पूर्ण संख्या ९८] पत्र-सारांश

......४६ रु० की हुण्डी दूसरे लिफाफे में भेजी है।[1]

रामाधार बाजपेयी

—:o:—

[पूर्ण संख्या ९९] पत्र-सूचना

[अजमेर निवासियों की ओर से अजमेर आने के लिये पत्र लिखा।][2]

समर्थदान

—:o:—

[पूर्ण संख्या १००] पत्र-सारांश

मकान आदि का प्रबन्ध कर लिया है। आप पधारें। यहां सब प्रकार की तैयारी है।[3]

[समर्थदान]

अजमेर

—:o:—

[पूर्ण संख्या १०१] पत्र

अजमेर

१७ अक्टूबर सन् १८७८

स्वामी जी महाराज![4]

बड़ा दुःख है कि हमने आप के यहां आने का सुझाव रखा था

---

१. यह पत्र सारांश ऋ० द० के २० तथा २२ अक्टूबर १८७८ के पूर्ण संख्या २३८ तथा २४३ (पृष्ठ २९१, २९४) के पत्रों के आधार पर बनाया है।

२. इस पत्र की सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४५२ पर मिलती है। यह पत्र दिल्ली भेजा गया था। ऋ० द० दिल्ली ३ अक्तूबर से ६ नवम्बर १८७८ तक रहे थे।

३. इस पत्र-सारांश का उल्लेख पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं०, पृष्ठ ४५३ पर मिलता है।

४. यह पत्र पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४५३ पर छपा है। इस का संकेत ऋ० द० के २१ अक्टूबर १८७८ के पूर्ण संख्या २३९ के पत्र (पृष्ठ २९२) में भी मिलता है।

और समर्थदान जी ने भी अत्यन्त प्रयत्न किया। चन्दा लिखा तो गया, परन्तु प्राप्त होने की आशा नहीं। सो फागुन तांई अवश्य प्रबन्ध पक्का हो जावेगा। समर्थदान आपको यह सूचना देना नहीं चाहते, परन्तु प्रयत्न कर रहे हैं। सो सब मनुष्य समर्थदान से अप्रसन्न हो गये हैं और बुरा भला कहते हैं। अब समर्थदान पछताते है कि आप को पहले लिख दिया। सो अब आप राह न देखें। फागुन में सब काम पक्का रखेंगे तब आप अनुग्रह करके हमारी अभिलाषा को तृप्त करना। यहां आर्यसमाज जारी करने का विचार है।

आपका दास
जुगलबिहारी शर्मा
कालिज अजमेर

—:o:—

[पूर्ण संख्या १०२] मनि-आर्डर

४६ रुपये भेजे जाते हैं।[1] रामाधार बाजपेई

—:o:—

[पूर्ण संख्या १०३] पत्र-सूचना[2]

[माधोलाल का पत्र]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १०४] पत्र-सारांश

[आप का पत्र मिला।[3]] जुगलबिहारी शर्मा के नाम से पत्र किसी ने झूठा लिख भेजा है। यहां सब तैयारी कर ली है। आप पधारो।[4]

[सम्भवतः २५ अक्टूबर १८७८] समर्थदान

---

१. इस मनि-आर्डर की सूचना ऋ० द० के २३ अक्टूबर १८७८ के पूर्ण संख्या २४३ (पृष्ठ २९४) के पत्र से मिलती है।

२. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के २६ अक्टूबर १८७८ पूर्ण संख्या २४५ (पृष्ठ २९५) के पत्र से मिलती है।

३. द्र० ऋ० द० का पूर्ण संख्या २९३ का पत्र।

४. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४५३

[पूर्ण संख्या १०५] पत्र-सारांश

मैं आप के पास रहकर पढ़ना चाहता हूं।[1]

गण्डासिंह

—:०:—

[पूर्ण संख्या १०६] पत्र-सारांश

श्यामजी कृष्णवर्मा को वेदभाष्य का काम सौंपने के बाबत एक दो दिन में लिखूंगा।[2]

हरिश्चन्द्र चिन्तामणि

—:०:—

[पूर्ण संख्या १०७] पत्र-सूचना

श्याम जी कृष्णवर्मा का पत्र।[3]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १०८] पत्र-सारांश

हम श्याम जी कृष्ण वर्मा से मिलकर अवश्य सम्मति करेंगे[4]।

लीलाधर हरिदास

पर छपा है। ऋ० द० के २१ अक्टूबर १८७८ के पूर्ण संख्या २३९ (पृष्ठ २९२) पर छपे पत्र के उत्तर में समर्थदान ने एक विस्तृत पत्र लिखा था। उसका यह सारांश है।

१. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के ३१ अक्टूबर १८७८ के पूर्ण संख्या २५२ (पृष्ठ ३००) के आधार पर बनाया है।

२. इस पत्र-सारांश का निर्देश ऋ० द० के २ नवम्बर १८७८ को गोपालराव हरि देशमुख को लिखे पूर्ण संख्या २५३ (पृष्ठ ३०२) तथा श्याम जी कृष्णवर्मा को लिखे पूर्ण संख्या २५४ (पृष्ठ ३०३) के पत्र में मिलता है।

३. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के २ नवम्बर १८७८ के श्याम जी कृष्ण वर्मा को लिखे पूर्ण संख्या २५४ (पृष्ठ ३०३) के पत्र के आरम्भ में मिलती है।

४. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के २ नवम्बर १८७८ को श्याम जी कृष्णवर्मा को पूर्ण संख्या २५४ (पृष्ठ ३०३) के पत्र में निर्दिष्ट है।

[पूर्ण संख्या १०९] पत्र-सारांश

वर्ष दिन के अन्त तक हम काम नहीं छोड़ सकते। इसमें हमारी बदनामी होगी।[1]

हरिश्चन्द्र चिन्तामणि

—:o:—

[पूर्ण संख्या ११०] पत्र-सारांश

आप नसीराबाद छावनी भी पधारें और यहां सत्यधर्म का उपदेश करें ताकि यहां की भी कुछ अविद्या दूर हो।.........जब आप यहां आवें और सत्योपदेश से यहां सत्यधर्म की चर्चा फैला तब मैं प्रसन्न हो कर यह दोहा पढ़ूंगा—

मंगल रूप बन हुए तब से।
कीन्ह निवास रमापति जब से॥[2]

नसीराबाद छावनी सुखदेवप्रसाद

—:o:—

[पूर्ण संख्या १११] तार-सूचना

[कंद के समाचार जानने के लिये जयपुर तार दिया][3]

१९ दिसम्बर १२ बजे उमराव, रुड़की

—:o:—

१. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के १० नवम्बर १८७८ को श्याम जी कृष्ण वर्मा को पूर्ण संख्या २६० (पृष्ठ ३०७) के पत्र में निर्दिष्ट है। इस का जो उत्तर ऋ० द० ने दिया वह पूर्ण संख्या २५९ (पृष्ठ ३०७) पर छपा है।

२. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४५९ पर निर्दिष्ट है। यह पत्र लेखक द्वारा नवम्बर मास १८७८ के अन्त में मसूदा में ऋ० द० का निवास जानकर लिखा गया था (द्र० वही ग्रन्थ, वही पृष्ठ)।

३. इस तार की सूचना पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ५८१ पर मिलती है। वहीं तार देने की तारीख वा समय दिया हुआ है। इसके उत्तर में ऋ० द० ने जो तार दिया वह पूर्ण संख्या २७६ (भाग १, पृष्ठ ३१६) पर छपा है।

[पूर्ण संख्या ११२] पत्र-सारांश

मुझ को विरोधियों ने विश्वास करा दिया था, कि स्वामी जी मर गये हैं। मैं बड़ा शोकातुर था, परन्तु अब सुना कि आप जीवित हैं, मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।[1]

[नाम अज्ञात]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ११३] पत्र-व्यवहार-सूचना

[रिवाड़ी के राव तुलाराम[2] के पुत्र राव युधिष्ठिर सिंह के साथ पत्र व्यवहार[3]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ११४] पत्र-सूचना

[प्यारेलाल लाहौर का पत्र][4]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ११५] पत्र-सारांश

आप हनुमान के मन्दिर में पधारें। वहां हमारा और आप का सम्भाषण होगा।[5]

रिवाड़ी

पं० राम सहाय

पं० राम सेवक (गुजराती)

---

१. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४६५ पर उद्धृत है। यह रिवाड़ी निवासी (२५ दिसम्बर १८७८ से ९ जनवरी १८७९) के प्रसङ्ग में है।

२. रिवाड़ी के राव तुलाराम (८५ ग्रामों के जमीदार) ने सन् १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

३. यह सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४६३ पर मिलती है।

४. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के जनवरी १८७९ को प्यारेलाल के नाम लिखे गये पूर्ण संख्या २७८ (पृष्ठ ३१६) से मिलती है।

५. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ४६४ पर निर्दिष्ट है।

[पूर्ण संख्या ११६] पत्र-सूचना

[कृपाराम स्वामी का १ फरवरी १८७९ का रजिस्टर्ड पत्र][1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या ११७] पत्र-सारांश

अमेरिका वाले कुछ धन भेजना चाहते हैं।[2]

हरिश्चन्द्र चिन्तामणि

—:o:—

[पूर्ण संख्या ११८] पत्र-सारांश

७०० सात सौ रुपयों जो कर्नल अल्काट आदि के द्वारा हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के पास भेज हुए हैं, क्या किया जाये ?[3]

२४ फरवरी १८७९ श्याम जी कृष्ण वर्मा

—:o:—

---

१. इस पत्र की तथा तारीख की सूचना ऋ० द० के माघ शु० १० सं० १९३५ (=२ फरवरी १८७९) को लिखे पूर्ण संख्या २८६ (पृष्ठ ३२५) के पत्र से मिलती है।

२. इस पत्राशय की सूचना ऋ० द० के २५ मई १८७९ के पूर्ण संख्या ३२० (पृष्ठ ३५५) के पत्र में मिलती है। अगले पूर्ण संख्या २४ फरवरी १८७९ के श्याम जी पत्र से पहले का होगा।

३. यह पत्र सारांश ऋ० द० के १ मार्च १८७९ के पूर्ण संख्या २८७ (पृष्ठ ३२६) के पत्र तथा आगे पूर्ण संख्या ६४८ (पृष्ठ ६७५) पर ३१ मार्च सन् १८८२ को ओरियण्टल प्रेस बम्बई में छापे गये **'थियोसोफिस्टों की गोलमाल पोलपाल'** विज्ञापन के तीसरे पैरे(=सन्दर्भ)पृष्ठ ५४९ में तथा उसकी टिप्पणी के आधार पर बनाया है। पत्र की तारीख का निर्देश भी ऋ० द० के पूर्ण संख्या २८७ के पत्र में है। मूल पत्र पं० भगवद्दत्त जी के पास लाहौर में था, जो कि देश विभाजन के समय नष्ट हो गया। देखो ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पूर्ण संख्या ६४८ का विज्ञापन(भाग २)पृष्ठ ६७५ की टिप्पणी १।

[पूर्ण संख्या ११९] पत्र-सारांश

कर्नल आलकाट आदि बम्बई पहुंच गये हैं। आप बम्बई आकर मिलें। यदि आप न आये तो यहां का समाज टूट जायेगा।[1]

२६ फर्वरी १८७९ श्याम जी कृष्ण वर्मा

—:o:—

[पूर्ण संख्या १२०] पत्र-सारांश

पुस्तकों का मूल्य तीन करेंसी नोट २० रु० के और पांच आना के टिकट के रूप में भेज रहे हैं। यहां आर्य संस्कृत पाठशाला आरम्भ करने का यत्न कर रहे हैं। उसके लिये १०२।– की सहायतार्थ एकत्रित हुए हैं। सत्यार्थप्रकाश की कितनी प्रतियां मिल सकती हैं? वेदभाष्य का कौन सा अंक छपा है।[2]

१३ मार्च १८७९ माधोलाल

—:o:—

[पूर्ण संख्या १२१] पत्र-सारांश

[3]स्वामी जी कृपा कर के एक ऐसी पुस्तक बना दें कि जिस से यह बात विना पक्षपात के सिद्ध हो जावे कि जो लोग हिन्दू धर्म से दूसरे मत में चले गये हों वह वापिस आ सकते हैं और यह भी प्रमाण दें, कि सम्भव हो सके, कि ईसाई, मुसलमान या अन्य जातीय आर्य धर्म में आ सकते हैं और उन के साथ खान-पान में कुछ दोष नहीं है।

महाराजा जम्मू कश्मीर

—:o:—

---

१. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के ४ मार्च १८७९ के पूर्ण संख्या २८६ (पृष्ठ ३२५) के पत्र के आधार पर बनाया है। पत्र की तारीख भी इसी पत्र में निर्दिष्ट है।

२. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के १६ मार्च १८७९ को लिखे गये पूर्ण संख्या २९३ (पृष्ठ ३३१) के पत्र में निर्दिष्ट है।

३. यह पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६५४

[पूर्ण संख्या १२२] **पत्र-सूचना**

[हिन्दू पण्डितों की ओर से शास्त्रार्थ के लिये पत्र][1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १२३] **पत्र-सारांश**

हम किसी के स्थान पर शास्त्रार्थ को नहीं आते, स्वामी जी हमारे स्थान पर आवें।[1]

श्रद्धाराम
चतुर्भुज

—:o:—

[पूर्ण संख्या १२४] **तार**

आप यहां पधारें। हम आप के दर्शन करना चाहते हैं[2]।

बम्बई

कर्नल आल्काट

—:o:—

[पूर्ण संख्या १२५] **विज्ञापन-सारांश**

हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के विरुद्ध सनातन धर्म का उपदेश जूना-अखाड़ा में करते हैं, जिन सज्जनों को सुनना हो वह अवश्य

पर उद्धृत है। इस लेख से पूर्व यह उल्लेख है—'महाराजा साहब का एक पत्र भी स्वामी जी को दिया जिस पर महाराजा की मोहर थी और यह लिखा हुआ था कि'। यह घटना सं० १९३५=सन् १८७९ के कुम्भ के मेले के समय की है।

१. यह पत्र-सूचना तथा अग्रिम पत्र-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६५५ पर निर्दिष्ट है।

टिप्पणी— क्या इन दोनों पूर्णसंख्या १२२-१२३ के पत्रों का सम्बन्ध पूर्ण संख्या १२६ (भाग ३, पृष्ठ ९१) पर मुद्रित पत्र के साथ है? हमारे विचार में घटना का वर्णन करने हारे व्यक्तियों के भेद के कारण पं० लेखराम जी ने पृथक् पृथक् निर्देश किया है।

२. इस तार का उल्लेख पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६६२ पर मिलता है। यह तार पर्वी (=वैशाखी=१३ अप्रेल) से ८-९ दिन पूर्व प्राप्त हुआ था।

सभा को सुशोभित करें[1]।

धर्म सभा (हरद्वार)

—:०:—

[पूर्ण संख्या १२६] पत्र

"श्री गणेशाय नमः।

श्री दयानन्द सरस्वती जी प्रति निवेदन।

निम्नलिखित साधुवर्ग और पंडित-जन तथा सभासद् लोगों की प्रार्थना यह है कि तीन चार दिन से नित्य चार बजे से ६ बजे पर्य्यन्त धर्मविषयक सत्यासत्यविचार होता है और यह भी ज्ञात भया कि जब से जूना अखाड़ा मायादेवी के पास अलीगढ़ सत्यधर्मावलम्बी सभा का प्रारम्भ भया तबसे इस सभा से आपके पास पत्र भेजे गये और यह पत्र भेजते हैं। यदि इस सभा में आकर आप भी कुछ वक्तृता करें तो इसमें दो फल हमको दीखते हैं। एक यह कि एकान्त बैठकर जो वेदशास्त्र द्वारा व्याख्यान देते रहते हो और विद्वानों के सामने वक्तृता करने में सबको यह ठीक निश्चित हो जायेगा कि आपका कथन वेद और शास्त्र के अनुसार है या नहीं; दूसरा यह

यदि आपका कहना वेद और शास्त्र के अनुसार निकला तो हम सब आपके मतप्रतिपादन में उद्यत हो जायेंगे और इस एक भाव से आर्य्यावर्त्त का बड़ा भारी लाभ होगा। आप कृपा करके सभा में अवश्य पधारें। यदि किसी हेतु से आना न हो तो वह हेतु लिखियेगा।" "पंडित गोविन्दलाल देवबन्दी, सतुआ स्वामी, केशवाश्रम स्वामी, चिद्घनानन्द स्वामी, पंडित श्रीधर डासनावाले, वैकुण्ठ शास्त्री पूना, शालिग्राम आचारी मभवा, गोविन्दाचारी चित्रकूट, गोपाल शास्त्री जम्मू, तारानाथ भट्टाचार्य्य, पंडित सीताराम, मनोहर दास पंडित, कोशल शास्त्री, खाकियों के पंडित अयोध्यादास, शत्रुघ्न शास्त्री, बांके बिहारी वाजपेयी, श्री वैष्णवों के पंडित नरसिंह शास्त्री, पंडित सुखरामदास महन्तन के खालसा, गदाधर शास्त्री, पंडित श्रद्धाराम फिलौरी, पंडित जवाहरलाल अहमदाबादी, पंडित शंभुदत्त, पंडित वीरभानु, पंडित गणेशीलाल ज्वालापुरी, अतुल

---

१. यह विज्ञापन-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६६२ पर छपा है।

अविनाश पंडित काशी, पंडित भगवद्दत्त अलीगढ़, पंडित वासुदेव शास्त्री, पंडित केशवदत्त, पंडित लेखराज जलालाबादी ।"[1]

वैशाख कृष्ण प्रतिपदा [सं० १९३६]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १२७] पत्र-सारांश

बहुत से असभ्य और अविद्वान् मनुष्य उपद्रव करने की इच्छा से एकत्रित हुए हैं। आप कदापि उन लोगों की बात पर ध्यान न दें और मैं ऐसे लोगों के कहने से सभा का मध्यस्थ नहीं हो सकता जिस में कि आप जैसे विद्वान् शास्त्रार्थ करें।[2]

विशुद्धानन्द

—:०:—

[पूर्ण संख्या १२८] पत्र-सारांश[3]

वेदभाष्यभूमिका का मूल्य प्रयाग में पं० सुन्दरलाल जी को भेज दिया है। यहां संस्कृत की पाठशाला खोलने का प्रयत्न हो रहा है। क्या कुरान नागरी में तैयार हो गया है? अष्टाध्यायी भाष्य कितना तैयार हो गया है।

माधोलाल

—:०:—

[पूर्ण संख्या १२९] तार-सूचना

[कर्नल आलकाट का सहारनपुर से तार][4]

---

१. यह पत्र पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६६२-६६३ पर मुद्रित है। इस का उत्तर ऋ० द० ने जो दिया था, उसका आशय पूर्ण संख्या ३०२ (पृष्ठ ३३५) पर मुद्रित है।

२. यह सारांश ऋ० द० के पूर्ण संख्या ३०४ (पृष्ठ ३३६) के पत्र के उत्तर में लिखा गया था। यह पत्र-सारांश पं० लेखराम कृत जीवन-चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ६५५ पर उद्धृत है।

३. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के २४ अप्रेल १८७९ के पूर्ण संख्या ३१० (पृष्ठ ३४१) के अनुसार बनाया है।

४. इस तार की सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ

[पूर्ण संख्या १३०] शास्त्रार्थ-नियम

[1]शास्त्रार्थ-सम्बन्धी नियमों के निश्चयार्थ दोनों पक्षों के चुने गये व्यक्ति

आर्य्यों की ओर से

१—स्वामी दयानन्द सरस्वती जी।

२—मास्टर गेंदनलाल साहब बी० ए०।

३—बाबू आनन्दलाल साहब मन्त्री आर्यसमाज व सम्पादक "आर्य्य समाचार"।

४—राय[2] बख्तावरसिंह साहब सब जज बहादुर, मेरठ।

५—मास्टर अयोध्या प्रसाद साहब।

६—ला० गंगासहाय साहब।

७—बाबू शिवनारायन साहब।

८—पं० देवीचन्द साहब।

९—पं० जगन्नाथ साहब रईस मेरठ।

१०—ला० ललित प्रसाद साहब।

मुसलमानों की ओर से

१—मौलवी मुहम्मद कासिम साहब।

२—मौलवी नजमउद्दीन साहब डिप्टी इंस्पेक्टर स्कूल।

३—मौलवी मुहम्मद हयात साहब प्रबन्धक दैनिक "नज्मुल अखबार"।

४—मौलवी कादिर अली साहब डिप्टी कलक्टर व मैजिस्ट्रेट, मेरठ।

५—मौलवी मुहम्मद हाशिम साहब प्रबन्धक हाशमी मुद्रणालय।

६—हकीम मुकरिब हुसैन साहब प्रबन्धक "अखबारे आम" मेरठ

[चार सज्जन और थे जिनके नाम ज्ञात नहीं हुए।]

---

४६८ पर है। इस तार के मिलने के पश्चात् शीघ्र ही ऋ० द० ३० अप्रेल को देहरादून से चलकर १ मई १८७९ को सहारनपुर पहुंचे।

१. मौलवी मुहम्मद कासिम के साथ शास्त्रार्थ के नियमों के लिये चुने गये व्यक्तियों के नाम पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ७८७ पर निर्दिष्ट हुए थे। ये व्यक्ति १० मई १८७९ को एकत्रित हुए थे।

२. यह सज्जन तनिक विलम्ब से पधारे थे।

इनके अतिरिक्त मिस्टर कैस्पन साहब हेडमास्टर—गवर्नमेन्ट स्कूल—मेरठ भी दोनों पक्षों की सम्मति से इस सभा में सम्मिलित हुए।

प्रथम मौलवी साहब की ओर से शास्त्रार्थ के नियम जिनको वह लिख कर अपने साथ लाये थे उनकी प्रतिलिपि—

मुसलमानों की ओर से शास्त्रार्थ के नियम[1]

१—शास्त्रार्थ की तिथि में न्यूनातिन्यून आठ दिन का अन्तर होना चाहिये ताकि दूर के इच्छुक भी लाभान्वित हो सकें और यदि पण्डित जी को जाने की शीघ्रता हो तो उससे कम अन्तर सही।

२—जैसे पंडितजी ने भाषण देने के समय जो और मतों पर आक्षेप करने का समय होता है श्रोताओं की कोई संख्या नियत नहीं की ऐसे ही शास्त्रार्थ के समय जो औरों की ओर से उत्तर का समय होता है श्रोताओं की संख्या नियत न होनी चाहिये।

३—बोलते समय वह बात न रखी जावे जो उनके भाषण में रुकावट डाले। उदाहरणार्थ यह न हो कि भाषण करने वाला एक वाक्य कहके मौन हो रहे, जब लिखने वाला लिख चुके तो फिर उस को कहने की आज्ञा हो अन्यथा फिर लिखित और मौखिक शास्त्रार्थ में क्या भेद होगा।

४—शास्त्रार्थ का समय प्रातः ७ बजे से ११ बजे तक होना चाहिए ताकि मुसलमानों की नमाज आदि धार्मिक आवश्यकताओं के लिये व्यग्र रहने की आवश्यकता न हो।

५—भाषण के लिये कोई समय निश्चित न किया जाये क्योंकि कौन अपने भाषण को समय पर नाप तोल कर लाता है और यदि व्यर्थ बोलने की आशङ्का से लिखना ही स्वीकार हो तो यदि हम इसकी उपेक्षा भी करें कि भाषण को पूर्ण करने की इच्छा के रह जाने की आशङ्का है तो भी मत के गुण वर्णन करने वाले के लिये एक घंटा और उत्तरदाता के आक्षेप के लिये आधे घंटे से कम न होना चाहिये।

६—मुसलमानों को तो अपने मत की सत्यता समझाने के लिये

१. ये नियम १२ मई १८७९ के नज्मुल अखबार (मेरठ) में छपे थे।

दूसरे मतों के नेताओं को बुरा कहने की आवश्यकता नहीं है परन्तु दूसरे मत वालों से यह आशङ्का है इसलिये यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि हजरत मुहम्मद साहब और उनके महान् अनुयायियों की शान में ढिठाई न होने पावे।

७—दोनों पक्ष बातचीत उर्दू भाषा में करें और ऐसे शब्दों का यथाशक्ति प्रयोग न करें कि जो औरों की समझ में न आवें।

८—शास्त्रार्थ का स्थान न वह मकान हो जहां पंडित जी उतरे हुए हैं और न वह स्थान जहां मौलवी मुहम्मद कासिम साहब निवास करते हैं। यदि हो तो वह स्थान हो जो नगर व लालकुर्त्ती व सदर आदि के लगभग बीच में हो ताकि किसी को दूरी न्यूनाधिक्य की शिकायत न हो।

९—शास्त्रार्थ का स्थान खुला हो ताकि सभा में उपस्थित होने वालों को कष्ट न हो।

१०—यदि एक प्रश्न या आक्षेप पंडित जी की ओर से हो तो एक प्रश्न या आक्षेप हमारी ओर से होना चाहिये।'[1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १३१] पत्र-सूचना

[कर्नल आलकाट का १० जून का पत्र][2]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १३२] पत्र

Wesking Alameda Co.[3]
California. U. S. A.
10th June, 1879.

To—Swami Dayananda saraswati, Bombay.

SIR

As I take a great interest in the rise and progress

---

१. इन नियमों के पढ़े जाने पर ऋ० द० ने जो विचार प्रकट किये तथा अन्य लोगों ने जो कहा उसे चतुर्थ परिशिष्ट में देखें।

२. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के १३ जुलाई १८७९ के पूर्ण संख्या ३३० (पृष्ठ ३६३) से मिलती है।

of Theosophical societies, I shall feel obliged if you would kindly send me a copy of some of the Pamphlets or Proceedings you publish indicative of your tenets.

I am not aware that you have any connection with the Brahma Samaj of Calcutta, of which Babu Keshub Chander Sen is the head, but if such a connection does exist, I should like to know its extent. Trusting that the somewhat peculiar nature of my request will not preclude compliance.

I am
yours respectfully,
R. H. Hawkes.

भाषार्थ

वेस्किंग अलामेडा कम्पनी,
केलिफोर्निया सं० रा० अ०
१० जून १८७९

सेवा में,

स्वामी दयानन्द सरस्वती, बम्बई।

महोदय,

मुझे थियोसोफिस्ट सोसाइटी के उदय और विकास में बहुत रुचि है, अत: मैं आपका अत्यन्त आभारी होऊंगा यदि आप मुझे अपने सिद्धान्तों का निर्देश करने वाले उन पत्रों तथा विवरणों की प्रतियां भेजेंगे, जो आपने प्रकाशित किये हैं। मुझे यह ज्ञात नहीं है कि आप का कलकत्ता के ब्राह्मसमाज से, जिसके नेता बाबू केशवचन्द्र सेन हैं कोई सम्बन्ध है या नहीं। किन्तु यदि कोई सम्बन्ध है तो मैं उसकी भी जानकारी चाहूंगा। मुझे विश्वास है कि मेरे द्वारा चाही गई कुछ विचित्र सी इस जानकारी को देने में आप विलम्ब नहीं करेंगे।

मैं हूं आपके प्रति आदरभावयुक्त,
आर० एच० हाकेस

—:०:—

[पूर्ण संख्या १३३] पत्र

New Mill, Forres, Morayshire,[1]
Scotland.
13th June, 1879.

DEAR BROTHER,

From an elevated and sacred desire for advancement in real knowledge—that of the Secret Science—my ardent soul prompts me to communicate with you, as from a recent note M. Blavatsky to Mr. C. C. Massy,[2] the President of the British Theosophical Society, she states you are willing to instruct earnest Members. I am a member of such Society and for a few years past have been perfecting myself in order to attain to the **Divine Union** which is so very rare amongst Europeans. For this purpose I have abstained from all **animal** foods, alcoholic beverages, and although a married man, live in a manner approaching to being **unmarried**. Latterly I have thrown all worldly cares, interests and occupations aside in order to more completely live alone to perfect myself. I am

---

१. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) मार्गशीर्ष १९६५ वि० में छपा था। इस पत्र की प्राप्ति और इसका अंग्रेजी में उत्तर देने का उल्लेख मैडम ब्लेवेट्स्की को लिखे गये ऋ० द० के पूर्ण संख्या ३३१ के अंग्रेजी भाषा के पत्र (पृष्ठ ३६७, पं० २३-२५) में मिलता है। पीटर डेविडसन को ऋ० द० ने जो उत्तर लिखा था, वह हमें प्राप्त नहीं हुआ।

२. सी० सी० मैसी के साथ सम्भवतः ऋ० द० का पत्रव्यवहार हुआ था। ऋ० द० के पूर्ण संख्या ४७० के श्याम जी कृष्णवर्मा को संस्कृत भाषा में लिखे गये पत्र (भाग १, पृष्ठ ५२३, पं० ८-९) में डाक्टर मैसी को संदेश देने का उल्लेख है।

one possesing but the means to keep my family in existence and deriving this from a small pension I obtain from having been a number of years in a Government situation. I may herein observe that through my mode of life, I have been enabled to get my departed parents to at times shew themselves **reflected** upon the **astral waves—not by Mediumship** or such like, or clairvoyance, but their simply shewing themselves to me and my family.

I care nothing for money, or worldly means; my earnest soul aspires only to know more of **what man realy is** and **what he can become,** and to perfect myself in innocence and virtue so as to be enabled to hold more advanced intercourse with the vast beyond. Every being in humanity is my brother and sister, and in such brotherly love I hold them. From an acquaintance with our English mystical works—which are rather meagre–I have been enabled by soul-contemplation to arrive at the little I have informed you of, and I from sacred motives ask you to favor me by informing me of practical methods, whereby I may further practise and follow Yog For this purpose my methods of increasing the Will-power, of advancing in soul-abstraction and such in short as you know to be most efficacious for my advancement and welfare here and hereafter. God grant that the day may soon arise when your ignorant and finatical clergy hereabouts may really know something of truth, for twaddle and luxury absorb their time and attention during the six days of the week and execrable nonsense in the shape of an **apparent** Christianity

upon the Sunday. When such is the case what can we expect of their adherent followers and members.

I have sent this note through Col. Olcott, the President and apologizing for trouble caused, but knowing that you can assist a fellow-creature who is thus in earnest and whose wishes are solely for goodness, and earnestly craving your fraternal aid.

Believe me to remain,
with sentiments of the highest candour-
Yours fraternally,
Peter Davidson.

"I am sorry that our postage stamps would be of no benefit or I should enclose such for a reply."[1]

P. D.

[The above was still on its way to India when another letter was penned by a Medical man from London. These letters shew that though still struggling in the mine of material complexities, the European world was wakening to a sense of the spiritual in man and was beginning to make earnest efforts for reaching the goal of Man's True Destiny.]

[भावार्थ]

न्यूमिल, फोरेस, मोरेशायर,
स्काटलैण्ड, १३ जून १८७९

प्रिय भाई

वास्तविक ज्ञान की गुह्य विद्याओं की जानकारी हासिल करने

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ९७ पर छपी टिप्पणी।

की पवित्र और उच्च इच्छा ने मेरी जिज्ञासु आत्मा को आप से पत्र व्यवहार करने की प्रेरणा दी है। ब्रिटिश थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रधान श्री सी० सी० मैसी को लिखे एक पत्र में मैडम ब्लैवेट्स्की ने भी लिखा है कि थियोसोफी संस्था के तत्त्वजिज्ञासु सदस्यों को आप इन विधाओं की शिक्षा देने के लिये तैयार हैं। मैं इस संस्था का सदस्य हूं तथा विगत कुछ वर्षों से परमात्मा की उस दिव्य सत्ता से तादात्म्य लाभ करने के लिये स्वयं को तैयार कर रहा हूं। यह प्रवृत्ति यूरोपीय लोगों में सर्वथा दुलभ ही है, इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये मैंने मांसाहार तथा मद्यपान को सर्वथा तिलाञ्जलि दे दी है और विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य धारण कर रखा है। स्वयं को पूर्ण बनाने की कामना से मैंने सांसारिक चिन्ताओं का बहुत पहले से ही परित्याग कर दिया है तथा एकाकी जीवन व्यतीत करने के विचार से दुनियावी बातों के प्रति रुचि तथा स्वयं के काम धन्धों से भी किनारा कर लिया है। अब तो अपने परिवार का निर्वाह करने के लिये मेरे पास अपनी उस थोड़ी सी पेंशन का ही सहारा है जो कई वर्षों तक मेरी सरकारी सेवा के परिणामस्वरूप मुझे मिलती है। मैंने जीवनधारण की जो प्रक्रिया अपनाई है उसके कारण ही मेरे स्वर्गीय माता-पिता ने मुझे तथा मेरे परिवार को विना किसी माध्यम के दर्शन दिए हैं। उन का यह साक्षात्कार सूक्ष्म धाराओं के द्वारा सम्भव हुआ है न कि किसी अतीन्द्रियदर्शी शक्ति के कारण।

मुझे न तो धन की परवाह है और न मैं सांसारिक साधनों की ही चिन्ता करता हूं। मेरी सत्य के प्रति आग्रहशील आत्मा तो यही जानना चाहती है कि वास्तव में मनुष्य क्या है तथा वह क्या बन सकता है? मेरी कामना है कि मैं सदाशयता तथा धार्मिकता में परिपूर्णता प्राप्त कर लूं ताकि अपनी आत्मा से परे उस सर्वव्यापक सत्ता से अपनी आत्मीयता स्थापित कर सकूं। मनुष्य जाति का प्रत्येक प्राणी मेरा भाई और बहिन है तथा मेरा भी उनसे ऐसा ही भ्रातृप्रेम है। हमारी अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध कुछ आध्यात्मिक ग्रन्थों से, जो संख्या में बहुत कम हैं, मैंने आत्म-साधना का मार्ग तलाश किया है तथा उससे जो कुछ स्वल्प उपलब्ध किया है, उससे आपको परिचित भी कराया है। अब मैं आपसे निवेदन करता हूं कि आप मुझे योग साधना के व्यावहारिक उपाय बतायें जिससे मैं इस साधन-

प्रणाली का और अधिक अभ्यास कर सकूं। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये आत्मशक्ति को बढ़ाने के साधन निर्दिष्ट करें तथा आत्मोन्नति के ऐसे उपाय आप मुझे बतायें जो यहां तथा परलोक में मेरी प्रगति के लिये प्रभावशाली साबित हो सकें। परमात्मा ऐसी कृपा करे ताकि हमारे अज्ञानी तथा मताग्रही पादरीगण पारमार्थिक सत्य के बारे में कुछ अधिक तथ्यात्मक बातें जान सकें। अब तक तो सप्ताह के छः दिन वे लोग ऐशो आराम में व्यतीत करते हैं तथा रविवार के दिन ये लोग केवल दिखावे के लिये ही ईसाइयत की धार्मिक रस्मों को पूरा करने का मूर्खतापूर्ण नाटक करते हैं। जब इन पादरियों का यह हाल है तो हम उनके अनुयायियों तथा चर्च के अन्य सदस्यों से क्या आशा रख सकते हैं ?

यह पत्र मैंने कर्नल आलकाट (अध्यक्ष थियोसोफिकल सोसाइटी) के द्वारा भेजा है। एतदर्थ क्षमा याचना करने के साथ साथ यह भी विश्वास करता हूं कि आप अपने एक साथी को उसके आध्यात्मिक प्रयासों में पूर्ण सहायता करेंगे। आपका यह साथी अपने ध्येय के प्रति पूर्ण ईमानदार है, वह उत्तम लक्ष्य को प्राप्त करने की ही कामना करता है तथा आपकी बन्धुभावापन्न सहायता के लिये नितान्त उत्सुक है।

विश्वास रखें,
आपके प्रति अत्यन्त उच्च भावों से
युक्त मैं हूं।
पीटर डेविडसन।

मुझे यह लिखते हुए खेद होता है कि मेरे देश के डाक टिकट आपके लिये नितान्त अनुपयोगी हैं अन्यथा मैं उत्तर देने के लिये इन्हें इस पत्र के साथ रख देता। पी० डे०

[उपर्युक्त पत्र अभी भारत के मार्ग में ही था कि लन्दन के एक डाक्टर के द्वारा स्वामी जी को एक अन्य पत्र लिखा गया। ये पत्र बताते हैं कि यद्यपि योरोप के लोग अद्यापि भौतिक जटिलताओं की गहन कन्दराओं में ही धक्के खा रहे हैं, तथापि पश्चिम की दुनिया मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना के प्रति जागरूक हो रही है तथा मानव के अन्तिम सत्य लक्ष्य तक पहुंचने के लिये सचाई के साथ प्रयास भी कर रही है।]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १३४] पत्र

London, 17th June, 1879[1]
12 St. Cumberland Place.

Dear sir and brother,

We lately heard from Colonel Olcott that any member of the Theosophical Society might have the privilege of addressing you directly and I now avail myself of this privilege with much satisfaction.

I wish to open myself for your inspection without rescue and to ask you to write to me with equal transferency. (sic.)

I take a deep interest in Theosophical subjects and I desire not only to know the truth but to **live** the truth so far as my soul and body will permit.

Colonel Olcott and Madame Blavatsky when in this country although both loving and respecting me yet felt an inclination not to reveal to me a few things they might reveal to one or two others because I declared myself a Christian;

If you will read the paper I sent to you through Colonel Olcott last week on Christian occultism you will at once understand that my form of Christianity is simply a belief in and worship of the highest God possessed human ideal known to my mind as having existed on this earth. I am, I believe simply a theist but the nature of man and of God is more fully revealed to my mind by the teachings of Jesus Christ than by any other being who ever helped this earth so far as I know. H. P. B. denies that any such historic personage ever lived on this earth, but my soul

१. यह पत्र वैदिक मैगज़ीन (गुरुकुल कांगड़ी) मार्गशीर्ष १९६५ वि० में छपा था।

and mind know that some human being corresponding to the Jesus the Christ must have existed.

Even if no such historic personage ever existed that would not diminish my belief that this ideal is the highets I have any knowledge of and that therefore I must confess myself to be, in its spiritual score, and a Christian.

Love to God and love to man are the religious and moral essence of the Christian system as they are of some other oriental systems which preceded that of Jesus and I find the human personality attached to the ideal aids human beings in their attempt to love perfect life, the life of total abnegation of self that is the life of total unselfishness.

I believe that the essence of our theosophy lies in the fact that man is a spiritual being made in God's likeness and that all wich is required to attain to adeptship is to evoke this Godlike spirit and work with the mind and soul and spirit as ordinary human beings work with the mind body.

Having been for 40 years aquainted with the entranced and clairvoyant man I can easily see how if the entranced spirit can see at a distance and see through matter, so-called, it could be trained to speak at a distance and to act phisycally at a distance and do all and much more than is now generally done with human eyes and hands.

This power might I conceive be reached by two methods. One by a severe mental and bodily discipline enabling us to evoke our own spirit or the spirits of others and the other by going direct in prayer to the Father of all spirits and asking until we receive, Of course, instructions received from those who know how to reach the centre must

be an immense assistance to all and must with many if not most be absolutely necessary.

But to use these powers persistently aright that is unselfishly must I conceive be a more difficult ordeal than to attain to them and therefore, I can at once see why those who know should withhold that knowledge from nearly all and give it only to those few who by a long series of trials have proved their worthiness.

Meantime all those who attempt to live the preliminary life must be so far benefitted and they cannot reasonably object to wait long and patiently knowing that ordeal is a daily gain.

At the same time a master who will draw out an authoritative programme and superintend directly if possible, or if not. by deputy the daily work prescribed would be of the greatest use to the scholars and a pure and powerful monument who could infuse into our souls right thoughts only would be of immense advantage to all weak brothers.

I sometimes question whether intence prayer is generally to be recommended because I think we may quite unknown. We ourselves be demanding that wich if given would be injurious. It may be rather better to live a simple life quietly asking for light and love and truth Doing all the good we can in the daily life set before us.

There is one thing which somewhat perplexes me at times. I find physical strength does not increase but the contrary with spiritual culture. I am told that this is so, but only in the transition stage and that the truly spiritual man must be well and strong. Theoretically I should say it must be so far as all from is only the result of force, a

man whose spiritual force was pure ought to transform his body into perfect purity and therefore into perfect health.

I have no secret from H. P. B. or Colonel Olcott and therefore I send this that they may read it and then transmit it to you.

Shew me a man or a woman who to occult knowledge and power adds perfect reason truthfulness and unselfishness and I will obey with my whole heart and soul and mind and body even to death. I believe that in speaking thus to you. I speak to a true man. A true lover of the human race and of the Devine love and I ask you to enable me, so far only as I am worthy, to know the truth and to do good in the world.

Believe me with all respect,
Yours sincerely,
Geo : Myld, M. D.

भावार्थ

लन्दन १७ जून १८७९
१२ स्ट्रीट, कुम्बरलैण्ड प्लेस।

प्रिय महाशय तथा बन्धु,

हमने बहुत पहले ही कर्नल आल्काट से यह सूचना प्राप्त की है कि थियोसोफिकल सोसाइटी का कोई भी सदस्य आपसे सीधा पत्र-व्यवहार कर सकता है। अतः मैं इस सुविधा का लाभ अब पूर्ण सन्तोष के साथ ले रहा हूं। मैं अपनी सभी बातों को आपके निरीक्षणार्थ पूर्ण उन्मुक्त भाव से प्रस्तुत करता हूं और आपसे भी निवेदन करता हूं कि आप मुझे इसी प्रकार खुले दिल से लिखें। थियोसोफी के विषयों में मेरी गहन रुचि है तथा मैं सत्य को न केवल जानना ही चाहता हूं अपितु जहां तक मेरी आत्मा तथा शरीर का सहयोग मुझे मिले, मैं सत्य के अनुकूल जीना भी चाहता हूं।

कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की जब इस देश में रहे थे, उनका मेरे प्रति प्रेमभाव था तथा वे मेरे लिये सम्मान भी दर्शाते थे। तथापि मैंने चूंकि अपने को ईसाई घोषित कर रखा था, अतः वे उन सत्यों को मेरे लिये व्यक्त नहीं करना चाहते हैं जिन्हें वे अन्य एक दो व्यक्तियों को बताने के लिये तैयार थे।

मैंने ईसाई रहस्यवाद पर जो पत्र गत सप्ताह कर्नल आल्काट के द्वारा आपको भेजा है यदि आप उसे पढ़ेंगे तो तुरन्त समझ जायेंगे कि मेरी ईसाइयत विषयक अवधारणा एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करने तथा उस सर्वोच्च की पूजा करने पर आधारित है जो मेरे विचारानुसार मानवी आदर्शों को प्रतिफलित करता हुआ कभी धरती पर विद्यमान था। मैं तो अपने को केवल ईश्वरवादी ही मानता हूं किन्तु मेरी धारणा के अनुसार एक आदर्श मानव और परमात्मा की प्रकृति जीसस क्राइस्ट की शिक्षाओं में ही मूर्तिमान हुई है। जहां तक मैं जानता हूं, संसार में अन्य किसी ने धरती के निवासियों की इतनी सहायता नहीं की (जितनी ईसा ने की) एच० पी० बी० [मैडम ब्लैवेट्स्की] इस बात से इन्कार करती हैं कि ईसा जैसा कोई ऐतिहासिक व्यक्ति भी इस धरती पर रहा भी था, किन्तु मेरी आत्मा और मन कहता है कि ईसा जैसे व्यक्तित्व का कोई मनुष्य निश्चय ही इस संसार में रहा था।

चाहे इस प्रकार का ऐतिहासिक व्यक्ति न भी रहा हो, किन्तु इससे मेरे इस विश्वास में कोई कमी नहीं आयेगी कि ईसा का आदर्श ही मेरे ज्ञान में सर्वोच्च आदर्श है, अतः आध्यात्मिक अर्थ में मुझे अपने आपको ईसाई स्वीकार करना ही चाहिये।

ईसाई निष्ठा के अनुसार परमात्मा तथा मनुष्य से प्रेम धार्मिक तथा नैतिक जीवन का सार है। ईसा से पूर्ववर्ती कुछ अन्य प्राच्य धर्मों में भी इन तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। मैं यह भी मानता हूं कि यदि कोई व्यक्ति इस आदर्श को स्वीकार करता है तो इससे उसे जीवन की परिपूर्णता को प्राप्त करने में सहायता ही मिलेगी। जीवन की परिपूर्णता का यह आदर्श स्वार्थ के सर्वथा त्याग का ही पर्याय होगा।

मेरी धारणा है कि थियोसोफी का सार इस तथ्य को स्वीकार

करने में है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है जिसकी संरचना परमात्मा के अनुकरण पर की हुई है तथा आत्मिक निपुणता प्राप्त करने के लिए उसे इस भगवदीय भावना को जागृत करना होगा। जैसे साधारण मनुष्य लौकिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अपने मन और शरीर को एकाकार करके प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार के प्रयत्न आध्यात्मिकता के साधक को भी मन तथा आत्मा को मिला कर करने होंगे।

चालीस वर्ष तक सम्मोहनभावापन्न तथा अतीन्द्रियदर्शी लोगों के सम्पर्क में रहने के कारण मैं यह सहज ही जान सका हूं कि इस प्रकार का अलौकिक ज्ञानयुक्त व्यक्ति दूर की वस्तु को देख सकता है। वह जड़ पदार्थ के पार की वस्तु को भी देखने की सामर्थ्य रखता है। वह सुदूरवर्ती मनुष्य तक अपनी आवाज को पहुंचा सकता है तथा पर्याप्त फासले पर रहते हुए भी कुछ करने में समर्थ होता है। साधारणतया मानवी चक्षु तथा हाथों से जो कुछ देखा और किया जाता है उससे भी अधिक देखने और करने की सामर्थ्य ऐसे लोगों में होती है।

मेरे विचार से ऐसी शक्ति दो तरीकों से प्राप्त की जा सकती है। प्रथम तो प्रबल मानसिक और शारीरिक अनुशासन की साधना के द्वारा, जिससे हम अपनी तथा अन्यों की आत्मा को उन्नत बना सकते हैं। दूसरा तरीका सब प्राणियों के पिता परमात्मा से प्रार्थना करने का है, जिससे कि हम अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकें। साथ ही, यह भी जानना आवश्यक है कि जो लोग परमात्मारूपी केन्द्रीय स्थल तक पहुंचने की सामर्थ्य रखते हैं उनसे शिक्षा ग्रहण करना भी इस कार्य में अनेकों के लिए अत्यन्त सहायक हो सकता है, चाहे कुछ अन्य इसे चरम आवश्यक न समझें।

किन्तु मेरे विचारानुसार इन शक्तियों को प्राप्त करने की अपेक्षा निःस्वार्थ भाव से इनका प्रयोग करना अधिक कठिन परीक्षा में से गुजरने के तुल्य है। इसीलिये मैं मानता हूं कि जो लोग इन विद्याओं और शक्तियों को जानते हैं वे इन्हें हर किसी को देने में संकोच करते हैं। वे इन्हें उन्हीं व्यक्तियों को प्रदान करते हैं, जो परीक्षा की लम्बी घड़ियों से गुजर कर इन्हें प्राप्त करने की योग्यता हासिल कर लेते हैं।

इस अवधि में जो लोग साधना का आरम्भिक जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें इसी अनुपात में लाभ भी प्राप्त होता है तथा सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त करने से यदि उन्हें देर तक प्रतीक्षा भी करनी पड़े, तो इस पर उन्हें आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इस प्रकार धैर्य-पूर्वक परीक्षा से गुजरना भी दैनन्दिन जीवन की एक उपलब्धि ही है।

जो शिक्षार्थी इस अध्यात्म विद्या को सीखने के इच्छुक हों, उन का मार्गदर्शन करने वाले आचार्य को चाहिए कि यदि सम्भव हो तो यह नित्यप्रति इन साधकों की साधन-प्रणाली की रूपरेखा निश्चित करे। यदि ऐसा करना स्वयं उसके लिए सम्भव न हो तो वह अपने सहायक को इस कार्य में नियुक्त करे। इस प्रकार की दिनचर्या से हमारी आत्माओं में सही विचारों का प्रवेश हो सकेगा, जो सभी दुर्बल साधक भाइयों के लिए भी नितान्त उपयोगी सिद्ध होंगे।

कभी कभी मैं अपने से ही सवाल करता हूं कि क्या हमें उत्कट प्रार्थना की पद्धति को स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि मेरी धारणा है कि जिन पदार्थों की हम कामना करते हैं यदि वे हमें कभी मिल भी जायें तो वे हमारे लिये हानिप्रद हो सकते हैं, तथापि हम इस तथ्य को नहीं जानते।

अच्छा तो यह है कि हम प्रकाश, प्रेम तथा सत्य की याचना करते हुए सादा जीवन व्यतीत करें। हम अपने जीवन में भला करने को ही अपना लक्ष्य बनायें। कभी कभी एक समस्या मुझे व्याकुल कर देती है। मैंने अनुभव किया है कि आत्मिक शक्ति में वृद्धि होने के साथ साथ शारीरिक शक्ति नहीं बढ़ती। किन्तु बताया जाता है कि ऐसा होता तो है किन्तु साधना के संक्रमण काल में, क्योंकि यथार्थ में एक आध्यात्मिक पुरुष सुदृढ़ और बलवान् ही होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इसे यों कह सकते हैं कि सारे भौतिक आकार शक्ति के ही परिणाम हैं। जिस व्यक्ति ने आत्मिक शक्ति का सञ्चय किया है उसे अपने शरीर को भी पूर्ण पवित्र बना लेना चाहिये। परिणामतः उसे पूर्ण स्वस्थ भी होना ही चाहिए।

मेरी कोई बात एच० पी० बी० [मैडम ब्लैवेट्स्की] या कर्नल आल्काट से छिपी हुई नहीं है इसलिये मैंने इस पत्र को पहले उन्हें ही

भेजा है, ताकि वे इसे पढ़ लें, और तत्पश्चात् आपको प्रेषित कर दें।

कृपया मुझे किसी ऐसे पुरुष अथवा महिला से परिचित करायें जो गुह्य विद्याओं के साथ परिपूर्ण युक्ति, सत्य तथा निःस्वार्थता का समावेश कर सके। मैं मृत्युपर्यन्त पूर्ण आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक भाव से उस व्यक्ति के आदेश का पालन करूंगा। मुझे विश्वास है कि आपसे यह निवेदन कर मैं सत्य पर आरूढ व्यक्ति से ही प्रार्थना कर रहा हूं। मानवता से सच्चा प्रेम रखने वाले तथा ईश्वरीय प्रेम में निमग्न रहने वाले आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप मेरी योग्यता के अनुसार सहायता करें ताकि मैं सत्य को जान सकूं तथा संसार में कुछ अच्छा कर सकूं।

सम्पूर्ण आदर के साथ,
विश्वास करें मैं हूं,
आपका विश्वास पात्र,
जियो मिक्ड एम० डी०

—:o:—

[पूर्ण संख्या १३५] पत्र-सूचना

[कर्नल आलकाट का ६ जुलाई का पत्र][1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १३६] पत्र-सूचना

[मैडम ब्लेवैट्स्की का पत्र][2]

—:o:—

---

१. इस पत्र की सूचना मेडम ब्लेवैट्स्की को लिखे गये पूर्ण संख्या ३३१ (पृष्ठ ३६५) के पत्र में 'पुनः' (P. s.) निर्देश करके लिखे गये अंश (पृष्ठ ३६७) में मिलता है।

२. इस पत्र की किसी स्रोत से सूचना तो नहीं मिलती है, परन्तु ऋ० द० के पूर्ण संख्या ३३१ (पृष्ठ ३६५) का पत्र मैडम ब्लीवैट्स्की के नाम लिखा मिलता है। उससे अनुमान होता है मैडम ब्लीवैट्स्की का कोई पत्र आया होगा।

[पूर्ण संख्या १३७-१३८] पत्र-सूचना

[दो पत्र विलायत के][1]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १३९] पत्र

श्री[2]

हरि ओम्

श्रीयुत दयानन्द सरस्वती समीपे स्वमतकुशलपूर्वक मद्विज्ञापनम्

आप एक अर्से से एतद्देशी मनुष्यों कू अनादि ईश्वरी वाक्य वेद बोधित धर्म के विरुद्ध उपदेश कर्ते हो। में भी शास्त्रार्थ चिकीर्षु वहोत दिनों से जहां-तहां आपका आगमन सुनकर गया। प्रथम मुकाम कर्णवास श्री गङ्गा जी के तट पर अलीगढ़ परन्तु आप वहां से किनारा कर चल दिये। संवत् ३३ में बरेली नगर में आकर एक इश्तहार दिया। मैं भी अपना कारज छोड़कर बरेली आया। आपने प्रसन्नपूर्वक मुझसे शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया। उक्त संवत् मार्गशीर्ष शुक्ल रविवार का दिन बारह बजे का मकरिर किया और कुल नियम शास्त्रार्थ के भी हो गये। समस्त जन श्रवणकांक्षी उनको भी प्रसिद्ध पत्र द्वारा खबर दई गई। नियुक्त समय पर करीब पांच हजार पुरुष के जमा हुये। वर वक्त शास्त्रार्थ आपने इन्कार किया और वहां से चल दिये। अब आपका फिर बरेली आगमन हुआ। जब तक

---

१. इन दो पत्रों के पहुंच की सूचना ऋ० द० ने २७ अगस्त १८७९ के पूर्ण संख्या ३३७ (ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन भाग १, पृष्ठ ३७३) के पत्र में उल्लिखित है। ये दोनों पत्र किसके थे, यह अज्ञात है।

२. यह पत्र पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० में पृष्ठ ५०४-५०७ तक छपा है। जीवन चरित के नीचे ३६ टिप्पणियां हैं। जिनमें अधिकांश टिप्पणियां भाषा की अशुद्धियों से सम्बद्ध हैं। ये टिप्पणियां मुंशी बख्तावरसिंह ने लिखी थीं। हम उन्हें नहीं छाप रहे हैं। इस पत्र का उत्तर ऋ० द० ने आश्विन कृष्ण ११ शुक्रवार १९३६ (=१२ सि० १८७९) के पूर्ण संख्या ३४२ (पृष्ठ ३७७) के पत्र में दिया था। इसी पत्र के अन्त में ऋ० द० ने संस्कृत हिन्दी की अनेक प्रकार की अशुद्धियों का संकेत किया है। (द्र० पृष्ठ ३८१, पं० ३-५)।

मैंने अपने आने का अवकाश किया आप वहां से शहाजहांपुर चले आये । मैं भी अपना निहायत काम हर्ज कर कल तारीख ९ सितम्बर सन् हाल को शाहाजहांपुर आया हों। आप कृपा करके शास्त्रार्थ कर लीजिये और आर्यावर्त्ती लोगों की प्रवृत्ति सत्यमार्ग छुड़ाकर कुपथ में न कीजिये क्योंकि में भी श्रीमहाराज मुक्त स्वामी जी महाराज प्रज्ञाचक्षु का आपकी समय से पूर्व का ज्येष्ठ शिष्य विद्यारूपी वंश में हों। इसी कारण आपको ऐसा लिखना हुआ। अगर आपको मुझसे शास्त्रार्थ करना है तो इस पत्रलिखित नियमों एक नकल इसकी दस्तखती अपनी पास मेरे भेज दीजिये। अगर आपकी राय में और नियम होवें तो मुझको लिखना। मुनासिब समझकर स्वीकार करूंगा।

(१) अव्वल तो यहां पर कोई मध्यस्थ नहीं मालूम होता इस लिये बुधिमान बहुत पार्सी अर्बी अंग्रेजी पढ़े हुए धर्मात्मा पुरुष दस तथा बीस बिठाय लिये जावें। अव्वल जो विषय शास्त्रार्थ में होवे उसको संस्कृत में अव्वल मैं कहूं फेर उसको आप संस्कृत में अनुवाद कर ब तशदीक मेरे तर्जमा भाषा करके उक्त सज्जनों को श्रवण करा देवें। इसी तरह पर आपके कथन को मैं सुना दूंगा और जिस विषय के समझने को उक्त पुरुष होयेंगे तो वही विषय लिखकर दस्तखती उन लोगों को दिये जावें। वह जिस पंडित को श्रेष्ठ समझें उसको दिखाकर जय पराजय का निश्चय कर लेवेंगे।

(२) दूसरे शास्त्रार्थ में बैठकर क्रोध गुस्सा अश्लील कटुवाक्य कहिने का इख्तियार फरीकैन में से किसी को न होगा। अगर जिस की तरफ से होवे वह पराजय समझा जावे।

(३)—तीसरे समय मुकरिर होना चाहिये अर्थात् शास्त्रार्थ में दस मिनट में उपवादन करूं तो दस ही मिनट आप उपवादन करें।

(४)—यहां मेरा कोई मकान नहि है। खजान्ची साहब ब्रजकिशोर का तदबीज किया है आप एक दिन निश्चय कर दिया कीजिये।

(५)—इसके जवाब से इत्तला दीजिये।[1] किमधिकम्।

तारीख १० सितम्बर सन् १८७९—हस्ताक्षर अंगद शास्त्री।

---

१. इस पत्र का जो उत्तर ऋ० द० ने दिया वह 'पत्र विज्ञापन' की पूर्ण संख्या ३४२ (पृष्ठ ३७७) पर छपा है।

[पूर्ण संख्या १४०] पत्र

हरि ओ३म्[1]

"श्रीयुत दयानन्द सरस्वती समीपे स्वमतकुशलपूर्वक मद्विज्ञापनम्"

ता० १० सितम्बर को एक पत्र मैंने आपकी सभा के सेक्रेटरी द्वारा[2] आपके पास भेजा था। उसका प्रत्युत्तर[3] आज ता० १२ पांच बजे दिन के सत्य समाज में आया। इसको भले प्रकार पढ़कर सम्पूर्ण सभासदों को श्रवण करा दिया। आपके पत्रावलोकन से ज्ञात होता है कि वेदविरुद्ध चलना चलाना किसी मतलब के कारण होता है। इस हेतु से प्रकट है कि कोई मतलब आपको सिद्ध करना है। आपका शास्त्रार्थ करने का निषेध और मेरे शास्त्रार्थ करने की सच्ची इच्छा होने का आशय आपके अन्तःकरण से अच्छे प्रकार विदित होगा और यहां से सज्जन पुरुषों को भी मालूम होगा क्योंकि गृहस्थाश्रम में ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो अपना तन, मन, धन तथा विदेश-यात्रा आदि श्रम शमन कर एतदश जावे न कि सरकारी नौकर। मेरा आपके पास बंगले में न ठहरना और पंडित कन्हैय्या लाल रईस के मकान पर ठहरना शास्त्रार्थ करने की इच्छा का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। शास्त्रार्थ करने की इच्छा आपके निम्नलिखित नियमों से प्रसिद्ध है। आपका जहां तहां से चला जाना जो मैंने अपने पूर्वपत्र में लिखा था उसका आपको अत्यन्त झूठ लिखना झूठ है। और जो आपने लिखा कि तुमसे मुझको किंचिन्मात्र भी भय न कभी हुआ

---

१. यह पत्र पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ५१०-५१५ तक छपा है। इस पत्र के नीचे भी कुछ टिप्पणियां पं० लेखरामकृत जीवन चरित में छपी हैं। उनमें दो तीन आवश्यक टिप्पणियों के अतिरिक्त सबको हमने छोड़ दिया है।

२. यह सर्वथा मिथ्या है। मन्त्री के द्वारा चिट्ठी नहीं भेजी गयी प्रत्युत स्वामी जी के पास यह चिट्ठी बाबू हरगोविन्द बैनर्जी की मार्फत पहुंची। बाबू जी ने यह चिट्ठी स्वामी जी के पास १२ सितम्बर को ११॥ बजे दिन के समय भेजी थी। हम नहीं कह सकते कि बाबू जी ने इतने समय तक क्यों दबा रखी। (बख्तावरसिंह)

३. ऋषि दयानन्द का यह प्रत्युतर पत्र विज्ञापन की पूर्ण संख्या ३४२ (पृष्ठ ३७७) पर छपा है।

था, न है और न होगा क्योंकि आप में ऐसे गुण ही नहीं हैं, जो किसी को भयप्रद हों। यह वार्ता आपकी अयथार्थ है। मुझमें ऐसे भयङ्कर गुण नहीं हैं जो किसी को भयप्रद हों परन्तु मेरे गुणों से समस्त सभ्य-जन प्रसन्न हैं और हर समय परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं कि मुझमें और इष्टमित्रों में भी भयङ्कर गुण न हों। बांसबरेली[1] में शास्त्रार्थ

१—बरेली में जो दशा हुई उसका ठीक वृत्तान्त स्वामीजी की चिट्ठी से विदित होगा कि किसकी ओर से इन्कार हुआ। (द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पूर्ण संख्या ३४२, पृष्ठ ३७८, पं० २२-२८)। अब चूंकि पंडित जी ने मौलवी नियाज अहमद साहब थर्ड मास्टर जिला स्कूल शाहजहांपुर को साक्षी के रूप में उस विषय का सच्चा वृत्तान्त जाननेवाला घोषित किया है—हमने यह समझकर कि सांच को आंच नहीं—मौलवी साहब से इस बारे में जो पत्रव्यवहार किया उसकी प्रतिलिपि नीचे देते हैं ताकि पंडित जी को घोषित किये हुए साक्षी से ही बरेली का वास्तविक वृत्तान्त पाठकों पर प्रकट हो जावे।

"मौलवी नियाज अहमद साहब, थर्डमास्टर-गवर्नमेंट-जिला स्कूल-शाहजहांपुर को भेजे हुए पत्र की प्रतिलिपि"

"श्रीमान् जी, प्रणाम के पश्चात् विदित हो कि कुछ लोग इस बात की इच्छा रखते हैं कि आपसे बरेली के शास्त्रार्थ का वृत्तान्त जो स्वामी दयानन्द सरस्वती और पंडित अंगद शास्त्री के मध्य होनेवाला था—मालूम करें। इसलिये कृपया यह लिख दीजिये कि यह शास्त्रार्थ किस कारण से न हो सका। किसकी ओर से ढील का कारण क्या था? उत्तर इसके पृष्ठ पर लिख दीजिये ताकि उनको दिखला दिया जावे। आप विश्वास है कि अच्छी प्रकार से इस वृत्तान्त को जानते होंगे। अधिक प्रणाम।

आपका सेवक बख्तावरसिंह

"पत्र का उत्तर"

मुंशी साहब, निवेदन है कि शास्त्रार्थ इस कारण से न हुआ कि अंगद शास्त्री के साथी पंडित दयानन्द सरस्वती का अपमान करने पर उतारू थे; वे प्रायः बरेली के रहने वाले हैं। जब उनसे कह दिया गया कि यह सज्जन धर्म में नई-नई बातें निकालते हैं और मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं—वे

विषयक जो कार्यवाही निश्चित हुई थी वह जिसकी तरफ से तोड़ी गई उसका अभिप्राय वहां वा अन्य देशी पुरुषों को जो वहां समाज में उपस्थित थे— अच्छी प्रकार विदित है किन्तु यहां भी इस वृत्तान्त के जानने वाले दस-बीस पुरुष वर्तमान हैं और किंचित् वृत्तान्त को मौलवी अब्दुलहय साहब इन्स्पेक्टर पुलिस और थर्डमास्टर जिला स्कूल शाहजहांपुर भी जानते हैं। आपको अच्छी प्रकार स्मरण करना चाहिये कि खजाञ्ची लाला लक्ष्मीनारायण साहब के बगीचे में शास्त्रार्थ रुकवा देना आप ही का कर्म था। मैंने तो अपने शास्त्रार्थ विषयक नियमों में बाग में शास्त्रार्थ करना प्रथम ही नापसन्द करके राजा नौबतराम साहब बहादुर स्वर्गवास के तराग (तड़ाग) पर शास्त्रार्थ करना लिखा था। इसको आपने त्याग कर बाग में समस्त शास्त्रार्थदर्शक लोगों को पत्र द्वारा आह्वान कर आपने ही इन्कार किया। अपने कर्मों का फल दूसरे पर आरोपित करना अत्यन्त बुद्धिमत्ता है और जो कि श्री स्वामीजी के शिष्य होने में आपको सन्देह है—वह मिथ्या है। मेरे सहाध्यायी उनके जो शिष्य हैं वे सब अद्यापि राजद्वारों में विद्याबल से प्रतिष्ठा पा रहे हैं और यह समाचार भी समस्त मथुरावासी श्रेष्ठ पुरुषों को मालूम है कि श्री महाराज दण्डी जी नियमपूर्वक प्रतिदिन सप्तशती स्तोत्र का पाठ और कभी-कभी नीलकण्ठ महादेव जी तथा रंगनाथ महादेव जी के श्रद्धापूर्वक दर्शन तथा तीर्थ परिक्रमा और दानादि कर्म सब करते थे।[1] हां, जब से कि कृष्णशास्त्री से कौमुदी में षष्ठी सप्तमी समास विषयक पत्र द्वारा शास्त्रार्थ हुआ पश्चात् अत्यन्त बीमार हुए तबसे

लोग उत्तेजित हो गये और चाहते थे कि एक बड़ी भीड़ के साथ नगर के बाहर शास्त्रार्थ हो। इस बात को पंडित दयानन्द सरस्वती ने पसन्द न किया। उनकी इच्छा थी कि विशेष लोगों के सामने किसी रईस के यहां—जहां विद्वान् हों—झगड़े वाली बातों का निर्णय किया जावे।

—नियाज अहमद फारूकी

१. स्वामीजी कहते हैं कि हमने कभी इन स्थानों में जाते हुए उनको न देखा यह सब बातें पंडित जी की मिथ्या हैं। हां, सप्तशती स्तोत्र का पाठ निस्सन्देह करते थे, परन्तु उसको शुद्ध बना लिया था, उसके अनुसार करते थे। (बख्तावरसिंह)

नागोजी भट्ट और केवटकौमुदी पर भारती ग्रन्थों का खंडन पर वाक्यमीमांसा धूर्तनिराकरण व्याकरण के ग्रन्थ बनाये परन्तु वेदविरुद्ध मिथ्याचरण कुमार्गप्रवृत्ति यह उनका धर्म नहीं था और न कोई उन्होंने ऐसा ग्रन्थ बनाया। इसी बात पर आरूढ़ होकर शास्त्रार्थ से बहिर्मुख हुये। बहुत थोड़े दिन की वार्ता है, मथुरावासी श्रेष्ठ पुरुषों से निश्चय हो सकता है किन्तु मुकाम अलवर राजधानी से भी जहां कि दस वर्ष की अवस्था से रहे थे[1], पीछे कुछ दिन श्री गंगाजी, घाट सोर जी और मथुराजी मौहल्ला छत्ते बाजार केदारनाथ क्षत्रिय के स्थान पर किराया देकर रहते थे। जो प्रज्ञाचक्षुजी पाषाणादि मूर्ति-पूजा[2] तथा सप्तशती स्तोत्र पाठ तीर्थादिकों के विरोधी साबित होयं तो मैं भी उसी मत को ग्रहण करूं वरन आप ऐसी बेजा हरकत हठ-धर्मी का परित्याग कीजिये। आपके सभासद तथा यहां शाहजहांपुर के रईसों से प्रार्थना है कि श्री मथुराजी से निश्चय कर लेंगे। प्रज्ञा-चक्षु मेरे भी और दयानन्द सरस्वती दोनों के गुरु हैं। जो उनका आचरण होवे वह सत्य मानकर करना चाहिये और ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार में मैंने जो लिखा सो वंश विषयक है न कि अपने मुख से आप में उत्तर गुणों का आवेश मानकर ज्येष्ठ बनना सभ्यता के विरुद्ध है। जो शास्त्रार्थ नियम आपने लिखे उससे भी अन्तराशय आपका विदित हो चुका अर्थात् कथन अन्य और वृत्तान्त निराला और पूर्वापर विरोध भी है। स्थान के विषय में ये कथन हुआ कि खजान्ची साहब के बंगले में शास्त्रार्थ करेंगे क्योंकि उभयपक्षों से उस स्थान का कुछ किसी प्रकार का स्वतत्र सम्बन्ध नहीं है। यह कहना आपसे स्वल्प वक्ता उनको सम्भव नहीं होता है। आपका सो तो निवासद्वार प्रकट है। हमने तो उभयपक्ष रहित आपके लेखानुसार खजान्ची साहब का बाग शास्त्रार्थ के निमित्त निश्चय किया है। अब इसमें आपको निषेध करने का अवसर विशेष न रहना चाहिये क्यों कि इसमें तो आपके दोनों नियम साधन हो जायेंगे। इस कारण से शास्त्रार्थविषयक स्थान के आग्रह करने से मालूम होता है कि आप

---

१. यह मिथ्या है। जब वे अलवर गये थे तब उनकी ४० वर्ष से अधिक आयु हो गयी थी। (बख्तावरसिंह)

२. वे मूर्तिपूजा नहीं करते थे, प्रत्युत उसको छोड़ने का सबको उपदेश किया करते थे। (बख्तावरसिंह)

की शास्त्रार्थ करने की इच्छा नहीं है किन्तु कथनमात्र ही है। यदि इस स्थान को आग्रह्य है तो विश्रान्तघाट खनौत पर जो बाग महाराज नन्गोलाल जी का है अथवा लालबहादुर लाल के बाग में जहां रुचि होवे वहां स्वीकार कीजिये और इन व्यर्थ वार्ताओं से हमारा समय व्यर्थ न गमाइये। रविवार को २ बजे से ६ बजे तक शास्त्रार्थ होना चाहिये। रात्रि में शास्त्रार्थ करने का कौन अवसर है? सभ्यस्थ के विषय में जो चारों वेद और ब्रह्मा से जैमिनि समय पर्य्यन्त जो पदार्थ बोधक शास्त्र आप अंगीकार करते हो—यह कथन आपका क्या है? जैमिनी समय पर्य्यन्त कोई ग्रन्थ वेदार्थप्रतिपादक नहीं हुआ है। हां, सूत्रादि और पदक्रम आदि ग्रन्थ पर्य्यन्त दस बैठती है अन्य कोई अर्थप्रतिपादक सायण महीधरादि प्रभृति सदृश नहीं है। जो कोई ग्रन्थ आपके पास होवे तो दिखलाइये। परन्तु ग्रन्थ सो कंठ सब से जयपराजय के प्रति उत्तरदाता नहीं हो सकते किन्तु हमारे पत्रलिखित सभ्यजनों के न्याय वेदविरुद्ध विषयक शास्त्रार्थ वार्ता करने में हमारा कोई अभिप्राय नहीं है जैसा कि आपका इस विषय में। अब भी उत्सुक होवे कि उभय पक्ष को केवल वेदार्थ ही चिन्तवन करना पड़ेगा, न स्वकपोल-कल्पित वार्ता। जो आपने कथनानुकथन में प्रश्न के दो मिनट और उत्तर के दस मिनट किये हैं इस शास्त्राथ में यह निबन्ध कैसे पूर्ण हो सकता है किन्तु कभी-कभी पन्द्रह और बीस भी अपेक्षित होंगे। आपके जिस पक्ष में शास्त्रार्थ होगा वही प्रश्न समझा जायेगा। इसमें खण्डन-मण्डन में उभयपक्ष का समान ही समययोग होना चाहिये। हम अपने नियम को कदापि न त्यागेंगे अर्थात् दस मिनट एक पक्ष संस्कृत उपादान करें और दूसरा उसका उल्था देशभाषा में लिखवा देवे। इसी प्रकार दूसरा पक्ष विवेचना करे तो वह देशभाषा लिखावे और जो आशय सभ्यजन लेख से न समझें वह परित्याग करें।

आपने तीसरी चौथी दफा का अद्भुत आशय लिखा कि उभय पक्ष के पचास मनुष्य बिना टिकट सभा में प्रवेश न करें। इसका क्या प्रयोजन है? जहां कहीं सभा होती है यह विलक्षण नियम कहीं नहीं होता है। यहां मौजा चांदापुर की सभा में आप भी मौजूद थे। किसी को आने जाने का प्रतिबन्ध न था। लज्जा का परित्याग कर निर्लज्ज होना वेद शास्त्र विरुद्ध है। लज्जा का स्वीकार कर मनुष्यत्व

१४-१५ अनेक महीनों की अवधि=और दिन-प्रतिदिन तीन घण्टे शास्त्रार्थ होने से यह निश्चय होता है कि केवल हील-हुज्जतों मेरी रुखसत के दिन व्यतीत करना है मेरी ऐसी है तो पीलोभीत चलिये। न्यायानुसार सत्कार का शास्त्रार्थ करूंगा। आप सर्वत्र आते जाते है, वहां जाने में क्या बन्धन है? आपके पत्र में भाषा के ही शब्द अशुद्ध हैं क्या संस्कृत? आश्विन कृष्ण द्वादश्याम् शनैश्चरे संवत् १९३६ तारीख १३ सितम्बर सन् १८७९।[1]

हस्ताक्षर—अंगद शास्त्री

—:०:—

[पूर्ण संख्या १४१] पत्र

जय जय त्रिजटाय परमात्मने नमः

श्रीयुत दयानन्द सरस्वती समीपे स्वमतकुशलपूर्वकं मद्विज्ञापनम्

आपका पत्र ३॥ बजे मेरे पास पहुंचा। लेखाशय प्रकट हुआ। आपको ऐसा नहीं चाहिये। कभी कुछ लिखना और कभी कुछ। या तो स्वामीजी प्रज्ञाचक्षु के मत पर होना चाहिये जिसका आप अपने पूर्वपत्र में स्वीकार कर चुके हैं जिस परम्परा से शास्त्रार्थ होते हैं—उस बुद्धि से कीजिये, हम तैयार है। तीन स्थान जो निर्णित हैं उनमें से किसी पर आ जाओ। मिती आश्विन कृष्ण १३ रविवार संवत् १९३६।

—:०:—

[पूर्ण संख्या १४२] पत्र

श्री स्वस्ती श्री ५ महाराज पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामि जोग लिखी दानापुर से माधोलाल और सकल सभासदों का अभिवादन पहुंचे यहां कुशल आनन्द है आपका कुशल मङ्गल चाहिए आगे आपने जो चिट्ठी शाहजहांपुर से लिखी सो उसके ऊपर दानापुर मुम्बई हाता लिखे जाने के कारण मुम्बई चली गई थी इस लिए यहां कुछ देर से पहुंची हम लोग उसके पढ़ने से अति आनन्द हो गए और

१. इस पत्र का जो उत्तर ऋ० द० ने दिया था वह 'पत्र विज्ञापन' की पूर्ण संख्या २४३ (पृष्ठ ३८१) पर छपा है।

सब वस्तु जो हम लोग समझते हैं आप की सेवा के अवश्य होंगी हम सब जनें जैसे बन पड़ता है तैयार कर रहे हैं यदि आप हरिहर क्षेत्र की मेला में जाने की इच्छा करेंगे तो उसके लिये भी तैयारी करने में हम लोगों का कुछ विलम्ब न होगा। सब आवश्यक वस्तु डेरा डन्डा इत्यादि अभि से युक्ता रक्खेंगे यदि उधर के आर्य्य-भाई कृपा करके इधर आने की इच्छा करें तो आप उन को मना मत किजिएगा वरण साथ लिये आइएगा हम लोग बड़े आनन्द पूर्वक उन से गले मिलेंगे ईश्वर के कृपा से उन को यहां किसी बात की तकलीफ नहीं होगी जब आप बनारस में पहुंच जावें तब कृपा कर के एक पत्र यहां लिख दीजिएगा ताकि यहां से दो एक मनुष्य ठीक समय पर आप के पास जावें और आप के साथ-साथ यहां आवें।[1] [माधोलाल]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १४३] पण्डितों द्वारा प्रश्न

[फर्रुखाबाद के पण्डितों ने २५ प्रश्न लिखकर भेजे थे][2]
६ अक्टूबर १८७९, सायं[3]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १४४] विज्ञापन

दयानन्द सरस्वती के पास यह प्रश्न धर्मसभा फर्रुखाबाद की ओर से भेजे जाते हैं कि आप ग्रन्थों के प्रमाण से इन प्रश्नों का उत्तर पत्र द्वारा धर्मसभा फर्रुखाबाद के पास भेज दें उत्तर पत्र द्वारा प्रमाण-

---

१. इस पत्र पर कोई तिथि नहीं है। माधोलाल ने यह पत्र ऋषि दयानन्द के जिस पत्र के उत्तर में लिखा था वह शाहजहांपुर से लिखा गया था। शाहजहाँपुर में ऋ० द० ४ सि० से १७ सितम्बर १८७९ तक रहे थे। शाहजहांपुर से लिखा गया बाबू माधोलाल के नाम का यद्यपि कोई पत्र उपलब्ध नहीं हुआ। तथापि इस पत्र से ज्ञात होता है कि ऋ० द० ने सि० ४ से १७ के मध्य माधोलाल के नाम कोई पत्र लिखा था।

२. पण्डितों के २५ प्रश्न और उनके उत्तर 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या २४९ भाग १, पृष्ठ ३८५-३९५ पर छपे हैं। वहां देखें।

३. यह काल पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ ५२१ पर लिखा है।

सहित न देवेंगे तो यह समझा जावेगा कि आपने अपना मत आधुनिक मान लिया और एक प्रति इन प्रश्नों की आपकी मतानुयायी सभाओं में और अमरीका के सज्जनों के पास भेजी जायेगी और देशी और अंग्रेजी पत्रों में मुद्रित की जायेगी।[1]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १४५] पत्र-सूचना

[माधोलाल के कई पत्र][2]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १४६] आज्ञा-पत्र-सारांश

स्वामी दयानन्द काशी में किसी धार्मिक विषय पर व्याख्यान न दें।[3]

[२० दिसम्बर १८७९]

मिस्टर वाल
मैजिस्ट्रेट काशी

—:०:—

[पूर्ण संख्या १४७] लेख-सारांश

[पायोनियर (इलाहाबाद) ने स्वा० द० स० के व्याख्यान बन्द करने के काशी के मजिस्ट्रेट के आदेश[4] के विरुद्ध लिखा। इन पर

---

१. यह विज्ञापन पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी स० पृ० ५२१ पर पर छपा है। इस विज्ञापन का उत्तर 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' के पूर्ण संख्या ३४९, भाग १, पृष्ठ ३८५ पर देखें।

२. इन पत्रों की सूचना ऋ० द० के १२ अक्टूबर १८७९ के पूर्ण संख्या ३५३ (पृष्ठ ३९७) के पत्र में मिलती है। सम्भव है इनमें से एक पत्र इसी भाग में पूर्व पूर्ण संख्या १२० पर छपा हुआ रहा होगा। उसकी टिप्पणी सं० २ देखें।

३. यह सारांश पं० देवेन्द्रनाथ संकलित ऋ० द० के जीवनचरित पृष्ठ ५९४ पर मुद्रित है। यह आज्ञा पत्र २० दि० १८७९ को व्याख्यान स्थल पर पहुंचने पर एक पुलिस कर्मचारी ने ऋ० द० को दिया था। इस आज्ञा पत्र के विरोध में ऋ० द० ने जो पत्र काशी के मजिस्ट्रेट को लिखा था वह 'पत्र और विज्ञापन' भाग १ पूर्ण संख्या ३७१ (पृष्ठ ४११) पर छपा है।

४. द्र०—पूर्व पूर्ण संख्या १४६।

कुछ पत्रों ने लिखा—]

नहीं तो निस्सन्देह आप छिपे हुए ईसाई होंगे और आज तक आप को लोग ईसा का अवतार कहते हैं, वह बात सत्य होगी।[1]

कविवचन सुधानिधि १९ जनवरी १८८०]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १४८] आज्ञा-पत्र-सारांश

तुमको अपने धार्मिक विश्वास पर व्याख्यान और उपदेश देने को आज्ञा है।[2]

मिस्टर वाल
मैजिस्ट्रेट काशी

—:०:—

[पूर्ण संख्या १४९] विज्ञापन

[पं० ताराचरण भट्टाचार्य का विज्ञापन][3]

—:०:—

---

१. यह लेख-सारांश पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ १९० पर उद्धृत है। मजिस्ट्रेट काशी में २० दिसम्बर १८७९ को आदेश जारी किया था।

२. 'इस आज्ञा की सूचना कलक्टर ने स्वयमेव स्वामीजी को इंस्पेक्टर पुलिस के द्वारा दी थी।' यह निर्देश २७ दिसम्बर सन् १८७९ के काशी के "स्टार" पत्र के दूसरे कालम में लिखा है। द्र० पं० लेखराम कृत जीवन-चरित हिन्दी सं० पृष्ठ १८३। परन्तु १६ फरवरी १८८० को मूलराज को लिखे पूर्ण संख्या ३८९ (पृष्ठ ४२४) के पत्र में ऋ० द० ने लिखा है—हमने स्थानीय सरकार की लिखित आज्ञा के बिना व्याख्यान आरम्भ करना उचित नहीं समझा।" पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ १९० के अनुसार ऋ० द० ने २१ मार्च १८८० से व्याख्यान देने आरम्भ किये थे।

३. इस विज्ञापन का निर्देश ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन के पूर्ण संख्या ३७६ भाग १, पृष्ठ ४१४ पर छपे विज्ञापन में है। द्र० पृष्ठ ४१४, पं० ६-८। इस विज्ञापन के विषय में पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ १८४ पर लिखा है—"२५ दिसम्बर सन् १८७९ के आस पास एक

[पूर्ण संख्या १५०]　　　　पत्र

॥ ॐ तत्सत् ॥[1]

श्री परम पूजनीय परिव्राजकाचार्य स्वामीजी श्री दयानन्द जी सरस्वती महाशय योग्य लिखी राजस्थान उदयपुर से मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का साष्टाङ्ग प्रणाम अंगीकार हो। अपरंच आप का आज्ञापत्र इन दिनों में नहीं आया, केवल पाताल लोक निवासियों के पत्रों से आप की कुशलता के समाचार सुने और भवदीयों के आश्रम पर जो-जो कि काशी में वरुणा नदी पर गुफा है, पाताल देश के निवासियों सहित पधार पावन किया, जिसके भी समाचार श्री परम पूजनीय माजी[2] के पत्र से परिज्ञात हुए। कभी-कभी आपकी कुशलता के समाचार लिखाते रहेंगे ॥

विज्ञापन अत्यन्त असभ्यता पूर्ण शब्दों से भरा हुआ पण्डित ताराचरण शर्मा भट्टाचार्य की ओर से निकला।" इस विज्ञापन के उत्तर में जो विज्ञापन छापा गया वह 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' के पूर्णसंख्या ३७६, भाग १, पृष्ठ ४१४-४१६ पर छपा है। ताराचरण भट्टाचार्य के विज्ञापन के उत्तर में छापा गया पूर्ण संख्या ३७६ का विज्ञापन ऋषि दयानन्द का लिखा है, ऐसा पं० लेखराम जी के जीवनचरित (हिन्दी सं० पृष्ठ १८४) से विदित होता है। परन्तु वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित होने वाले काशी शास्त्रार्थ की भूमिका (ले० मुंशी बख्तावरसिंह) में इसे भीमसेन शर्मा का बताया है।

१. यह पत्र श्री चमूपति सम्पादित पत्रव्यवहार भाग २, पृष्ठ ५-६ पर छपा है।

२. इन माता जी के सम्बन्ध में पं० लेखरामजी कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ १९३ पर लिखा है—

'संस्कृत की विदुषी श्रीमती माजी विहड़ नगर (बड़ नगर) ब्राह्मणी निवासिनी वरना सङ्गम आनन्द गुफा काशी, ने वर्णन किया कि जब स्वामी जी सं० १९३६ में यहां आये तो पौष के महीने में कर्नल आल्काट साहब, मैडम ब्लेवेट्सकी, सेन्ट साहब और उनकी पत्नी और कलकत्ता पुलिस के बड़े साहब की पत्नी, और दामोदर बम्बई वाले। ये सब हमारे मिलने को हमारे घर पर आये और स्वामी जी भी साथ थे। योग की सिद्धि की चर्चा चली।

और आपके विरुद्ध पक्ष वालों के पत्र तथा लेख कि हमने स्वामी जी को परास्त कर दिया इत्यादि विषयों के आते रहते हैं। अतएव निवेदन है कि आप की ओर के विज्ञापन पत्रादि भी बराबर यहाँ आया करें तो अच्छा है, जिस से एकदेशीय भ्रान्ति न हो ॥

अब कब तक आपका विराजना काशी जी में होयगा, फिर आप किधर को पधारगे ॥

इन दिनों तो वेद भाष्य का काम अच्छा चलता है। श्री श्री जगदीश्वर इसी प्रकार चलाये जाय तो अस्मदादिकों को इससे बढ़ कर और क्या आनन्द है ॥

कविराज जी श्री श्यामलदासजी का साष्टाङ्ग प्रणाम अंगीकार कहावेंगे ॥ किमधिकम्

सं० १९३६ माघ वदी ७[1]

भवदीय

ह० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या

—:०:—

[पूर्ण संख्या १५१] **पत्र-सूचना**

[शुकदेव प्रसाद नसीराबाद माघ सं० १९३६ का पत्र][2]

—:०:—

हम से कहा कि हमारे देश में दो पैसे के लिये (योग की) सिद्धि दिखलाते हैं, हम इसको बहुत बुरा समझते हैं। यह काम मदारियों के हैं। हम योग में सिद्धि को बुरा समझते हैं। ऐसी बात ठीक नहीं है। फिर हम भी उनसे मिलने को आनन्द बाग गयी थी...... ....।'

१. ३ फरवरी १८८०।

२. शुकदेव प्रसाद (नसीराबाद)का माघ सं० १९३६ का पत्र श्री मामराज जी के संग्रह में था, जो नष्ट हो चुका है। उसी के आधार पर हमने ऋ० द० के पत्र विज्ञापन में पूर्ण संख्या ३८२ (पृष्ठ ४१९) की पत्र-सूचना छापी है।

[पूर्ण संख्या १५२] पत्र-सूचना

[मूलराज एम० ए० का ११ फर्वरी १८८० का पत्र][1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १५३] पत्र-सारांश

यदि आप मुझे योग की वह आश्चर्यजनक शक्तियां दिखा सकें जो हिन्दू शास्त्रों में वर्णित हैं तो मैं उनके विषय में सभ्य जगत् में तुमुल आन्दोलन उत्थापित करूंगा।[2]

सिनेट
सम्पादक, पायोनियर, इलाहाबाद

—:o:—

[पूर्ण संख्या १५४] पत्र-सूचना

[बाबू श्रीप्रसाद जयपुर का पत्र।][3]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १५५] पत्र

बाबू श्री प्रसाद को नमस्ते मालूम हो[4]।

अपरञ्च मेरे पत्र के जवाब में आप का पत्र पहुंचा। निहायत खुशी हासिल हुई इन बात को सुन कर कि अष्टाध्यायी बहुत शीघ्र छपने वाली है, क्योंकि मेरे नजदीक इस के भाषा उल्था से भरत

---

१. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के १९ फरवरी १८८० के पूर्ण संख्या ३८९ (पृष्ठ ४२४) के पत्र के प्रथम वाक्य से मिलती है।

२. यह पत्र-सारांश पं० देवेन्द्रनाथ संकलित जीवन चरित पृष्ठ ५९६ पर निर्दिष्ट है। इसके उत्तर में ऋ० द० ने जो पत्र लिखा उसे पत्र और विज्ञापन में पूर्ण संख्या ३९१, (पृष्ठ ४२६) पर देखें।

३. इस पत्र की सूचना बा० श्रीप्रसाद के पूर्णसंख्या १५५ (भाग ३, पृष्ठ १२३ पं० १३) से मिलती है।

४. यह पत्र श्री मामराज जी के संग्रह में था। हमें उन से ही इस पत्र की प्रतिलिपि प्राप्त हुई थी।

खण्ड में संस्कृत की अत्यन्त ही उन्नति हो जायगी इस में कुछ संदेह नहीं है। यह बहुत ही श्रेष्ठ और परोपकार है। इसलिये इस में जितनी जल्दी हो सके उतनी ही बहतर है, क्योंकि आज कल के समय में प्रथम तो संस्कृत के पढ़ाने वाले बहुत कम मिलते हैं जो कि हर एक बात को निस्संदेह कर के बता सकें। दूसरे ऐसा ग्रन्थ सो भाषा-मयी है ही नहीं, जैसा कि अब आप तय्यार करे देते हैं, जिस में कि मैं जानता हूं पण्डित की भी बहुत जरूरत आप न रक्खेंगे, क्योंकि आप की व्याख्या ऐसी ही है जिस से कोई भी संदेह नहीं रहता है अर्थात् जो कभी किसी को संदेह न उठे तो भी आप अपनी तरफ से ही तरक कर-कर के निवृत्ति करते चले जाते हैं। सो ऐसा ही इस के उल्था में भी होगा। और मैंने इस को पढ़ना शुरु कर दिया है सो प्रथम अध्याय के आज दो पाद पूर्ण हो गये हैं। १० वा १२ सूत्र रोज पढ़ता हूं।

सो मैं अपनी भी राय लिखता हूं, जो-जो बातें कि उल्था में होनी चाहिये। आपने तो यह सब बातें पहले ही रख दी होंगी, परन्तु मुझे पढ़ने में जिस-जिस बात की कबाहत नजर आई, सो लिखता हूं॥

(१) छापा बहुत उमदा स्पष्ट अच्छे कागज पर हो। सो यकीन है कि आप लेजरस कंपनी से ही छपवायेंगे और उसका छापा काशी में अव्वल दरजे का है॥

(२) सूत्र मोटे अक्षरों में, टीका बारीक में।

(३) सूत्रों का पहले पदच्छेदन[1] किया जाय और जिन पदों में जो समास हो उन का उसी समास के नाम से पदच्छेदन किया जाय फिर हर एक पद-पद पर नम्बर लिख कर नम्बरवार हर एक पद का अर्थ लिखा जावे॥

फिर यह बात लिखी जाय कि ऊपर के सूत्रों की अनुवृत्ति कौन-कौन सी बरत रही हैं। और कौन-कौन से कारण से बरतती है। और कौन-कौन कारण से कौन-कौन निवृत्ति हो गयी जिसमें अनुवृत्ति करने की रीति भी आ जावे। फिर कुल मत सब मिलाकर लिखा जावे। फिर उसके उदाहरण दिये जावें और उदाहरण की व्याख्या भी की जावे। पहले तो उदाहरण में असिद्ध रूप लिखा जावे, फिर उसका सिद्ध रूप लिखा जाय, क्योंकि सिरफ सिद्ध रूप के ही लिखने

१. अर्थात् पदच्छेद।

से मतलब नहीं समझा जाता। और अर्थ भी हर एक शब्द का जो उदाहरण आदि में आवे लिखा जाय॥

(४) जहां पर जो शब्दगण व धातुगण का प्रसङ्ग आवे वहां पर गणपाठ और धातुपाठ के माफिक कुल शब्द गणों के मय अर्थ के लिखा दिये जावें॥

(५) लिङ्गानुशासन भी शामिल होना चाहिये॥

(६) प्रथम जो १४ सूत्र माहेश्वर[1] जी के हैं उस में स्थान प्रयत्नादिक विषय पाणिनि-शिक्षानुसार व्याख्या सहित हो तो ठीक है।

इस प्रकार से जो इस किताब में सम्पूर्ण अङ्गों की पूरी व्याख्या हो जाएगी, तो फिर सिद्धान्तकौमुदी आदि कोई भी न पढ़ेगा। और सब लोग इसी को पढ़ा करेंगे। और एक ही किताब से पूण व्याकरण आ जायगा। सो यह सब, बल्कि न जाने क्या-क्या और भी विशेष ख्याल आपने कर लिये होंगे॥

मुझ को इस छपे हुये (ग्रन्थ को) देखने का बहुत ही शोक[शौक] है सो यह लिखें कि कब तक यह छपने लगेगी और……[2] हूं कि जितनी रोज छपे उतने ही मेरे पास रोज अ…[2]करे इस के रोज का महसूल जुदा दे दिया जायगा सो एक कापी तो इस तरह से रोज आती रहने का और जब तय्यार हो कर सब को भेजी जावें तब के और, इस तरह से (२) कापी का मेरे पास आते रहने का इन्तजाम कर दीजियेगा, जिन की कीमत के वास्ते ……[2] भेजे हैं। और ५ रुपया अधिक जो हैं अर्थात् हुण्डी जो……[2] है सो अव्वल तो रोज का महसूल एक कापी का उस में दिया जायगा और दोयम जब तक कापी छप कर न आवेगी तब तक किसी-किसी सूत्र की लिखा-लिखा कर व्याख्या मंगवाई जायगी। उस के खर्च में आते रहेंगे। जैसे कि मैंने प्रथम के २ पाद पढ़े है, उन में से नीचे लिखे हुए सूत्रों का बोध अच्छी तरह न हुआ। इसलिए इनकी व्याख्या लिखा कर भिजवा दें। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में तो—सूत्र ४। ३४। ५६। ५७। ५८। ५९। और दूसरे पाद में ४३। ४४। ५१। ५३; ५४। ५५। ५७। ५८।

---

१. महेश्वर पाठ चाहिये।

२. पत्र के अक्षर चूहे काटने से नष्ट हो गए।

और जो कोई पं० अष्टाध्यायी पढ़ाने वाला आप की पसन्द का १५) माहवारी तक आ सकें तो भेज देना चाहिये। इसका जबाव कृपा कर के जल्दी लिखा दें और चिट्ठी लिफाफे में बन्द हो कर आनी चाहिये सो टिकट भेजा है ॥[1]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १५६] तार-सारांश

आप के नाम के साथ क्या लिखें।[2]

कर्नल आल्काट

—:०:—

[पूर्ण संख्या १५७] सूचना-पत्र[3]

संख्या ४६१ ता० २४ फरवरी सन् १८८०

दयानन्द सरस्वती स्वामी का निवेदन पत्र पढ़ा गया जिस में

---

१. यह पत्र श्री मामराज जी से हमें प्राप्त हुआ था। उस पर श्री मामराज जी की टिप्पणी इस प्रकार थी—

[श्रीप्रसाद जी जयपुर में श्री स्वामीजी से मिले थे। वह सरकारी नौकर म्होतमिम बन्दोबस्त जयपुर थे। इस कारण ही पत्र बन्द मंगवाया होगा तिथि का पता दूसरे पत्र से अनुमान करना होगा। इन का एक पत्र और भी है।

इनका हाल उर्दू जीवनचरित (पं० लेखराम जी वाले) उर्दू पृ० ५४१ [हिन्दी सं० पृ० ५८०] पर बाबू प्यारेलाल के पत्र में है। इस पत्र से बाद का जो पत्र है उस में तिथि फाल्गुन शुक्ला ८ संवत् १९३६ (१९ मार्च १८८०) लिखा है। अत: यह पत्र उस मिति से पूर्व का है।

इस के उत्तर में जो पत्र ऋषि ने भेजा होगा। वह बहुत ही उपयोगी होगा। जयपुर में जाकर मैंने इसकी बड़ी खोज करी, परन्तु कुछ नहीं मिला॥ मामराज। लाहौर २-३-३५।]

२. देखो 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन', पूर्ण संख्या ६४८ (पृष्ठ ६७५) पर मुद्रित 'थियोसोफिस्टों का गोलमाल पोलपाल' विज्ञापन। इस तार का उत्तर पूर्ण संख्या ३८७ (भाग १, पृष्ठ ४२२) पर देखें।

३. कई दिन तक काशी के मैजिस्ट्रेट को भेजे गये 'ऋषि दयानन्द के पत्र

उन्होंने बनारस में मॅजिस्ट्रेट की आज्ञा की कि 'वह बनारस में धार्मिक विषयों पर व्याख्यान न दें' शिकायत की है। आज्ञा हुई कि निवेदक को सूचना दी जावे कि लेफ्टिनेन्ट गवर्नर व चीफ कमिश्नर की सम्मति में उक्त अवसर पर मॅजिस्ट्रेट ने ठीक कार्य किया था और निवेदन अस्वीकार किया जाता है।

पी० स्टीभन
जूनियर सेक्रेटरी

—:०:—

[पूर्ण संख्या १५८] पत्र[1]

सूरत ता० १६ मार्च १८८०[2]

महाराजा धीरज पंडित दयानंद सरस्वति स्वामी जी काशी

आप की कृपा दृष्टि का पत्र हाल बहुत मास से मीला नहीं सो कृपा कर के भेजना संस्कार विधि का काम आपने बहुत बडा दिया दीख पड़ता क्यु की अब ४ वर्ष हुआ मेरा नाणा मेरे घर आया नहीं प्रथम तो देखा की ५०० नकल का दाम आया उस में से मेरेकु देना आपकु अवश्य होता सो न कीया फेर मेरे से बे मालुम पुस्तक मुंबई से मंगवालीया तब मेने रु० की खातिर लीखा तो आप ने उत्तर दीया हीसाब सब भेजो हीसाब आये से रु० तुरत भेज देगा परन्तु तुमने मात्र लीखा कीया तो कुच्छ नही ओर मेने हीसाब भेजा तब तो आप ने पत्र व्यवहार ही बंध कर दीया तो मेरे कु पण्डित सुन्दरलाल जी कु लिखना पडा फीर आपने लीखा हीसाब निःसंदेह नहीं उनकु भि ८ मास हो गया परन्तु मालुम हुआ नही की अब तक हिसाब नि संदेह हुआ कि आपका संदेह नहीं जाता सो कुछ मालुम नहीं होता हम ज्ञान थोडे वाले लोक लंबा संदेह की बात नहीं करते और कोई करे तो उनकी

और विज्ञापन' पूर्ण संख्या ३७१ (पृष्ठ ४११) पर छपे पत्र का उत्तर नहीं आया तो ऋ० द० ने लेफ्टिनेण्ट गवर्नर वा चीफ कमिश्नर को एक पत्र भेजा था [द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पूर्ण संख्या ३७३ (पृष्ठ ४१३) का पत्र] उसके उत्तर में यह पत्र भेजा गया था। यह उत्तर पं० देवेन्द्रनाथ सं० जीवन चरित हिन्दी सं० पृष्ठ ५९४ पर मुद्रित है।

१. यह पत्र श्री मुंशीराम सम्पा० पत्रव्यवहार पृष्ठ २८६-२८७ पर छपा है।

२. सं० १९३६ फाल्गुन शुक्ला ५।

शोभा बनी न रहती और आपकु जो पत्र लीखता उनका जवाब भी नहीं आता अच्छा आपकु एसाइ करना चाहिये ओर हमारा देश एसीइ दुर्दशा में रहना चाहीये क्योंकि व्यवहार अच्छा नहीं सो देश की बढती नहीं होती एसा आपका मत हमने बहुत दीनो से स्वीकार कर लिया है कृपा रखना।

आपका सेवक
ला० केशवलाल निर्भयराम

—:०:—

[पूर्ण संख्या १५९] पत्र

सूरत ता० ५ एप्रील १८८०[1]

महाराज पंडित स्वामी दयानन्द सरस्वति जी काशी

आप का कृपा पत्र ता० ३१ मार्च का आज आया उससे बहुत आनंद हुआ की १० मास पीछे आप का पत्र दर्शन हुआ आपने सब हीसाब और पत्र देख के सार निकाला और मेरा ता० ३१ दिसंबर १८७८ का पत्र मे ४०९।।। चार सौ पौने दस रुपैये बाकी मेने नीकाली और ता० ३० आगष्ट १८७९ के मेरा पत्र मे जो बाकी नीकाली है सो दोनो बाकी आप ने कबुल रखी सो ठीक है परन्तु ता० ३० आगष्ट का उक्त पत्र में बाकी ४२५।।≡ चार सौ पौनी छब्बीस रुपैया और तीन आना है के ५२५।।।≡ पांच सौ पौनी छबीस रुपया तीन आना है सो तपास करके लीखीये संस्कार विधि की मुल्ल रकम ५०५।≡ की थी उस पर २ बरस का सुद लगा तो ५४९=) हुआ उस में से विक्रय सब जात का पुस्तकों का मोल बाद कीया गया अर्थात जमा करा गया तो संवत् १९३४ का अंत पर्यंत ४०९।।। रुपैया हुआ आप जो मोल बाद करते हो सो फेर दुसरी बखत बाद हो जाता है सो भूल होती है सो सहज आप की ध्यान में आ जायगी और पत्र जल्दी देना और उनमें लिखना कि सब हिसाब का निश्चय कीया ता० ३१ मी डीसंबर १८७८ का पत्र मुजब ४०९।।। बराबर है और रुपैया आप से जीत्ता बने उत्ता हाल भेजना सो मुंबई में प्राणजीवनदास काहनदास कु पाश्रो मेरा भाइ शंकरलाल निर्भयराम

१. सं० १९३६ चैत्र कृष्णा ११।

मुंबई में है उनकु पीछानता है उनकु पावती नाम रसीद ले के देना और जो बाकी रहेगा सो पीछाडी से देना उसकी फीकर नहीं जो अपनी प्रीती बनी रहै तो इस से ज्यादा क्या है प्रत्युतर शीघ्र देना—

ला० सेवक केशवलाल निर्भयराम
का प्रणाम वाचना

—:o:—

[पूर्ण संख्या १६०] पत्र-सारांश

[1]मैं पावण श्राद्ध करना चाहता हूं, उसके लिए एक बकरा भी तैयार है। आप कृपा करके पधार कर इस को विधि पूर्वक करा दीजिये ।[2]

मुकन्द सिंह
छलेसर (अलीगढ़)

—:o:—

[पूर्ण संख्या १६१] पत्र-सूचना

[श्री प्रसाद जयपुर का १६ मार्च का पत्र][3]

—:o:—

---

१. मुकुन्दसिंह के पत्र का यह सारांश 'पितृयज्ञ-समीक्षा' लेखक भूमित्र-शर्मा आर्योपदेशक, भास्कर प्रेस मेरठ में द्वितीय भाद्रपद बदि १ सं० १६७४ मुद्रित में निर्दिष्ट है।

२. इस पत्र का जो उत्तर ऋषि दयानन्द ने दिया था वह 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या ३६४ (पृष्ठ ४२७) पर देखें।

३. इसकी सूचना श्री प्रसाद के अज्ञात तिथि के पूर्व पूर्ण संख्या १५५ (पृष्ठ १२३) पर मुद्रित पत्र के अन्त में श्री मामराज जी की टिप्पणी में मिलती है। यह पत्र मामराज जी के संग्रह में था। वह नष्ट हो गया।

[पूर्ण संख्या १६२] पत्र

19 Aebrecht. T. H.
Wies b‌ıd‌.:n, April 5th 1880.

Most venerable Sir and Master

I feel a strong impulse to write to you. Since I have read and studied your life and your philosophy, my spirit is attracted and drawn to yours with powerful strings invisible to human eyes, but irresistable to me.

May I approach you, a pupil to a master, in a search of truth ? Grant my desire and make me happy, for I am thinking for want of water from the spring that the Almighty has shown you.

When still a youth, attending the High School in my native town, one of our teachers of History threw out a hint to us that India, the cradle of mankind and civilisation was still hiding within her bosom the grandest of all philosophies of the whole work known to mankind He spoke about the vedantic books as a man will speak of dear forsaken children. But farther he did not go in his communication and left us pondering over the matter; as boys will ponder about a thing incomprehensible, but worth of thought, the one an hour, the other a day, the other for years to pass. Perhaps our teacher thought our minds were not as yet prepared and ripe enough to bear such great resplendent truths; or he had a secret fear that his superiors and colleagues might badly think him for daring to put Eastern philosophy before the Western, impaning their own nimbus of infallibility.

Soon after this, I had to enter the current of life and do my share of fighting in the great struggle for bodily existence. So struggling hard, I never forgot of picking

wisdom upon my path, wherever I met with some in nature. books and men The Indian books of wisdom I never met with and had to gather the scanty grains of truth need to keep the inner spiritual man from sheer starvation, a beggar like in fields of corn cut down by reapers and carried home, leaving but few stray ears between the stabbles for me, poor man. Thus I wandered and cut my way, often with a sad heart, so far through the world with honour and resignation. Almost indifferent I had become against philosophy and immortality in that small Island which rules the commerce of the world by intrepidity and other qualities that make a nation wealthy and strong stretching its powerful arms round distant empire and nations, much larger than their own. Arrived at England's shore I pondered, shall I now jump into this rapid current of material life, and shall I be able to keep my head above the waters, or shall I tarry and retire into a desert. Where I can ponder in peace about the problems of spirit unsolved yet to my mind or risk to be corrupted mind and saul by the bad vapours of that dirty stream called stream of life ?

I stood like Hercules on the parting way, not quite decided to take the right or left. The one way led to enjoyment and change and comfort in society, the other to solitude, bodily restraint and want perhaps to misery and early death on a dark road, I could not see the end of.

So I chose the former, as I to my own consolation and to quiet the voice of conscience whose faint lisp I clearly heard protesting, said to myself. I never got a proper taste worldly and material life as the best days of my youth are almost lost in combat with the world for mere existence, can I lose much by diving into the stream of social life and pleasures, as others do who do not seem to be the

worse for it. Can I not ga her experience in Wisdom in that way, as in the other, by keeping sober and controlling myself as wise men do; instead of timidly withdrawing from danger and temptation into a quiet corner, burdened alike with work, away from life and man, unable to observe and study both? No I will plunge boldly into the sea of life and continue my way like others; by trying one may gain more knowledge and wisdom than by keeping at a distance alone and left to feed the spirit upon its own resources, which, together with the resources for bodily maintenance may dry up and leave me unhappier than before. Ten years I spent in Albion, teaching and learning alternately. I studied life and man, took part in social life to gather experience, enjoy myself along with it as well as circumstances would permit, and learn the good of others, I yearned to possess. The profit after all of this experiment, I fear cannot make up for what I lost in spirit. My mind and body occupied incessantly witn matter, material science and material men, grew dull and discontented at last, and I, disgusted of the glitter, the vanity and the hypocrisy of the majority, felt tired of it and almost of life which I thought wasted in that way. There, in half a despair, I asked within my heart from providence—that I had still a faint belief in, then, from passed events in life, —to grant me soon a quiet death, or to show me a way to find the truth of things, as to enable me to spend the rest of my poor life and power in doing some good to others, to fight for truth and, conquering or conquered, die in the battle-field. My silent prayer was soon fulfilled, I caught a glimpse of the eternal world, in the reality of which I had been doubting is want of proofs substantial and sure to the mind and even to the senses. Since then I quietly worked on the usual way for the supply of wordly

wants, but never lost sight of the new light I had perceived showing me an entrance to the invisible world,—our future home-by a way I never dreamt of In London an invisible intelligence informed me in the presence of some friends, who like myself, were inexperienced in such research and scepties, that I, though not possessed medial power of the known kinds, would nevertheless obtain success in private circles. Not seeing how this could come to pass without my being a medium like others. I thought little of this message, for I had heared of others who had been told that they were mediums and never turned out to be such.

Waiting since with patient resignation, not sanguine and eager to life the veil that still my look prevented from gazing into the hidden secret of spirit life there passed some years. I felt a yearning to know and see some more actual proofs apart from public mediums. Before I thought my wish was granted, by Providence I think though the blind multitude may call it "accident" The fact is a young spectic of noble descent, filled with the conceit of his School knowledge unto the brim of his brain, scorning and macking at spirit existence and of immortality—the fruit of modern education and wisdom of the teachers—turned out a powerful physical medium after I had a few experiments with him by taking part in sittings with him in the presence of others and without. Whenever I sat with him alone and kept both hands of his in mine, the power was greatest and surprised us both. By his power some friends of ours became convinced by fact of what I had myself convinced of long before, but which was now confirmed by evidence of an undoubtful kind.

To make it short: when this our medium had joined the German army, I met another in the same way without looking for him or knowing about his power, nor did he so himself. This was a young Englishman of wealthy family. His power developed very quickly and to a degree (power) most extraordinary. At different times flowers were brought to us by spirit power, when I was sitting alone with him and also in the presence of strangers. Once when I sat with him alone his hands clutched in firm grip by mine, a ring of solid brass was twice twisted on our arms, without breaking the chain of hands; and the same evening a spirit doctor giving his earthly name gave both of us distinct advice about our ailing health. For curiosity we both went each to his own doctor, to see what his advice would be, and to our great surprise they both gave us the same advice exactly that our spirit friend had given us the night before.

No more convincing proofs are needed for a man of reason and integrity of heart and spirit. To the ignorant materialistic crowd sometimes and dozen and more such proofs by fact are not sufficient to break their doubts: I have been taught so by sad experience. Still I am grateful to our Father in heaven that he, in his unbounded kindness to man, has given us such un deserved boon of being convinced of future life by fact,

I am now satisfied and feel no longer a desire for physical phenomena. A gentle spirit guide called by the name of "Veda", in spirit-land has come to me now for some years, warned me, blamed and adviced me, according to desert and to requirement for my own good, not direct, but only through a medium of highest gift I can communi-

cate with my heavenly guide. I owe so much to her, and her kind friends of higher spheres. Advice and information about things and important events of various kinds, concerning also my duties and my porpose on this earthly plain. My guide forbade me to sit for spiritual phenomena with strangers in future. I can use my power for better porposes and should not "throw pearls before the swine." I am, my spirit guide declares, destined to be a tutor and guide to the generation now growing up to lead them on the path of khowledge, righteousness, virtue and truth as they should be led all, but are not at present.

To this call I did respond with all my heart, I felt and knew before, it was my calling the best I could take in hand of any, for I have found by my experience that our race and time are greatly in want of educaton the higher kind, the education of spirit, heart and mind, and worst of all, in want of proper teachers and guides to lead them on into the path of real progress. To such a teacher and guide of youth I have been preparing myself for years, and I am glad to say have found a method of advancing my pupils much better and quicker than others in public and private schools I awaken the spirit, good-will and energy of youth and upgrown people to whom I give instruction, and lead them on a shorter and easier way to acquire the needful knowledge. I do not waste their power, nor stuff their brains with dead and useless lore, but practice and chose the most essential of all, taking care of laying a foundation firm and lasting to build upon it the rest. By daily examining my pupils in the substance of previous lessons, I make sure that everything important is properly fixed in the minds, and then we start on our new journey into the foreign region of science invaded by us, to be conqured in

the same way as cautious and prudent conquerors do, advancing into the country of enemies, leaving fortifications well armed and stocked behind to fall back upon for the retreat. The strategy is quite the same in art of war as in the art of conquering knowledge and science by degree, incessant, useful work and circumspection. But, alas, it does not seem that modern time has many good strategists in the ranks of her army of education, and human progress in the higher line and direction of a more harmonious state of the conditions, both material and spiritual, of man on earth. What can a single man do to alter such things to a degree atracting the notice of the world for imitation, support and emulation of the new and better way to progress ? He must do, I suppose, as much as in his power to make a fair start with two or three, work hard to make examples of them, for the world to see that by a different and more practical way of teaching, division of time, regard to health, encouragement and alacrity of spirit. a greater progress in knowledge not alone, but also of wisdom and manly virtue may be gained by pupils, so instructed and reasonably led by living example, word and deed.

This is my plan's simple and solid basis of instruction. O, tell me, dear master.—whom I adore in spirit above any man, I know and heard of, if you agree to this system and its principles revealed imperfectly in such few words ? I trust your spirit with keen sight, accustomed to perceive the truth of things, and penetrating the spiritual, true being of everything, brought to your view, near or distant, will give me credit and confidence for my good will, high purpose-not material-and gift, for some degree to do my task.

If such should be the case, and your spirit incline to me, and lend me its support a helping hand in the good work, I should be a happy mortal and do all I can, to thank God and you, the way you are thanked best by steady and divine work for our fellow men in unison of thought and heart, and to the honour of our Great Father in Heaven alone.

Herewith I send to you a printed form indicating my intentions and necessary particulars. If you can send me, dear master, a pupil or two but for a trail of a year or two, to convince yourself and others of the result, I should be glad indeed. In that short period of time I should be able to make pupils of normal capacity and gift well versed in English, German and French conversation and literature, and other arts and sciences, required for purposes of education of employment. With supporters, providence has blessed me, of which you will see the names upon my list. Prof. M. Muller, who, I am sure, is not your adversary in heart,—though in statistics he may be, imperfectly informed himself by spurious authority ins one of my supporters, another venerable, true friend of mine is his excellency count usedour, formerly ambassador of the empire of Germany in Italy. A gentleman of great experience of life in States affairs, noble of heart and mind and most earnestly interested in education and spiritual progress of humanity.

His friend, Baron de Bemsen, son of the late Germany ambassador in London has also promised me his warm support and sympathy for the good cause The same have other gentlemen, like Dr. Wyld, and many other friends

beyond the channel If you, beloved and venerated, spiritual master of mine, and of the minds on earth that strive for true progress in God, will close the chain and lend us your support and beliessing, I trust to God we shall succeed in planting a better seed into the minds of your youth, and by example induce the superficial word to follow in our wake to auger a new empire of truth and peace and divine love, which mankind never enjoyed before nor thought possible of being reached.

I feel in my heart a quietly burning flame to raise my spirit by your example to greater purity and strength to spread the divine light of Indian philosophy here in the West, where we do need so much "Vedantic" wisdom to counteract the evil effect of learned ignorance and want of wisdom, concerning the highest, most costly and imperishable fortunes of man, and to bring up and educate a nobler race than our present one steeped in corruption, atheism and nihilism—the great modern plagues of society, almost throughout the world, where the varnish of a false civilisation prevails to the detriment of divine nature in man, and his approach to the great source of light and life—our Eternal and Almighty Father whose true son you are, and whose babies we, comparatively speaking, are.

If you should not be able to supply me with the life material for my plan and purpose, I humbly beg from you your blessing; it may have, with God's consent, the same effect or still more powerful, as if I obtained material support in the shape of Indian pupils direct through you.

And now my living guide on earth I bid you goodbye, and wish you the continuance of his great blessings bestowed upon you for the benefit of myself and millions of other men in both worlds.

I have the honour and delight to be and to remain

Your grateful and obedient pupil in spirit. heart and soul.

G. WIESE.

SWAMI DAYANANDA SARASWATI

P. S.—Has your work the "V da-Bhashya" already been published in English, and where can one buy it ?

I am longing to study the Vedas in English translation, at least the principal books, or principal parts of them. In the November number of the "Theosophist" there was some information about translation of the Vedantic books, but having sent that copy to a friend in England, and being informed by the publisher of the "Theosophist" that all November copies are sold, I am unable to find out what I want. I wish I could get another copy of No. 2. Theosophist (No. 79) containing much that I must look over again. Why does not the "Theosophist" bring your au'obiography in regular succession ? We have had only two articles yet.

I send you a few cuts of the "Spiritualist" containing letters of mine.

भाषार्थ

१९ ऐब्रेक्ट टी. एच.
अप्रैल ५, १८८०

परमादरणीय महोदय एवं स्वामी,

आपको पत्र लिखने के लिये मैं प्रबल प्रेरणा अनुभव कर रहा हूं। मैंने आपके जीवन तथा दर्शन को पढ़ा है और उसका अध्ययन किया है, इसलिये मानवी नेत्रों से न दिखाई पड़ने वाली एक शक्तिशाली डोरी से बंधी मेरी आत्मा आपकी ओर आकृष्ट हुई है। इस आकर्षण का प्रतिकार मेरे लिये सम्भव नहीं है।

सत्य की जिज्ञासा लेकर एक गुरु के समक्ष उपस्थित शिष्य की

भांति क्या मैं आपके समीप आ सकता हूं ? मेरी इस अभिलाषा को पूरा करें और मुझे प्रसन्न करें, कारण कि मैं उस ज्ञान रूपी जल का इच्छुक हूं जिसके स्रोत को परमात्मा की कृपा से आप प्राप्त कर चुके हैं।

उस समय जब मैं अपने मूल निवास के कस्बे में हाई स्कूल में पढ़ने वाला एक किशोर ही था, हमारे एक अध्यापक ने, जो इतिहास पढ़ाते थे, हमें बताया कि भारत सम्पूर्ण मानवता तथा उसकी सभ्यता का पालन कर रहा है, तथा आज भी वह अपने भीतर मनुष्य के ज्ञान में समाविष्ट सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक मनीषा को समेटे हुए है। वह अध्यापक वेदान्त के ग्रन्थों के बारे में इतनी आसक्ति से बात करता था जैसे कोई मनुष्य अपने सोये हुए बच्चे के बारे में करता है। किन्तु उसने इस विषय पर आगे हमें कुछ नहीं बताया और हम को इस दर्शन के बारे में आगे चिन्तन करने के लिये अकेला ही छोड़ दिया कारण यह था कि प्रायः लड़के चिन्तन करने योग्य विषय पर सोचते ही रहते हैं चाहे वह उनके लिये अबोध ही क्यों न हो। ऐसे चिन्तनीय विषयों पर कभी वे एक घण्टे तक सोचते हैं तो किसी अन्य पर पूरा एक दिन लगा देते हैं और कई विषय तो इतने गम्भीर होते हैं कि उन पर चिन्तन करते करते कई वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। शायद हमारे अध्यापक ने सोचा होगा कि इतने अधिक देदीप्यमान सत्य का साक्षात्कार करने के लिये हमारा मस्तिष्क न तो तैयार ही है और न उतना परिपक्व; सम्भवतः हमारे अध्यापकों को इस बात का डर था कि यदि वह पाश्चात्य-दर्शन के समक्ष पौरस्त्य दर्शन की श्रेष्ठता को स्थापित करने का साहस करेगा तो उसके सहयोगी एवं वरिष्ठ लोग उसके विषय में दुर्भावना रखेंगे, जब कि उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि पाश्चात्य दर्शन की निर्भ्रान्तता का प्रभामण्डल अब विलीन हो रहा है।

इसके तुरन्त पश्चात् मुझे जीवन की धारा में प्रविष्ट होना पड़ा तथा अपने भौतिक अस्तित्व की रक्षा के लिये मैं संघर्षरत हो गया। अतः कठिन संघर्ष करने पर भी मैं उस सत्य को अंगीकार करना कभी नहीं भूला जो मेरे मार्ग में मुझे दिखाई पड़ा चाहे इस सत्य को मैंने प्रकृति में देखा या पुस्तकों में अथवा मनुष्यों में देख सका।

भारत में लिखे गये बुद्धि को प्रेरणा देने वाले ग्रन्थों को पढ़ने का

अवसर मुझे नहीं मिला किन्तु मनुष्य अपनी अन्तरात्मा को ज्ञान के भोजन से सर्वथा अतृप्त रखना उचित नहीं समझता, इसी न्याय से मैंने भी यत्र तत्र उपलब्ध ज्ञानामृत से अपनी आत्मा को परितुष्ट किया। किन्तु यह वैसा ही था जैसे कि कोई किसान अपनी फसल को काट कर अपने कोठे में भरते समय अन्न के कुछ दानों को किसी बुभुक्षित व्यक्ति के लिये छोड़ देने की अनुकम्पा करे। इस प्रकार उदास हृदय से मैं संसार में जीवनयापन करता रहा किन्तु अपने सम्मान को बचाये भी रक्खा। इस प्रकार मैं दर्शन और अमृतत्व से प्रायः तटस्थ होकर उस छोटे द्वीप[1] में चुप बैठा रहा जो अपनी निर्भीकता तथा अन्य गुणों से आज संसार के वाणिज्य जगत् पर शासन करता है। इन्हीं गुणों से कोई भी देश सम्पन्न और शक्तिशाली बनता है तथा अपनी सीमा का विस्तार करता हुआ दूरस्थ साम्राज्यों और देशों को भी अपने शक्तिशाली बाहुओं के भीतर समाहित कर लेता है। इंग्लेण्ड के समुद्र तट पर पहुंच कर मैंने सोचा कि क्या मुझे भी भौतिक जीवन की तीव्र धारा में कूद पड़ना चाहिए और उस स्थिति में क्या मैं अपने सिर को धारा के जल से ऊपर रख पाऊंगा अथवा किसी मरुस्थल की प्रतीक्षा करता हुआ विश्राम करूंगा। शान्ति के किस वातावरण में बैठकर मैं आत्मा से सम्बन्धित उन समस्याओं का चिन्तन कर सकूंगा जो अब तक अनसुलझी ही हैं अथवा जीवन की धारा कहलाने वाले उस अपवित्र जल प्रवाह की दुर्गन्ध युक्त वायु से मेरा मन और मस्तिष्क भी दूषित हो जायगा।

जीवन के इस दुराहे पर मैं वीर हर्क्यूलीस[2] की भांति खड़ा हो गया किन्तु अभी तक अनिर्णय की स्थिति में ही था कि मुझे दांई ओर जाना चाहिए या बांयी ओर। एक मार्ग वह था जो आनन्द, परिवर्तन तथा समाज की खुशहाली की ओर जाता था, किन्तु दूसरा रास्ता वह था जो अपने यात्री को एक ऐसे एकान्त निर्जन में ले जाता था जहां शरीर संयम भी था तथा दुःखों एवं अकाल मृत्यु से भी जहां जाकर बचा जा सकता था।

फलतः मैंने पहले वाला रास्ता पकड़ा। इससे मेरे मन को कुछ सन्तुष्टि तो हुई किन्तु मैंने यह भी अनुभव किया कि अपनी अन्त-

---

१. लेखक का आशय इंग्लैण्ड से है। अनुवादक

२. यूनान का एक शक्तिशाली वीर पुरुष। --अनुवादक

रात्मा की आवाज को दबाकर ही मैंने यह निर्णय किया है। मुझे सांसारिक एवं भौतिक जीवन का वास्तविक आस्वाद नहीं मिल सका। क्योंकि अपनी अस्तित्व रक्षा के लिये ही मुझे अपनी जवानी के सर्वश्रेष्ठ दिनों में संघर्ष करना पड़ा था। मैंने सोचा कि क्या मुझे भी दूसरों की भांति सामाजिक जीवन और आनन्द की इस धारा में में गोता लगाने से कुछ अधिक हानि तो नहीं होगी? बुद्धिमान् मनुष्यों की भांति एक संजीदा दृष्टिकोण अपना कर और स्वयं को नियन्त्रित रखकर क्या मैं बुद्धि विषयक अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता बनिस्बत इसके कि खतरे और प्रलोभन से भयभीत होकर एकान्त कोने में मैं बैठा रहूं जबकि जीवन और मनुष्य समाज से दूर रहकर भी काम का बोझ मेरे सिर पर यथावत् रहे और मैं निरीक्षण और अध्ययन दोनों से सर्वथा वञ्चित रहूं। नहीं, मैं जीवन सागर में बहादुरी से गोता लगाऊंगा और अन्यों की भांति अपने मार्ग पर चलता रहूंगा। जीवन की समस्याओं से दूर रहने की अपेक्षा उससे जुड़ा रहकर कोई व्यक्ति अधिक ज्ञान और प्रज्ञा को प्राप्त कर सकता है। यदि मनुष्य की अपनी आत्मा को उसके स्रोतों से खाद्य ग्रहण करने के लिये छोड़ दिया जाय तब तो जीवन शुष्क हो जायेगा और जीवन अधिक कष्टदायक बनेगा। मैंने दस वर्ष एलबियोन में व्यतीत किये। यहां मैं बारी बारी से पढ़ता और पढ़ाता रहा। मैंने व्यक्ति और उसके जीवन का अध्ययन किया, अनुभव प्राप्त करने के लिये सामाजिक जीवन में भी भाग लिया। जहां तक परिस्थितियों ने आज्ञा दी, मैंने जीवन का आनन्द लिया और दूसरों की अच्छाइयों को देखा और वही सीखा जो कि मेरा अभीष्ट था। इस प्रयोग का जो लाभ मुझे मिला, वह उसकी अपेक्षा कुछ अधिक नहीं था जो मैंने आत्मिक दृष्टि से खो दिया। मेरा मन अनवरत रूप से जड़ पदार्थों, भौतिक विज्ञान तथा भौतिकता में आकण्ठ मग्न लोगों के प्रति आसक्त होता गया. अन्ततः वह निष्क्रिय और असन्तुष्ट होता गया। मुझे मानव समाज के बहुलांश की चमक दमक, मिथ्याभिमान तथा दम्भ से घृणा हो गई; मैं मनुष्यता के इन दुर्गुणों को देखकर थक सा गया, मुझे जीवन से ही घृणा हो गई और मैंने सोचना आरम्भ किया कि मेरा तो जीवन ही नष्ट हो गया है। इस स्थिति में, अर्ध निराशा की सी मनःस्थिति में, मैंने परमात्मा से अपने हृदय के भीतर ही पूछा, क्योंकि अब तक मेरा उसके प्रति

विश्वास इसलिये बचा हुआ था, क्योंकि मैंने अपने विगत जीवन में कुछ ऐसी ही घटनायें देखी थीं। मेरी परमात्मा से याचना थी कि या तो वह मुझे शान्तिपूर्ण मृत्यु प्रदान करे या जीवन के सत्य को जानने का मार्ग दिखाये, जिससे कि मैं अपने तुच्छ अवशिष्ट जीवन को दूसरों के प्रति स्वल्प भलाई करने में लगा सकूं, सत्य के लिये लड़ सकूं चाहे उसमें मेरी विजय हो या पराजय, अथवा इस युद्ध क्षेत्र में मेरी मृत्यु ही हो जावे।

मेरी यह मौन प्रार्थना स्वीकार हुई, मैंने उस शाश्वत जीवन की एक झलक देखी जिसकी वास्तविकता के प्रति मैं सन्देहशील था क्योंकि अब तक मेरे मस्तिष्क और इन्द्रियों को उसके निश्चय में ठोस और पुष्ट प्रमाण नहीं मिल सके थे। उस दिन से मैंने दुनियावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शान्तिपूर्ण प्रयास किये, किन्तु इस अवधि में भी मैंने उस नवीन प्रकाश की ओर से अपनी दृष्टि को ओझल नहीं होने दिया जिसने मुझे उस अदृश्य संसार में प्रवेश करने का मार्ग दिखाया था, जो हमारा भावी निवास था, किन्तु जिसकी मैंने अब तक कल्पना भी नहीं की थी।

लन्दन में कुछ मित्रों की उपस्थिति में, जो मेरी ही भांति आध्यात्मिक अनुभवों से शून्य तथा सन्देहवादी थे, मुझे किसी अज्ञात शक्ति ने सूचित किया कि चाहे मैं मध्यस्थ बनने की सुज्ञात रीतियों से अनभिज्ञ ही हूं तथापि निजी प्रयोगों में मुझे सफलता मिल सकती है। अन्यों की भांति मध्यस्थ की स्थिति प्राप्त किये बिना यह कैसे सम्भव है, यही मेरी समस्या थी। मैंने इस सन्देश को गम्भीरता से नहीं लिया क्योंकि मैंने दूसरों के बारे में भी यह सुना था कि वे मध्यस्थ की भूमिका निभा सकते हैं, किन्तु वास्तविक परिस्थिति में वे ऐसा नहीं कर सके।

उस दिन के पश्चात् सम्पूर्ण धैर्य और समर्पण भाव से मेरा जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता गया। इस अवधि में मैं जीवन के रहस्य को जानने के प्रति न तो आशावादी ही था और न बहुत उत्सुक, क्योंकि आत्मा के गुप्त रहस्य पर जो पर्दा पड़ा हुआ था उसे हटाने की कोई स्थिति तब तक बनी ही नहीं थी। मैं आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि में कुछ वास्तविक प्रमाणों को जानने के लिये लालायित था,

मुझे उन मध्यस्थों[१] से ही सन्तुष्टि नहीं थी जो प्रायः सार्वजनिक रूप से अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करते हैं। इससे पहले कि मैं कुछ सोचता, मेरी इच्छा को परमात्मा ने ही पूर्ण कर दिया, चाहे सामान्य जन समाज उसे आकस्मिक घटना ही क्यों न मानें। यह घटना इस प्रकार घटी। यहां मैं इस प्रसङ्ग को उद्धृत करूं। एक कुलीन नौजवान था जो आरम्भ से ही आत्मिक शक्तियों को लेकर संदेहवादी था, जिसके मस्तिष्क के ऊपरी स्तर तक स्कूल में अर्जित ज्ञान का ऐसा अहङ्कार भरा हुआ था, जिसके कारण वह आत्मा के अस्तित्व तथा उसके अमरत्व का तिरस्कार और उपहास करता रहा। आत्मा के प्रति उपहास और तिरस्कार का यह भाव आधुनिक शिक्षा और उसे सिखाने वाले बुद्धिमान् अध्यापकों का उपहार ही माना जायगा। इसी युवक के साथ अनेक लोगों की उपस्थिति में और कभी कभी एकान्त में भी मैंने उसके साथ बैठ कर अनेक प्रकार के आध्यात्मिक प्रयोग किये। तब मैंने पाया कि यह युवक अध्मात्म विषयक प्रयोगों का शक्तिशाली माध्यम हो सकता है। जब कभी मैं उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर एकान्त में बैठा, मैंने अनुभव किया कि उस समय यह आत्मिक शक्ति सम्पूर्ण क्षमता से अवतरित होती है। यह अनुभव हम दोनों के लिये विस्मयकारक था। उसकी इस शक्ति को देखकर हमारे कुछ मित्रों को आध्यात्मिक शक्तियों में पूर्ण विश्वास हो गया, मुझे तो बहुत पहले ही इन पर भरोसा हो चुका था, किन्तु अब प्राप्त इन निर्णायक प्रमाणों से उसकी पुष्टि हो गई।

संक्षेप में मुझे इतना ही कहना है कि जब इस माध्यस्थ ने जर्मन सेना में प्रवेश ले लिया तो मेरी एक अन्य से अप्रत्याशित भेंट हुई जिसकी शक्ति का ज्ञान न तो खुद उसे ही था और न मुझे। यह व्यक्ति एक सम्पन्न परिवार का युवा अंग्रेज था। उसकी शक्ति का विकास अत्यन्त द्रुतगति से असाधारण रूप से हुआ। जब कभी मैं उसके पास अकेला बैठा होता, तो किसी दैवी शक्ति द्वारा हमारे पास पुष्प आ जाते। कभी कभी अपरिचितों की उपस्थिति में भी ऐसा हो जाता। एक बार जब मैं उसके पास एकान्त में बैठा था

१. यहां मध्यस्थ से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जिसके माध्यम से हिप्नोटिज्म विद्या वाले कुछ बातें जानने का प्रयास करते हैं। —अनुवादक

और उसने अपने हाथों से मेरे हाथों को मजबूती से लपेट रक्खा था, हमने देखा कि पीतल की एक मजबूत छड़ हमारी भुजाओं से लिपटी हुई है, जब कि हमारे हाथ पूर्व की ही भांति बन्धे हुए थे। उसी सन्ध्या एक अदृश्य चिकित्सक ने अपना सांसारिक नाम बताते हुए हम दोनों के बिगड़ते स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्पष्ट परामर्श दिया।

उत्सुकतावश हम दोनों अपने निजी चिकित्सकों के पास गये, यह जानने के लिये कि उसकी इस सम्बन्ध में क्या राय है, और हमें यह जानकर घोर आश्चर्य हुआ कि उन्होंने भी हमें ठीक वही परामर्श दिया जो एक रात्रि पहले उस अदृश्य आत्मा (चिकित्सक) ने दिया था।

इससे अधिक निश्चयकारक प्रमाणों की आवश्यकता उस व्यक्ति को नहीं हो सकती जो अपनी आत्मा तथा हृदय से तर्क बुद्धि वाला तथा सचाई युक्त हो। किन्तु उन अज्ञानी भौतिकवादी लोगों की भीड़ को क्या कहा जाय जिनके संशयों का निवारण तो ऐसे दजनों प्रमाणों से भी नहीं किया जा सकता। अनेक दुःखद अनुभवों से मैं यह जान पाया हूं। तथापि मैं अपने स्वर्गस्थ पिता का आभारी हूं जिसने मनुष्य के प्रति निस्सीम अनुकम्पा दर्शाई है और तथ्यों के द्वारा भावी जीवन का प्रमाण प्रस्तुत कर हमें अपूर्व वरदान दिया है।

अब मैं स्वयं को पूर्ण सन्तुष्ट अनुभव करता हूं तथा मुझे किसी भौतिक क्रियाकलाप की आकांक्षा नहीं है। कुछ वर्षों से आत्मा के संसार में निवास करने वाली वेद रूपी निर्देशक शक्ति मुझे प्राप्त हो चुकी है। इसने मुझे चेतावनी भी दी है, परामर्श भी दिया है तथा मेरी भर्त्सना भी की है, किन्तु यह सब मेरे भले के लिये तथा मेरी अर्हता के अनुकूल ही हुआ है। यह परामर्श मुझे प्रत्यक्ष रूप से न मिलकर एक ऐसे उच्च माध्यम से प्राप्त हुआ है जिसके कारण मैं उस दैवी परामर्शदाता से अपना सम्पर्क स्थापित कर सकता हूं। मैं उस दैवी शक्ति तथा उसके आध्यात्मिक स्तर पर निवास करने वाले उदार मित्रों का बहुत आभारी हूं। इस शक्ति से मुझे विभिन्न विषयों से सम्बन्धित परामर्श तथा सूचनाएं प्राप्त हुई हैं तथा इस भौतिक

जगत् में मेरे कर्तव्यों तथा उद्देश्य सम्बन्धी निर्देश भी मिले हैं। मेरे परामर्शदाता ने मुझे भविष्य में आध्यात्मिक अनुभवों को प्राप्त करने के लिये अपरिचितों के निकट बैठने के लिये निषेध किया है। उसने कहा है कि मैं अपनी शक्ति का प्रयोग श्रेष्ठतर लक्ष्यों की पूर्ति के लिये कर सकता हूं अतः मुझे इन मोतियों को शूकरों के आगे नहीं फेंकना चाहिए। मेरे आध्यात्मिक गुरु ने यह घोषणा की है कि आने वाली सन्तति का मैं गुरु और निर्देशक बनूंगा, उसे ज्ञान, धर्म, सत्यता और ईमानदारी के उस मार्ग पर ले चलूंगा, जिस पर वह अभी नहीं जा रही है।

उसकी इस आवाज को मैंने दत्तचित्त होकर सुना है। मैं यह तो पहले ही जानता तथा अनुभव करता था कि मुझे इसी लक्ष्य को अपनाना चाहिये क्योंकि मैंने अनुभव से यह जान लिया है कि हमारी जाति तथा हमारे युग को आज सबसे बड़ी आवश्यकता उच्चतर शिक्षा—आध्यात्मिक शिक्षा की है जो हृदय एवं मन का विकास करना सिखाती है। और सबसे बड़ी विडम्बना भी यही है कि आज ऐसे गुरुओं तथा मार्गदर्शकों का अभाव है जो लोगों को वास्तविक उन्नति के मार्ग पर चला सकें।

मैं वर्षों से स्वयं को एक ऐसा ही शिक्षक तथा मार्गदर्शक बनाने के लिये तैयार कर रहा था और यह कहते हुए मुझे प्रसन्नता होती है कि आज मैं अन्य सार्वजनिक तथा निजी विद्यालयों की अपेक्षा अपने शिष्यों को अधिक अच्छे प्रकार से प्रशिक्षित करने के तरीकों को जान सका हूं। मैं ऊर्ध्वमार्गोन्मुखी व्यक्तियों तथा युवकों की आत्मा, उनकी सदाशयता तथा शक्ति को उस समय जागृत करता हूं जब मैं उन्हें प्रशिक्षण देने लगता हूं और उन्हें अभीष्ट ज्ञान प्राप्ति के अल्प दूरी वाले तथा अपेक्षाकृत सरल मार्ग पर आगे बढ़ाता हूं। मैं उनकी शक्तियों को नष्ट नहीं होने देता और न उनके मस्तिष्क में जड़ तथा व्यर्थ की बातें ही भरता हूं, किन्तु मैं उसी शिक्षा को चुनता हूं जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिससे कि व्यक्तित्व के निर्माण की दृढ़ तथा चिरस्थायी आधारशिला रक्खी जा सके। मैं अपने शिष्यों को दिये गये पहले के पाठों की नित्य परीक्षा लेता हूं ताकि मुझे यह पता चले कि मैंने जो कुछ सिखाया है वह उनके मनों में सुस्थिर हो गया है। इसके पश्चात् ही हम उस नई यात्रा को आरम्भ करते हैं

जो विज्ञान के विदेशी क्षेत्रों तक हमें ले जाती है हम उस पर इसी प्रकार विजय प्राप्त कर लेते हैं जैसे कोई सावधान और आक्रमणकारी अपने शत्रु देश की ओर आगे बढ़ता जाता है किन्तु अपने पीछे के दुर्गों को भी आयुधों से परिपूर्ण बनाये रखता है ताकि सन्धि के पश्चात् पीछे हटने पर भी इसे कठिनाई न हो। युद्धों में अपनाई जाने वाली नीति और क्रमश: तथा अनवरत रूप से ज्ञान प्राप्ति की कला में एक अद्‌भुत समानता है। किन्तु शोक तो इस बात का है कि आज शिक्षा की सेना में ऐसे नीतिनिपुण लोग बहुत बड़ी संख्या में नहीं हैं। यही कारण है कि धरती पर निवास करने वाले मनुष्य की भौतिक और आत्मिक उन्नति के सन्तुलित विकास की दिशा भी अवरुद्ध हो गई है। एक आदमी भला इन स्थितियों में परिवर्तन कैसे ला सकता है जब कि प्रगति के नवीन और अधिक अच्छे मार्ग पर चलने में अन्य लोग उसका अनुकरण करें, उसे सहायता दें तथा—

मेरे विचार से तो उसे दो या तीन व्यक्तियों के सहयोग से अपनी शक्ति के मुताबिक एक अच्छा आरम्भ कर ही देना चाहिए, दूसरों के लिये स्वयं को नमूने के तौर पर पेश करने के लिये उसे घोर परिश्रम करना चाहिए। ऐसा करके वह दुनिया को समझा सकेगा कि प्रशिक्षण के एक भिन्न तथा व्यावहारिक तरीके को अपना कर वह अपने शिष्यों के ज्ञान का ही विकास नहीं करता अपितु उनमें बुद्धि तथा मानवीय धर्म भावना का भी बीजारोपण कर सकता है। इस प्रशिक्षण के साथ उसे समय का पूर्ण सदुपयोग, स्वास्थ्य की ओर अवधानता तथा आत्मा में उत्साह की भावना को भी जागृत रखना पड़ेगा। इस प्रकार वह वचन और कार्य की एकता का जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ उन्हें प्रशिक्षित कर सकेगा।

मेरी योजना के अन्तर्गत शिक्षित करने का यह सरल किन्तु ठोस उपाय है। मेरे आदरणीय स्वामी, मैंने अपने द्वारा सुने और जाने हुए व्यक्तियों में आपको ही सर्वात्मना अधिक आदर दिया है, कृपया आप मुझे बतायें कि इस संक्षिप्त तथा अपूर्ण शब्दावली में वर्णित प्रशिक्षण की प्रणाली तथा उसके सिद्धान्तों से क्या आप सहमत हैं? मुझे पूरा विश्वास है कि आपकी आत्मा मुझे अपनी सदाशयता तथा उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले मेरे कार्य के प्रति साधुवाद ही देगी क्योंकि आपकी आत्मा में वह शक्ति है जो सूक्ष्म-

दर्शिता तथा सत्य को जानने के सतत अभ्यास से युक्त तो है ही, उसमें दूर या निकट की वस्तु को भेद कर उसके अन्तस्तल तक पहुंचने की क्षमता भी है।

यदि ऐसा है और आपकी आत्मा मेरी ओर उन्मुख होकर इस शुभ कार्य में मेरी सहायक बनती है तो मैं स्वयं को धन्य मनुष्य समझूंगा तथा मैं आपको तथा परमात्मा को भी साधुवाद दूंगा। आपने विचारों और भावों की एकता को कायम रखते हुए हमारी सहयोगी मानव जाति के हित के लिये धैर्यपूवक दैवी कार्य किये हैं और इस प्रकार हमारे महान् स्वर्गीय पिता को सम्मानित कर स्वयं भी धन्यवाद के पात्र बने हैं।

इस पत्र के साथ मैं आपको एक मुद्रित पत्रक भेज रहा हूं जिसमें मेरी शिक्षा योजना विषयक आवश्यक विवरण निबद्ध है। मेरे प्रिय स्वामी, यदि आप एक या दो वर्ष के लिये अपने एक या दो शिष्यों को मेरे समीप भेजेंगे तो मुझे वास्तव में प्रसन्नता होगी और मैं उनके प्रशिक्षण से प्राप्त परिणाम से आप तथा अन्यों को सन्तुष्ट कर सकूंगा। इस अल्प अवधि में मैं इन शिष्यों को सामान्य ढङ्ग से जर्मन तथा फ्रेंच भाषा में वार्तालाप करना सिखाऊंगा तथा उन्हें साहित्य का भी अध्ययन करा दूंगा। जीविकाहेतु शिक्षा के अन्तर्गत आने वाली कलायें तथा विज्ञान की शिक्षा भी दूंगा। परमात्मा ने मुझे कुछ सहायक देकर उपकृत किया है, इनके नाम आप मेरे द्वारा प्रदत्त सूची में देख सकते हैं। प्रो० मैक्समूलर जो मेरे विचार से आप के प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी नहीं हैं, यद्यपि वे कभी कभी लिखने में ऐसा प्रकट भी करते हैं, मेरे समर्थक हैं। मैं यह तो मानता हूं कि उन्हें अनावश्यक और अपूर्ण जानकारी ही मिली है। मेरे एक अन्य आदरणीय सच्चे मित्र परम आदरणीय काउन्ट यूसेडोर हैं जो जर्मन साम्राज्य के इटली में राजदूत रह चुके हैं। ये सज्जन राजनैतिक मामलों के अनुभवी जानकार हैं, मन और मस्तिष्क से उदात्त तथा मानव की शैक्षिक तथा आध्यात्मिक प्रगति में वास्तविक रुचि रखने वाले हैं। इनके मित्र बेरन डि बेमसेन ने, जो लन्दन में जर्मनी के भूतपूर्व राजदूत के पुत्र हैं, मुझ से वादा किया है कि वे इस शुभ कार्य में मेरी सहायता करेंगे तथा अपनी शुभ कामनाएं देते रहेंगे। इसी प्रकार डा० बील्ड तथा अन्य अनेक मित्रों ने भी अपना सहयोग

देने का मुझे वचन दिया है। हे मेरे अत्यन्त प्रिय तथा सम्मानास्पद आध्यात्मिक गुरु आप मेरी ही भांति उन लोगों के भी आदरणीय गुरु हैं जो ईश्वरीय सृष्टि की वास्तविक उन्नति के इच्छुक हैं, आप यदि हमें अपनी सहायता और आशीर्वाद देंगे तो मुझे विश्वास है कि हम अपने नौजवानों के मन में उच्च विचारों का बीजारोपण कर सकेंगे। हम अपने उदाहरण से लोगों को सत्य, शान्ति तथा दैवी प्रेम के एक ऐसे साम्राज्य को स्थापित करने की प्रेरणा दे सकेंगे जो अभी तक मानवता को अप्राप्त रहा है तथा जिसकी स्थापना का विचार तक हमारे मन में नहीं आया था।

मैं अपने हृदय में एक प्रज्वलित शान्त ज्योति को अनुभव करता हूं। यह आपके आदर्श को अपना कर अधिक पावनता तथा शक्ति प्राप्त करेगी। इससे यहां पश्चिम में भारतीय दर्शन के दैवी प्रकाश का विस्तार हो सकेगा। हम पश्चिम वालों को वेदान्तनिष्ठ बुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि इसी प्रज्ञा में मानव का नितान्त मूल्यवान् तथा अविनश्वर भविष्य छिपा हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्यता को शिक्षित किया जाय और उसे उच्च भावापन्न बनाया जाय क्योंकि हमारी आज की इंसानी तहज़ीब भ्रष्टाचार, नास्तिकता तथा विनाशवाद की ओर अग्रसर है। ये बुराइयां समाज के लिये राज रोग के तुल्य हैं और इनकी सारे संसार में व्याप्ति भी है। इस मिथ्या भौतिक सभ्यता ने मनुष्य में विद्यमान दैवी प्रवृत्ति तथा दिव्य प्रकाश एवं जीवन के उस महान् स्रोत तक पहुंचने के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया है। ऐसे दिव्य ज्ञान का स्रोत तो वह शाश्वत यथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही है जिसके सच्चे आज्ञाकारी पुत्र यदि आप हैं तो तुलनात्मक दृष्टि से हम भी उसी के अल्पायु शिशु हैं।

यदि किसी कारण से आप मेरी योजना और उद्देश्य को पूरा करने की जीवन सामग्री प्रदान न कर सकें तो मैं विनम्रता पूर्वक आपके आशीर्वाद का ही इच्छुक हूं। ईश्वर की अनुज्ञा से वही मेरे लिये उतना ही शक्तिशाली तथा प्रभावपूर्ण होगा, और मैं यही मानूंगा कि मैंने भारतीय छात्रों को ही आपके माध्यम से प्राप्त कर लिया है।

और अब हे धरती पर मेरे प्रत्यक्ष मार्गदर्शक, मैं आपसे विदा लेता हूं और आशा करता हूं कि उस परमात्मा का यह महान् आशीर्वाद आपको सतत प्राप्त होता रहे क्योंकि वही मेरे तथा पौरस्त्य एवं पाश्चात्य जगत् के करोड़ों मानवों के लिये हितकारी है।

स्वयं को भावात्मक तथा आत्मिक रूप में आपका आज्ञाकारी तथा कृतज्ञ शिष्य विज्ञापित करने में मैं सदा गौरव तथा आनन्द अनुभव करता हूं।

जी. वाइज।

स्वामी दयानन्द सरस्वती—

पुनश्च—क्या आपका रचित वेदभाष्य अंग्रेजी में छप गया है? यह कहां से उपलब्ध होगा?

मैं वेदों के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़ने का इच्छुक हूं। कम से कम उसके प्रमुख अंश को पढ़ने की मेरी इच्छा है। 'थियोसोफिस्ट' के नवम्बर के अङ्क में वेदान्त विषयक पुस्तकों के अनुवाद की कुछ जानकारी थी, किन्तु मैंने उस अङ्क को इंग्लैण्ड के अपने एक मित्र को भेज दिया और अब 'थियोसोफिस्ट' के प्रकाशक ने मुझे सूचित किया है कि नवम्बर के अङ्क की सभी प्रतियां बिक चुकी हैं अतः मैं अपनी इच्छित जानकारी प्राप्त नहीं कर सका हूं। मैं चाहता हूं कि 'थियोसोफिस्ट' संख्या ७१ (अङ्क २) की दूसरी प्रति मुझे मिल जाये जिसमें वह सामग्री है जिसकी मुझे तलाश है। 'थियोसोफिस्ट' में आपकी आत्मकथा निरन्तर नियमित रूप में क्यों नहीं छप रही है? हमें अब तक इसके दो अंश ही मिले हैं। मैं 'स्पिरिच्युलिस्ट' नामक पत्र की कुछ कतरनें भेज रहा हूं जिसमें मेरे पत्र छपे हैं।

—:o:—

[पूर्ण संख्या १६३] पत्र

काशी सम्वत् १९३७ चैत्र शुक्ला ११[1]

"श्री ५ मत् स्वामि दयानन्दसरस्वतीभ्यो नमो नमः"

जब दर्शन पाया कुछ बात हुई अधूरी रह गयी, इच्छा थी फिर

---

१. २१ अप्रेल १८८०। यह पत्र हमने राजा शिवप्रसाद द्वारा प्रकाशित

दर्शन करूं बन नहीं पड़ा, अब सुना आप बाहर पधारने वाले हैं इस लिये उस दिन के अपने प्रश्न और आपके उत्तर अपने स्मरणानुसार नीचे लिखता हूं, यदि भूल हो आप सुधार दें आगे भी कृपा करके इसी पत्र पर कुछ उत्तर लिख भेजें।

मेरा प्रश्न	स्वामी जी का उत्तर
१. आपका मत क्या है ?	१. हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते।
२. यदि वादी कहे कि आप वेद के ब्राह्मण नहीं मानते तो हम वेद को संहिता नहीं मानते तो आप संहिता के मण्डन और ब्राह्मण के खण्डन का ऐसा प्रमाण दीजीये जिससे ब्राह्मण का मण्डन और संहिता का खण्डन न हो सके वादी को आप अपनी प्रतिध्वनि समझिये प्रमाण चाहे ४ मानिये चाहे ६ चाहे ८ चाहे सहस्रों सिवाय शाब्द के और सबका सहारा प्रत्यक्ष है सो इसमें प्रत्यक्ष हो सकेगा नहीं और शाब्द जो आपने ब्राह्मण ही को नहीं माना तो दूसरा कहां से लाइयेगा। केवल आपके कहने से कोई कुछ क्यों मान लेगा।	२. संहिता स्वयं प्रकाश है अनुभव सिद्ध है।

[प्रथम] 'निवेदन' (सन् १८८०) के पृष्ठ ४-५ से लेकर छापा है। इस पत्र का जो उत्तर ऋ० द० ने दिया उसे 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या ३९९, (पृष्ठ ४२९) पर देखें।

३. वादी कहता है कि ब्राह्मण स्वयं प्रकाश और अनुभव सिद्ध है ?

आपका दास
शिवप्रसाद

—:०:—

[पूर्ण संख्या १६४] पत्र

"श्री काशी वाराणसी सम्वत् १९३७ चैत्र शुक्ला पूर्णिमा[१]"
"श्री ५ मत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीभ्यो नमो नमः"

आपका कृपा पत्र चैत्र शुक्ला १२ का पा अत्यन्त कृतार्थ हुआ, ग्रीष्म का प्रचण्ड उताप अवकाश नहीं देता कि आपके दर्शनानन्द से ठण्डा करूं तब तक आप कृपा करके पत्र द्वारा मेरे मन को सन्देह के ताप से बचावे।

१. आपने लिखा 'ब्राह्मण ग्रन्थ+सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत है" वादी कहता है जो 'संहिता ईश्वर प्रणीत है' तो ब्राह्मण भी ईश्वर प्रणीत है और जो 'ब्राह्मण-ग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत है' तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं आपने लिखा "वेद (संहिता) स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण है" वादी कहता है जो ऐसा तो ब्राह्मण ही स्वतःप्रमाण है आपका संहिता परतःप्रमाण होगा (२) आपने प्रमाण ऐसा कोई दिया नहीं (३) जिससे जिज्ञासु की तुष्टि प्रश्न की पूर्ति और सिद्धान्त की आशा हो, आपने लिखा कि "मेरी बनायी हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के नवमे पृष्ठ से (९ लेके ८८)अट्ठासी के पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति वेदों का नित्यत्व और वेद संज्ञा विचार विषयों को देख लीजीये" "निश्चय होगा" सो महाराज "निश्चय के पलटे में तो और भी भ्रान्ति में पड़ गया मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आपने संहिता को 'माननीय' मान-

१. २४ अप्रेल सन् १८८०। हमने यह पत्र राजा शिवप्रसाद के निवेदन (१) सन् १८८० के पृष्ठ ७-११ से लिया है। उसमें कई टिप्पणियां दी हैं जो ऋ० द० को भेजे गये पत्र में नहीं थीं। छापते समय उन्हें जोड़ा गया अतः हमने उन्हें छोड़ दिया है।

कर ब्राह्मण का क्यों "परित्याग" किया और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान जो आपने "वेद" के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो कुछ ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा उसे संहिता के प्रतिकूल समझता है तो भी मैंने आपकी 'भाष्यभूमिका' मंगा के देखी पर उसमें क्या देखता हूं कि पहले ही (पृष्ठ ९ पंक्ति ८) लिखा है "**तस्माद् यज्ञात् ·····अजायत**" अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए पृष्ठ १० पंक्ति २९ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ विष्णु और विष्णु परमेश्वर।

(४) और फिर पृष्ठ ११ पंक्ति १२ में आप यह लिखते हैं कि याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयी ! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर उस से ही ऋक् यजु साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं "परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा क्या इसीलिये शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है ? वाक्य तो यही है—**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्[य]दृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानि व्याख्यानानीष्टगं हुतमाशितं पायितमयञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि**" अर्थात् अरि मैत्रेयि ! इस महाभूत के यह ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद इतिहास पुराण विद्या उपनिषद् श्लोक सूत्र अनुव्याख्या व्याख्या इष्ट हुत खाया पीया यह लोक परलोक सब भूत सब निश्वसत हैं। (५) मुझे इस समय और कुछ तर्क वितर्क आवश्यक नहीं इतना कहना अलम् कि आपके इस प्रमाण से तो कि जो बृहदारण्यक ब्राह्मण का है। जैसे वेद ईश्वर प्रणीत हैं वैसे ही उपनिषदादि सब ईश्वर प्रणीत हैं यदि इसका अर्थ यह कीजियेगा कि उपनिषद् जीव प्रणीत है तो आपका चारों वेद भी वैसा ही जीव प्रणीत ठहर जायगा। आपने संहिता स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण को परतःप्रमाण लिखा है और फिर संहिता के स्वतःप्रमाण सिद्ध करने को उन्हीं परतःप्रमाण ब्राह्मणों का आप प्रमाण लाते हैं सो इस व्याघात से छुटने के लिये यदि कुछ उत्तर हो आप कृपा करके शीघ्र लिख भेजें तब तक मैं आपकी भाष्यभूमिका आगे नहीं देखूंगा पृष्ठों को कुछ उलट पुलट किया तो विचित्र लीला

दिखाई देती है। आप पृष्ठ ८१ पंक्ति ३ में लिखते हैं "कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद हैं" पृष्ठ ५२ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं और पृष्ठ ५३ में लिखते हैं चौथा शब्द प्रमाण "आप्तों के उपदेश" पांचवां ऐतिह्य "सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश" तो आपके निकट कात्यायन ऋषि 'आप्त' और 'सत्यवादी विद्वान्' नहीं थे। (६) पृष्ठ ८२ में आप लिखते हैं कि ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं सो देहधारी हैं अतएव वह वेद नहीं और संहिता में शतपथ ब्राह्मण (।) के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है अतएव वेद हैं फिर आप उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि **"ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः"** (०) "इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है" तो इस युक्ति से बृहदारण्यक का वचन जो मैंने ऊपर लिखा है उसमें भी क्या उपनिषद संज्ञी और इतिहास पुराणादि संज्ञा है अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है पृष्ठ ८८ पंक्ति १० में आप लिखते हैं कि ब्राह्मण+++वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं" यदि आप इतना और मान लें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है अथवा पृष्ठ ४२ पंक्ति ० में आप लिखते हैं कि "**तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते**" इसका अर्थ सीधा यह मान लेवें कि आपके चारों वेद और उनके छओं अङ्ग 'अपरा' हैं जो 'परा' उससे अक्षर में अधिगमन होता है अपना फिरवर का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दे (८) तो बड़ा अनुग्रह हो मेरा सारा परिश्रम सफल हो जावे और आपके दर्शन का उत्साह बढ़े। किमधिकमित्यलम्[1]

आपका दास शिवप्रसाद

—:०:—

[पूर्ण संख्या १६५] पत्र-सूचना

[पं० चतुर्भुज के द्वारा भेजा गया पत्र।][2]

१. इस पत्र का उत्तर ऋषि दयानन्द ने सं० १९३७ वैशाख वदी ७ (१ मई १८८०) को दिया। द्र० 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' पूर्ण संख्या ४००, पृष्ठ ४३२।

२. यह पत्र-सूचना पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ २००

[पूर्ण संख्या १६६] विज्ञापन

अभाग्यवश मूर्खजन की प्रसिद्धि के अनुसार हम लोगों ने भी दयानन्द सरस्वती के पास जाकर वेदार्थ जानने की इच्छा की थी, परन्तु जब स्वामी जी के मुख से नाना प्रकार की वेदविरुद्ध, शिष्टाचार के विपरीत, बार्ताएं सुनी तब तो हमने काशीस्थ 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' सभा के सब विद्वानों से अपने सन्देह दूर करने की इच्छा की और जब हम अपनी बुद्धि अनुसार समस्त शङ्का से रहित भये तब उक्त सभा के सदस्य पण्डित जुगलकिशोर पाठक जी (जो कि हमारे वैदिक गुरु हैं) के उपदेश से चित्तग्लानि-निवृत्ति-पूर्वक कुसंगजनित पापनिवृत्त्यर्थ मणिकर्णिका तीर्थ पर यथाविधि प्रायश्चित्त और विश्वेश्वरादि देवों का दर्शन करके अपनी सम्मति के अनुसार वेदाभ्यास की इच्छा प्रकट करते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि ताकि हम लोग निज गुरुनिर्दिष्ट मार्ग से दूर न हो।[1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १६७] पत्र-सूचना

[आर्यसमाज फर्रुखाबाद द्वारा १५-५-८० (वै० शु० ६ सं० १९-३७) को भेजा गया पत्र][2]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १६८] पत्र

॥ ॐ ॥

॥ तत्सत् ॥

स्वस्तिश्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य पाखण्ड मतोन्मूलक शन्मार्ग प्रवर्तक परब्रह्मैक निष्ट तदानंद पीयूख श्रीषट् कांन्युत

पर निर्दिष्ट है। वहीं पर लिखा है कि इस पत्र पर डाकखाने की मोहर ५ मई सन् १८८० की थी।

१. यह विज्ञापन पं० लेखराम कृत जीवनचरित हिन्दी सं० पृष्ठ १९९ पर छपा है। जीवन चरित के अनुसार ५ मई सन् १८८० को ऋ० द० काशी से प्रस्थान करने पर पं० जुगल किशोर ने यह विज्ञापन छपवा कर नगर में लगवाया।

२. इस पत्र की सूचना अगले पूर्ण संख्या १६८ के पत्र से मिलती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी योग्य आर्य्य समाज फरुखाबाद का अभिवादन शतस: वंचने ।।

आगे यक विनय पत्र ता० १५-५-८०[1] आप को भेजा है सो पौचा होइगा ।

आगे कानपुर से आप जब यात्रा करना चाहे तब कुछ दिन को फुर्सत निकालकर इहा हम लोगन को दर्शन देकर कृतार्थ कीजिए कोई कोई बात की समाज में हानी है सो आप के आये से सब पूर्ण हो जायगी और मदर्सा जो भया है उसका भी उत्तम प्रबंध आपके आउने से हो जाइगा सो आपको जरूर जरूर कृपा करनी चाहिए ।। और इहा से आपकी इक्षा होइ तौ मंनपुरी इटावा हो कर आगे जहा की निश्चै करी होइ तहा को यात्रा करने उक्त नगरो में भी आपके दर्शन की बहुत लोगन को उत्कण्ठा है ।। और ज्वाला इहा नही है आउने की भी निश्चै हम को नही है कि वह आपके पास आवे लेकिन पत्र ३ आप के जो इन दिनो आये है सो उनोंने कोई देखे नहीं है आप इहा आमेंगे और वह भी उस वखत इहा होइगा तौ चाहे आप के साथ होजाइ केकिन हमने उनके घर वालो से दरियाफ किया तो उनोने यही कहा कि उनका जाना नही होइगा ।।

इति ।। ता० १७-५-८० ईसवी[2]

तोताराम भी अपने काम से निवृत्त हो गया आप इहा आमेंगे जब आप के साथ हो जाइगा सो जाननें[3]।

—:o:—

[पूर्ण संख्या १६६] पत्र-सूचना

पंडित दयानन्द सरस्वती

..........................।[4]

बाबू हरप्रसाद

—:o:—

१. सं० १९३७ वैशाख शुक्ला ६ शनिवार ।

२. वैशाख शु० ८ सोमवार सं० १९३७ वि० ।

३. इस पत्र के अन्त में प्रेषक का हस्ताक्षर नहीं है ।

४. इस पत्र की सूचना 'फर्रुखाबाद का इतिहास' के पृष्ठ १५२ से

[पूर्ण संख्या १७०] पत्र-सारांश

पुस्तकें न भेजने की शिकायत ।[1]

रामाधार वाजपेयी

—:०:—

[पूर्ण संख्या १७१] पत्र-सूचना

[मुंशी बख्तावरसिंह का पत्र १० जून का][2]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १७२] पारसल-सूचना

[मुंशी बख्तावरसिंह द्वारा काशी से भेजा गया पारसल][3]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १७३] पत्र

जी वाइज का पत्र (१)

[१९ अलवर्श स्ट्रीट वेशडन
२७ जून १८८०][4]

जब से कि मैंने आप की जिन्दगी और आप की बतलायी हुई

मिलती है । उसमें लिखा है—'स्वामी जी की विद्यमानता में अर्थात् ७ जून सन् १८८० को बाबू हरप्रसाद जी का एक उर्दू पत्र स्वामी जी के नाम का आर्यसमाज में आया था ।'

१. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के ज्येष्ठ शु० ६ सं० १९३७ (१४ जून १८८०) के पूर्ण संख्या ४०९ के पत्र पृष्ठ ४३८, पं० ८-१० के आधार पर बनाया है । यह पत्र कार्ड पर लिखा था ।

२. यह सूचना ऋ० द० के ज्येष्ठ शु० ६ सं० १९३७ (१४ जून १८८०) के पूर्ण संख्या ४०९ के पत्र (पृष्ठ ४३६) की प्रथम पंक्ति से मिलती है ।

३. इस पारसल की सूचना ऋ० द० के आषाढ़ कृष्ण २ गुरुवार (२४ जून १८८०) के पूर्ण संख्या ४१० (पृष्ठ ४४०, पं० ४-५) के पत्र से मिलती है ।

४. यह पत्र मास्टर लक्ष्मणजी सम्पादित ऋ० द० के उर्दू जीवन चरित, परिशिष्ट अध्याय ८, पृष्ठ १८८ पर उद्धृत है । यह पूरा पत्र नहीं है, पत्र

फिलासफी के हालात को पढ़ा और उन पर गौर किया है, तब से मेरे दिल में आप की तरफ कुछ लिखने के लिए उबाल उठ रहे थे। मेरी आत्मा उन मजबूत रस्सियों से जकड़ी हुई आप की तरफ खिंची जा रही है, जो कि इन्सानी आंखों से नहीं दीख पड़तीं, लेकिन जो कि मेरे रोके से रुक भी नहीं सकती। सत्य ज्ञान की तलाश में मैं बतौर शिष्य के आप के पास जो गुरु (हैं) पहुंचता हूं। मेरी प्रार्थना को स्वीकार कीजिये और मुझ को खुशकिस्मत बनाइये, क्योंकि मैं उस सर चश्मे के पानी की प्यास से व्याकुल हो रहा हूं जो उस सर्वशक्तिमान् ने आपको दिखलाया है।·········यह मेरी मुजविजा सादा ··· ······और ठोस तालीम है। मुझे बताओ, ए मेरे प्यारे गुरु जिस की मैं अपने आत्मा से दुनिया के तमाम इन्सानों से ज्यादा इज्जत व परस्तिश करता हूं, कि आया आप उस तरीक से और उन उसूलों से जो कि मैंने नामुकम्मल तौर पर इन चन्द अल्फाज में जाहिर किये हैं, इत्तिफाक राय करते हैं। मैं यकीन करता हूं कि आप अपनी तेजबीन अदराक से जो कि अशया की हकीकत देखने की आदी है और दूर व नज्दीक की जो चीज आपकी निगाह में लाई जाती(है)उस अन्दरूनी हकीकी हस्ती के अन्दर गौर करने वाली है' अज्म-बिल-जज्म आला मुद्दा (जो कि माद्दी नहीं है) और अपना काम करने के लिए जो किसी कदर मुझ में कुदरती इस्तैदाद है, उसके लिए मुझे तहसीन देकर भरोसा करेंगे।

अगर आप इस तरह इत्तिफाक राय करें और आप का आत्मा मेरी जानिब मायल हो और मुझे सहायता देवे, तो मैं अपने आपको निहायत ही खुशकिस्मत इन्सान समझूंगा और मैं जहां तक होगा, अपने आसमानी बड़े बाप की शान के मवाफिक और अपने हमजिन्सों के दिलों और खयालात के मिलाने के इलहामी काम को लगातार करके आपका और खुदा का मशकूर हूंगा। बजा तरीक से आपका सब से उम्दा शुक्रिया अदा हो सकता है।

ए प्यारे और मौजिज रूहानी गुरु, ए संसार भर के उन दिमागों के गुरु जो परमात्मा के निकट आने में जद्दोजहद करते हैं, अगर आप

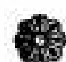
का अंशत: निर्देश है। ऋ० द० का प्रो० जी० वाइज के साथ पत्रव्यवहार हुआ था यह जी० वाइज के पत्र (आगे मुद्र्यमाण पूर्ण संख्या २१४) से विदित होता है।

यह सिलसिला मिला देवें और हमें अपनी मदद और बरकत अता करें, मैं परमात्मा पर विश्वास करके यकीन से कहता हूं कि नौजवानों के दिमागों में बहतर बीज कामयाबी से बो सकेंगे। अपनी मिसाल से आलमे बाला को अपना मातकिद बना कर सचाई और अम्न और रूहानी प्रेम की एक नई सल्तनत कायम करेंगे जो कि नस्ले इन्सानी ने पहले कभी न देखी और न ही जिस तक पहुंचना भी मुमकिन जाना हो।

मैं अपने अन्दर एक बा-अम्न जलती हुई आग का शोला पाता हूं जो कि मुझे आप की मिसाल से ज्यादा पवित्रता और ताकत देगा जिससे कि मैं हिन्दुस्तानी फिलासफी की रूहानी रोशनी को मगरिब में फैला सकूं। जहां आलम·········जहालत और (इन्सान की सब से आला, निहायत कीमती और नाकाबिले फना) मिल्कियत के मुताल्लिक की अक्ल के बुरे असर को रोकने के लिये इलमेवेदान्त की अशद जरूरत है। साथ ही अपनी मौजूदा नस्ल से (जो करीबन् तमाम दुनिया में फैली हुई बड़ी-बड़ी नई मजलिसो बबाओं यानी अय्याशी, नास्तिकपन और निहिलिज्म में गर्क हो रही है) आला नस्ल की तालीम व तरबियत के लिये भी उस की जरूरत है, क्योंकि एक झूठी तहजीब का वार्निश दुनिया पर चढ़ रहा है, जिससे इन्सान की फितरत और रोशनी और जिन्दगी के बड़े जरिये यानी सर्वशक्तिमान् तक पहुंचने में सख्त हानि हो रही है, जिससे इन्सान की रूहानी फितरत गुम हो रही है, जिसके आप सच्चे पुत्र और हम आप के मुकाबले में शीर-ख्वार बच्चे हैं।

अगर आप मेरी तजवीज और मुद्दा के मुताबिक मसालहे जिन्दगी बहम न फर्मा सकें, तो मैं निहायत आजजाना तौर पर आप की बर्कात का तालिब हूं। खुदा की मर्जी हुई, तो इसका उतना ही और उस से भी ज्यादा जोरदार असर होगा, जितना कि हिन्दुस्तानी शागिर्दों की शक्ल में आप से बराह-रास्त मैं भारी इमदाद हासिल की है।

और इस दुनिया में मेरे जिन्दा हादी ! मैं अब आपको अलविदा और प्रार्थना करता हूं कि आप पर खुदावन्द-ए-ताला की बड़ी बर्कतें हमेशा नाजिल हों जिससे मेरे और करोड़ों इन्सानों के दोनों लोक सुधरें।



[पूर्ण संख्या १७४] पत्र

19 Albrecht Street,[1]
Wilshaden, June 29th, 1880.

My Dearest Master,

Confirming my respects of the day before yesterday, I beg to draw your attention to some more particulars, concerning the education of your young friends.

Those that know the rudiments of English, French or any other European language will find no difficulty in learning the German language in a short time, by using those languages as a medium. I myself have not studied Sanskrit, but I am ready to study it, when Aryan students will help me.

Two subjects I can teach your pupils which are likely to become of great use for their purpose when they have mastered them—one is Political Economy and the other the art of writing down the speeches or lectures one hears verbally by shorthand writing or stenography. Now, most people that have had a trial at any of the older system of stenography had given up the study, because it was so difficult to learn, that it did not practically pay the trouble and time spent on it. would be ready to say, Stenography is an art that costs much time and trouble to acquire; it is not for every one to study it, only for those that make a special profession of it. This is quite true with regard to the known old systems of Pitman of England, and some others in Germany. They are so imperfect and difficult as Chinese, and also look like it, However, a clever German in Berlin, L. Trends, has invented a system that beats all others by its practical simplicity. With

१. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) आषाढ़ १९६५ वि० में छपा था।

a number of friends I learnt that system of the inventor who lectured before us in "Zurich" (Switzerland) about the subjects. We adopted it as soon as we had a few lessons in it because we saw it was a difference of a day and night, in comparison, with the older system we had just finished a course in before. Our teacher only gave us **twelve lessons**, and then left us. That was sufficient for us to work our way by practice, so that I and some of us were able to write pretty fluently some five months after. The whole system with exercises in concentrated in twelve lessons. I have a year lately taught that system to eighty-two pupils in a school of the Fortress of Megdeburg. Some of my pupils turned out excellent writers and wrote down public lectures word by word. Their writing looked like print. They had far surpassed me, their master, in a few months. I must say the art has been most useful to me in many ways. English, French and any other language, one can write according to the sound, after some practice. I put down the lectures of our professors at King's College with it so as to use the extracts for preparation. They helped me much in Passing my examinations with distinction. My English colleagues who wrote after the English stenography, complained to me that they had much trouble in reading what they had written. I had no difficulty in reading mine. One can make long notes and copy much text in a short time with it. It offers many adwantages to any student that has aquired it. Now as to the science of Political Economy and that of Commerce and International Law. I have found it to be one of the most useful studies for any one who takes in active part in Industry, etc. Political Economy is the key to the whole machinery

of States, Government and management of the financial resources and expenses of a nation. It is one of the most interesting of modern sciences and contains more wisdom in a practical way, all based upon fact and experience, than people imagine that know little of it. Above the mass of blunders that former Governments of England and other countries have made before they found out their mistake is most instructive and surprising. Better historical proofs of the truth that in former days little wisdom was employed for ruling great and caltivated States, particularly in the industrial and financial way, one cannot find anywhere. The most stupid blunders were made by leading statesmen and confirmed by parliament and King, in law-giving for protecting the trade and industry of the country against the competition from neighbouring countries. Millions of Pounds were wasted by the Government to keep the goods of their neighbours out of their own country, and all for nothing. No, profit but a great loss to themselves, they were obliged to repeal those prohibitive laws to save their own industry from starvation. They had made them with the idea that they would serve to enrich their own and impoverish the country of their neighbours. The result was just the reverse, and there remained no choice; they had to abolish the foolish law.

Such examples are very numerous in English history of Commerce and industry. They are most instructive for other nations, whose trade and industry is not yet so much developed as to have a history of its development and clear statistics of the conditions and changes in laws, etc.

To mention an example:—About 70 years ago the English Government and the industrial manufacturers got

amazed at the quantity of silk goods their French neighbours brought into the English market and the quantity of money they carried off for it from England to France. Now you can fancy it was not a pleasure for the money-greedy high and low, to see their gold in "sovereigns" made prisoners by their enemy and carried off to France. This cannot be suffered, we must protect our home industry by heavy duties on foreign import, and so they put fifty per cent on French silk. Silk-worms were imported by the millions, mulberry trees were planted for feeding the industrial worm that span the golden thread, and England was in joy and expectation of keeping now at home, its goldon eggs and Sovereigns. But, also, "there is many a slip between the cup and lip" a proverb says : the noble worms, reared in a sunny clime, could not agree with such a change of air. He took at once a cold and rheumatism in the throat, through the damp atmosphere, he would not eat his leaves, and dying spun a thread as coarse as that of hemp. The fabric made of it could not be used for a pocket handkerchief. The English ladies were in great distress about it, they petitioned the Parliament to let the French silk pass again. The attempt to start English silk industry was decidedly a failure and quite in vain. It could not be denied that this experiment had cost the country many millions. The money was taken out of the pockets of the people and spent to no use and the French were still alive and sent their goods so heavily taxed as before, with good profit to England. The law was then abandoned, and the English ladies sang gratefully a Te Deum for the relief from native products of silk they could not use. The whole was a great failure. A lesson the English people paid very dearly for. The moral is, you must not try to do all things you see your

neighbour do yourselves and profit by it. What he was, favoured by clime and other circumstances, may do to his great advantage do not envy him about it, if you could to do the same and ruin him, you would gain nothing, but lose your outlay in the bargain. Don't try to cultivate such industries as are not quite indigenous to your clime and natural conditions, or you risk loss and disappointment.

The English have learnt from making awful blunders first. The other people for example the Americans still imitate. They think themselves too clever for taking a good lesson from England, therefore, they have to pay for making the same blunder by own experiment. "He who will not listen to reason must feel it."

The way of studying such subjects by foreigners is also not always done in an efficient way. The Japanese Government had sent to London a number of students, of which two attended the lectures on Political Economy. They sat close to me and became my friends, and I observed that only one of them learnt something and made some notes. The other, who had been already serving as Lieutenant in his native army learnt nothing. He made no single note, and did not seem to understand the subject at all. I think the mistake was on the part of the Japanese Government be leaving such young students to accident, without competent control and guide in their respective studies in a foreign country, the language of which they understand but imperfectly, and the subject still less. Such students, however, clever and virtuous they may be, must not be left alone to wotk on their own hook as they will please. They lived in private lodgings two together and there was nobody to guide them in their studies.

You want of course to know before you hand the students over the amount they have to pay. Our terms for English pupils are fixed from one hundred guineas as minimum for youngsters from eight to thirteen years, and one hundred and seventy-five guineas is the maximum, we fixed for other ones, according to the ordinary requirements, as you will see on the enclosed circular. For single pupils I have received much more; from the last one I got three hundred and sixty guineas a year. The terms depend upon the requirements, age and demands and arrangements of the parents in such a case. The one requires special lessons in certain subjects, the other not. The same is the case concerning the rooms, musical instruments (Pianofortes) and other commodities, which some pupils demand and obtain according to desire and pay.

Your pupils, we should like to teach all such subjects, as appear most useful and necessary for their purposes. We shall have to take a greater care for their proper instruction than for ordinary pupils that have no such special object in view. What will be the amount of economic expenses one cannot calculate exactly beforehand in this case. By making an average estimate, as low as can be done, one runs the risk of under-estimating the real costs and fails to make both ends meet, in spite of all the work and trouble your pupils require to learn exceptional things, not on the ordinary programme of schools and education establishments.

Our is not a money making establishment, as most other educational establishments are. We only want to be paid decently for our work, in accordance to the value of it, in order to be able to exist and to continue our good work, but not for making hordes of money by it. I hardly

need say, that if I knew how we could manage to work and educate our pupils, without any material payment for it, as the great educators, Budha, Socrates and Jesus did, we should be glad to imitate them. At our modern times and prices of commodities and of necessities for bodily existence, there is no possibility for the most charitable to adopt that generous and noble system of the ancient wise men including your own self.

The western nations have advanced in arts and science and in wealth, to a great extent, but not in charity and wisdom. A man that came and taught for nothing, though it be the highest wisdom be brought to man, they would rather see him starve, before their eyes than feed him, as he deserves. For the majority of modern cultivated people material food is a thing of much more value than any amount of eternal wisdom they get for nothing and cannot sell again for current money. Such is the world, because the spirit of mankind is in general left quite in a lathargic state, the heart and mind becoming ossified, there is no spark of divine light and love more coming forth to comfort those that want in for their sustenance Shall we united, try the task of changing this sad condition of humanity by personal example in life and deed ? We do agree, and you have already started boldly on the way and will succeed. Perhaps we meet one day on half the way to victory. There we shall shake hands together and praise our Heavenly Father that has given us success and joined the brothers of the East and West on earth together no more to fight each other, but to live like one great family, together in peace and harmony and divine love !

This view and prospect I have pointed here. I know it is looked upon by the vulgar crowd as most extravagent

above all comprehension and possibility; the human being must be changed into an angle for accomplishing such things. The crowd is not quite wrong in this, their special view. "Where ignorance is bliss it is folly to be wise." The eyes yet unaccustomed to light, will shut themselves at the first rays, that do delight the sight of others, accustomed to the enjoyment of light, This deviation being not far from the point at issue, you will, I hope excuse its length.

To return now to the material point, we calculate that with the sound amount of yearly two hundred gu neas each, we might take the risk of accepting your pupils and supply them with the bodily and spiritual wants, that you and your country desires them to be supplied with all in all.

Please tell us know what you think of this proposal. Express yourself quite candidly about it. You will always find us willing to make arrangements with you, which will be satisfactory for your countrymen and us.

The Japanese that study in Europe, I am sure, have cost their country each a good deal more than what we now propose to you on our own risk to undertake.

Waiting an early reply, believe me, dearest master.

Your faithful and obedient

Pupil

G. WIESE.

P. S.—Please to accept the enclosed photo of me as a small sign of my perfect esteem for you.

भाषार्थ

१६, आल्ब्राख्ट स्ट्रीट
वीसबादेन
जून २६, १८८०

मेरे सर्वाधिक प्रिय आचार्य,

अपने परसों वाले पत्र की ही भांति आपके प्रति सम्मान व्यक्त करने के पश्चात् मैं आपका ध्यान आपके युवा मित्रों की शिक्षा के बारे में कुछ विशेष विवरणों की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं। जो लोग अंग्रेजी, फ्रैंच या अन्य किसी यूरोपीय भाषा के मौलिक सिद्धान्तों से परिचित हैं, उन्हें स्वल्प समय में ही जर्मन भाषा को सीखने में कोई कठिनाई नहीं होगी। वे उन भाषाओं को इस भाषा को सीखने के लिये माध्यम के रूप में प्रयुक्त कर सकेंगे। मैंने स्वयं संस्कृत का अध्ययन नहीं किया है, किन्तु जब आर्य विद्यार्थी मेरी सहायता करेंगे, तो मैं इसे सीखने के लिये तत्पर रहूंगा।

मैं आपके शिष्यों को दो विषयों की शिक्षा दे सकता हूं, जो उन के लिये उस समय अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे, जब वे इन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेंगे—प्रथम राजनीति आश्रित अर्थशास्त्र [Political economy] तथा दूसरी आशुलिपि विद्या, जिसके द्वारा वे उन व्याख्यानों को शब्दशः लिख सकेंगे जो उन्होंने सुने हैं। अब जिन लोगों ने आशुलेखन के पुराने तरीकों से इस विद्या को सीखना आरम्भ किया था उन्होंने इसके अध्ययन को छोड़ दिया है, क्योंकि इसे सीखने में जितना श्रम और समय लगता था उसकी तुलना में उन्हें पर्याप्त लाभ नहीं मिलता था। अतः लोग यह कहने लग गये थे कि आशुलिपि विद्या एक ऐसी कला है जिसे प्राप्त करने में अधिक समय और श्रम व्यय करना पड़ता है। यह हर एक के लिये नहीं है, इसे तो वही सीखे जो इसके द्वारा जीविकोपार्जन करने का विचार रखता हो। यह कथन इंगलैण्ड की पिटमेन आशुलेखन प्रणाली तथा जर्मनी में प्रचलित कुछ अन्य प्रणालियों के लिये तो सत्य है। यह प्रणाली चीनी भाषा [लिपि] की ही भांति अधूरी तथा कठिन है तथा वैसी लगती भी है। किन्तु बर्लिन निवासी एक चतुर जर्मन नागरिक एल० ट्रेण्ड्स ने आशुलिपि की एक ऐसी प्रणाली आविष्कृत की है जो अपनी व्यावहारिक सफलता के कारण अन्य सभी प्रणालियों से श्रेष्ठ है। आपके अनेक मित्रों के साथ मैंने इस प्रणाली का उस समय अध्ययन किया जब इसके आविष्कर्ता ने ज्यूरिख [स्विट्जरलैण्ड] में इस विषय पर हमारे समक्ष कुछ व्या-

ख्यान दिये। इसके कुछ पाठ सीख लेने के पश्चात् ही हमने इसे पूर्णतया अधिगत कर लिया क्योंकि हमने अनुभव किया कि आशु-लिपि के जिन पाठ्यक्रमों को हमने इससे पूर्व समाप्त किया है, उनके और इस नवीन प्रणाली के बीच तुलनात्मक दृष्टि से रात और दिन का अन्तर है। हमारे प्रशिक्षक ने हमारे लिये केवल बारह पाठ ही प्रस्तुत किये और हमें छुट्टी दे दी। यह हमारे अभ्यासकार्य के लिये पर्याप्त थे। अतः लगभग पांच मास पश्चात् मैं और अन्य लोग निर्बाध रूप से आशु लिपि का प्रयोग करने लगे। आशु लिपि की यह प्रणाली कुछ अभ्यासों सहित १२ पाठों में समाविष्ट हुई है। एक वर्ष पश्चात् मैंने मेग्डेबर्ग के दुर्ग के एक विद्यालय के ८२ छात्रों को इस प्रणाली से आशु लिपि सिखाई। मेरे कुछ शिष्य अच्छे आशु-लिपिक बन गये और उन्होंने सार्वजनिक व्याख्यानों को शब्दशः अङ्कित कर लिया। उनकी हस्तलिपि मुद्रित अक्षरों की ही भांति थी। कुछ महीनों में ही वे अपने गुरु, मुझसे ही आगे निकल गये। मैं तो यही कहूंगा कि कई अर्थों में यह कला मेरे लिये अतीव उप-योगी सिद्ध हुई है। कुछ अभ्यास के पश्चात् केवल ध्वनि की सहा-यता से ही कोई व्यक्ति अंग्रेजी, फ्रेंच या किसी अन्य भाषा को आशु-लिपि प्रणाली से लिख सकता है। किग्स कालेज के अपने प्राध्यापकों के व्याख्यानो को मैंने इसी प्रणाली से अङ्कित किया ताकि आगे परीक्षा की तैयारी के समय उन उद्धरणों का लाभ उठाया जा सके। इनसे मुझे विशेष योग्यता के साथ परीक्षा में उत्तीर्ण होने में सहायता मिली। मेरे अंग्रेज साथियों ने जिन्होंने अंग्रेजी आशु-लिपि प्रणाली से लिखा, मुझसे शिकायत करते हुए कहा कि उनके द्वारा लिखे गये को पुनः पढ़ने में उन्हें बहुत कठिनाई हुई है। किन्तु मुझे अपने लिखे को पढ़ने में कोई दिक्कत नहीं हुई। यदि कोई चाहे तो आशुलिपि की सहायता से काफी लम्बे नोट्स ले सकता है और उसकी सहायता से स्वल्प समय में ही मूलपाठ की प्रतिलिपि तैयार कर सकता है। जिस छात्र ने यह विद्या सीखी हो, उसे इसके अनेक लाभ मिल जाते हैं।

अब मैं राजनीति आश्रित अर्थशास्त्र, वाणिज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में लिखता हूं। जो व्यक्ति व्यवसाय एवं उद्योग

आदि में सक्रिय भाग लेता है उसके लिये यह अध्ययन सर्वाधिक उपयोगी है। राज्य, सरकार तथा किसी देश के वित्तीय साधनों तथा व्यय के स्रोतों के सम्पूर्ण तन्त्र की कुंजी राजनीति आश्रित अर्थ-शास्त्र ही है। आधुनिक विज्ञानों में यह सर्वाधिक रोचक है, इससे तथ्य एवं अनुभव पर आश्रित व्यावहारिक बुद्धि का लाभ होता है, जो उन लोगों को दुर्लभ ही है जो मात्र कल्पना पर आश्रित होते हैं। इंगलैण्ड तथा अन्य देशों की सरकारों ने, जो अपनी भूलों को अनुभव करने के पहले महान् गलतियां की थीं, वे हमें शिक्षा भी देती हैं तथा ये आश्चर्यजनक तो हैं ही। पुराकाल में महान् एवं सुसंस्कृत राष्ट्रों पर शासन करने में अत्यल्प बुद्धि ही लगाई गई थी, विशेष रूप से औद्योगिक और वित्तीय मामलों में, इस बात को सिद्ध करने के लिये जो ऐतिहासिक प्रमाण हैं, वे आपको अन्यत्र नहीं मिलेंगे। समीपवर्ती देशों में प्रतिद्वन्द्विता में अपने देश के उद्योग धन्धों को सुरक्षित रखने के लिए भद्दी गलतिलां प्रमुख राजनीतिज्ञों द्वारा की गईं तथा उन देशों की संसदों और शासकों के द्वारा उन पर मुहर लगाई गई। पड़ोसी देशों द्वारा तैयार माल को अपने देश में न आने देने के लिये सरकार के द्वारा करोड़ों रुपये बर्बाद कर दिये गए। अपने ही उद्योगों को नष्ट होने से बचाने के लिए उन्हें इन प्रतिरोधात्मक कानूनों को समाप्त करना पड़ा और इससे उन्हें लाभ की अपेक्षा हानि ही हुई। ये कानून उन्होंने बनाये तो इसलिये थे जिससे कि उनका देश धना-ढ्य हो जायेगा और उनके पड़ोसी देश कङ्गाल हो जायेंगे। किन्तु इसका परिणाम विपरीत ही हुआ, उन्हें इन मूर्खतापूर्ण कानूनों को हटाना पड़ा, अन्य कोई विकल्प ही नहीं था।

इंगलैण्ड के वाणिज्य एवं उद्योग के इतिहास में ऐसे उदाहरण पर्याप्त हैं। ये उन राष्ट्रों के लिए अतीव शिक्षाप्रद हैं जिनके उद्योग और व्यापार ने अभी इतनी उन्नति नहीं की है जिससे कि वे अपने औद्योगिक विकास का इतिहास बना लें तथा अपने कानून के परि-वर्तनों तथा स्थितियों के आंकड़े तैयार कर रखें।

एक उदाहरण देना आवश्यक है। लगभग सत्तर वर्ष पूर्व अंग्रेजी सरकार तथा औद्योगिक उत्पादक यह जान कर चकित रह गये कि उनके पड़ोसी फ्रांस ने अंग्रेजी बाजारों को रेशम के कपड़ों से जिस तेजी से भर दिया है, उसी अनुपात में वे इंगलैण्ड का धन निकाल

कर फ्रांस ले जाने में सफल हुए हैं। अब आप सोच सकते हैं कि इंग्लैण्ड के धन-प्रलुब्ध लोगों को, चाहे वे बड़े हों या छोटे, यह कब अच्छा लगता कि उनकी स्वर्णमुद्रायें इस प्रकार कैदी बना कर फ्रांस ले जायी जायं। उनके लिये यह घाटा असह्य था। अंग्रेजों ने सोचा कि हमें अपने घरेलू उद्योग को बचाना है, अतः उन्होंने विदेशी आयात पर पचास प्रतिशत कर लगा कर फ्रांसीसी रेशम का आना रोक दिया। करोड़ों की संख्या में रेशम के कीड़े स्वदेश लाये गए, इन कीड़ों के भोजन के लिये शहतूत के वृक्ष उगाये गए ताकि रेशम का स्वर्णतन्तु तैयार किया जा सके, और इस प्रकार इंगलैण्ड इन स्वर्णिम अण्डों तथा सोने के सिक्कों को अपने घर में ही रखने का सुख प्राप्त कर सका। किन्तु जैसा कि कहावत है, प्याले और होठों के बीच फिसलन के कितने ही अवसर आ जाते हैं। ये रेशम के कीड़े उष्ण जलवायु में पनपते रहे थे, उन्हें इंगलैण्ड का नम जलवायु अनुकूल नहीं लगा। वे सर्दी तथा गले की सूजन के शिकार हो गये। अब शहतूत की पत्तियां खाना भी छोड़ दिया और जो रेशमी धागा उनसे बुना गया वह सन से भी बुरा था। इस धागे से बना कपड़ा बेबी रूमाल के लिए भी उपयुक्त नहीं था। खास तौर से अंग्रेज नारियों को इससे परेशानी हुई और उन्होंने ब्रिटिश संसद से अपील करते हुए कहा कि फ्रेंच रेशम का पुनः आयात किया जाय। अंग्रेजी रेशम के व्यवसाय को आरम्भ करने की चेष्टा सर्वथा विफल हुई। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इस प्रयोग से देश को करोड़ों की हानि हुई। लोगों की जेबों से काफी रुपया निकल गया जो प्रायः नष्ट ही हुआ। फ्रांसीसी लोगों की चतुराई के कारण अब उनका माल और भी मंहगा होकर इंगलैण्ड आने लगा, इससे उनका मुनाफा और भी बढ़ गया। इसके पश्चात् फ्रांसीसी माल को प्रतिबन्धित करने के कानून को समाप्त कर दिया गया और अंग्रेज महिलाओं ने देश में पैदा किये गए उस रेशम से मुक्ति पाकर खुशी के गीत गाए, जिसे प्रयोग में लाना ही उनके लिये कठिन था। यह सारा प्रयास नितान्त असफल रहा। इस पाठ को सीखने के लिये अंग्रेजों को बहुत मूल्य चुकाना पड़ा। इससे यही शिक्षा मिलती है कि हमें वे सब काम नहीं करने चाहिये जिन्हें करके हमारे पड़ोसी लाभ प्राप्त करते हैं। कारण कि जलवायु तथा अन्य बातें जो हमारे

पड़ोसी को प्राप्त हैं, उसी के कारण वह उस काम को अधिक उचित ढंग से कर सकता है। अतः हमें उससे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। यदि ऐसा करके आप उसे बर्बाद भी कर दें तो इससे आप को तो कोई लाभ मिलने वाला नहीं है, अन्ततः इस सौदे में आपको हानि ही होगी। ऐसे उद्योग स्थापित करना व्यर्थ ही है जो आपके देश की जलवायु तथा प्राकृतिक स्थितियों के अनुकूल न हों। यदि आप ऐसा करते हैं तो इससे आपको निराशा ही हाथ आयेगी।

अंग्रेजों ने शिक्षा तो ली, पर भयानक गलतियां करने के पश्चात्। अन्य देश भी उनका अनुकरण कर रहे हैं, यथा अमेरिका। वे अपने को इतना चतुर समझते हैं, तभी वे तो इंगलैण्ड से भी कोई सीख लेना नहीं चाहते। फलतः उन्हें भी अपनी गलतियों का ही खमियाजा भुगतना पड़ता है। जो व्यक्ति युक्ति और तर्क की भाषा नहीं सुनता उसे तो इसका फल भोगना ही पड़ता है।

विदेशियों द्वारा ऐसे विषयों का अध्ययन भी सक्षम रीति से नहीं किया जाता। जापान सरकार ने अनेक छात्रों को लन्दन भेजा। इनमें से दो ने राजनीति आश्रित अर्थशास्त्र पर व्याख्यान सुने। वे मेरे निकट ही बैठते थे तथा मेरे मित्र भी बन गये, किन्तु मैंने अनुभव किया कि उनमें से एक ही कुछ सीख पाया है तथा उसने पाठ्य विषय के नोट्स भी लिये हैं। दूसरे ने जो अपने देश की सेना में लेफ्टिनेंट के पद पर कार्यरत था, कुछ भी नहीं सीखा। उसने एक भी बात नोट नहीं की तथा विषय की कुछ भी जानकारी हासिल नहीं की। मेरे विचार से यह जापान सरकार की ही गलती थी कि उसने ऐसे युवा विद्यार्थियों को विदेशी धरती पर विना किसी नियन्त्रण अथवा संरक्षण प्रदान किये अध्ययन के लिये भेज दिया। वे तो उस देश की भाषा का भी अधूरा ज्ञान रखते थे तथा पाठ्य विषय की तो उनकी जानकारी और भी कम थी। ऐसे विद्यार्थियों को, चाहे वे कितने ही प्रतिभावान् और योग्य क्यों न हों, स्वेच्छा से कार्य करने के लिये अकेले नहीं छोड़ना चाहिये। वे दोनों एक निजी निवासगृह पर रहते थे तथा उनके अध्ययन में भी उनका मार्गनिर्देशन करनेवाला कोई नहीं था।

आप अपने छात्रों को हमारे सुपुर्द करने के पहले शायद यह जानना चाहते हैं कि उन पर कितना खर्च आयेगा। अंग्रेजी साम्राज्य

के छात्रों के लिये हमारी फीस निश्चित है। आठ से तेरह वर्ष की आयु के बीच के किशोरों से हम न्यूनतम १०० गिनी वसूल करते हैं तथा इससे अधिक आयु के छात्रों से अधिकतम १७५ गिनी नियत की गई हैं। यह सामान्य आवश्यकताओं के मुताबिक ही है, जैसा कि आपको संलग्न विज्ञप्ति से विदित होगा। अकेले छात्र से मुझे कुछ अधिक ही मिल जाता है। जो अभी हाल में ही मुझसे पृथक् हुआ है उसने मुझे ३६० गिनी वार्षिक के हिसाब से अदा किया था। सारी शर्तें आवश्यकता, आयु, तथा प्रत्येक मामले में माता-पिताओं की प्रबन्ध व्यवस्थाओं से सम्बन्धित होती हैं। किसी छात्र को किसी विशिष्ट विषय में पृथक् पाठ ग्रहण करने की आवश्यकता होती है जब कि दूसरे को नहीं होती। यही बात निवास कक्ष, सङ्गीत के वाद्ययन्त्रों [पियानो] आदि पर भी लागू होती है। कुछ छात्र इन्हें लेना पसन्द करते हैं और अपनी इच्छा तथा क्रयशक्ति के आधार पर प्राप्त भी करते हैं।

हम आपके शिष्यों को वे सभी विषय पढ़ाना चाहेंगे जो उनके लिये अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी होंगे। हमें उनके विशिष्ट शिक्षण के लिये अतिरिक्त सावधानी रखनी होगी, अपेक्षाकृत उन सामान्य विद्यार्थियों के, जिनके समक्ष कोई स्पष्ट ध्येय नहीं है। इस पर कितना आर्थिक व्यय होगा, इसका पूर्वानुमान करना कठिन है। यदि हम खर्च के औसत पर विचार करें और चाहे उसे कितना ही कम करके क्यों न आंकें, वास्तविक व्यय से तो वह कम हो जायेगा और उससे दोनों ओर के खर्च भी पूरे नहीं पड़ेंगे क्योंकि आपके विद्यार्थी विशिष्ट विषयों को सीखना चाहते हैं और वह भी सामान्य विद्यालयों और शिक्षण संस्थाओं की व्यवस्थाओं से बाहर रह कर।

हमारी शिक्षण संस्था अन्य शैक्षिक संस्थाओं की भांति केवल धनोपार्जन के लिये नहीं है। हम अपने कार्य के लिये उचित प्रतिदान तो चाहते हैं, अपने कार्य की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए तथा इसलिये भी कि हम अपने अस्तित्व को कायम रखते हुए अपने अच्छे कार्य को जारी रख सकें, किन्तु केवल धन एकत्र करना हमारा लक्ष्य नहीं है। मेरे लिये तो यह कहना अनावश्यक ही है कि यदि बुद्ध, सुकरात तथा जीसस जैसे महान् शिक्षकों की भांति हम भी किसी

प्रकार के सांसारिक पुरस्कार को लिये बिना ही अपने शिष्यों को शिक्षित कर सकें, तो हमें इन महापुरुषों का अनुकरण करने में प्रसन्नता ही होगी। आज के जमाने और वस्तुओं के मूल्यों को देखते हुए तथा शारीरिक जरूरतों की ओर ध्यान देते हुए, किसी अत्यन्त उदार तथा उदात्त शिक्षा प्रणाली को अपनाना सम्भव नहीं है। आप स्वयं भी ऐसा नहीं कर सकते।

पश्चिम के राष्ट्र कला, विज्ञान तथा ऐश्वर्य में तो बढ़े चढ़े हैं किन्तु उदारता तथा बुद्धिमत्ता में नहीं। एक व्यक्ति चाहे इन लोगों को सर्वोच्च ज्ञान की शिक्षा ही क्यों न दे, और बदले में इनसे कुछ भी न चाहे, तथापि ये लोग उसे भूखों मरते देखना पसन्द करेंगे, किन्तु जीवन सञ्चालनार्थ उनको भोजन हरगिज नहीं देंगे। आज के तथाकथित सुसंस्कृत लोगों के लिये भौतिक खाद्य पदार्थों का कहीं अधिक महत्त्व है। इसकी अपेक्षा वे मुफ्त में मिलनेवाली शाश्वत बुद्धि की चाहना भी नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि इस बुद्धि को बेच कर भी वे चालू मुद्रायें तो प्राप्त नहीं कर सकते। आज की दुनियां ऐसी ही है, क्योंकि आज मानवता की आत्मा को ऐसी ही तन्द्रापूर्ण स्थिति में डाल दिया गया है जिससे उसका दिल और दिमाग पाषाणवत् बन गया है। अतः आज उसकी आत्मा से दिव्य परमात्म ज्योति का कोई स्फुलिङ्ग भी निकल कर बाहर नहीं आता, जो अपने ही अस्तित्व संरक्षण के लिये उस की आवश्यकता को अनुभव करता है। क्या हम एक होकर मानवता की इस दुखद स्थिति को अपने वैयक्तिक जीवन एवं कार्य से बदलने के लिये यत्न-शील होंगे? हम तो इससे सहमत हैं, और आप तो साहसपूर्वक इस मार्ग पर चल पड़े हैं तथा आशा है आप सफल भी होंगे। सम्भवतः विजय के मार्ग पर चलते हुए आप और हम किसी मिलन बिन्दु पर परस्पर मिल जायें। उस समय हम अपने हाथ मिलायेंगे और परमात्मा का गुणानुवाद करते हुए कहेंगे कि उसने हमें सफलता प्रदान की है तथा इस धरती पर पूर्व और पश्चिम के भाइयों को मिला दिया है। इसलिये नहीं कि वे लड़ें, किन्तु एक ही महान् परिवार के सदस्य के रूप में वे शान्ति, सद्भाव तथा ईश्वरीय प्रेम को चरितार्थ करते हुए मिल कर रहें।

मैंने अपना यह विचार और योजना यहां प्रस्तुत की है। मैं

जानता हूं कि मूर्खों की मण्डली तो इसे सम्भावना एवं बोध के विपरीत बेतुका ही समझेगी। कुछ हद तक यह ठीक भी है, क्योंकि इन आदर्शों की प्राप्ति के लिये तो मनुष्य को फरिश्ता बनना ही पड़ेगा। जन सामान्य को हम बहुत गलत नहीं कह सकते जब वह अपना विशिष्ट मत प्रकट करते हुए कहता है कि जहां अज्ञान ही वरदान हो, वहां बुद्धिमान् बनना ही मूर्खता है। जो आंखें रोशनी को देखने की अनभ्यस्त हैं, वे तो रश्मि संभार को देख कर बन्द हो ही जायेंगी, किन्तु जो लोग प्रकाश-पर्व को देख कर आनन्दित होते हैं उन के लिये तो रोशनी का त्योहार आनन्ददायक ही होता है। यह विषयान्तर है, यद्यपि मूल कथ्य से अधिक दूर नहीं है, आशा है आप इसके विस्तार को भी क्षमा कर देंगे।

अब मैं पुनः अपने वास्तविक मुद्दे पर आता हूं। मैंने हिसाब लगाया है कि २०० गिनी वार्षिक का खर्च करने पर हम आपके शिष्यों की उन शारीरिक और बौद्धिक आवश्यकताओं को पूरा करने का दायित्व ले सकते हैं जो कि आप और आपके देशवासी उनमें देखना चाहते हैं। कृपया हमें बतायें कि इस प्रस्ताव पर आपकी क्या राय है? अपनी साफ राय से हमें अवगत करायें। हम आपसे ऐसे प्रबन्ध करने के लिये तैयार हैं जो आपके देशवासियों और हमारे लिये नितान्त सन्तोषप्रद होंगे। मेरे विचार से उन जापानियों ने, जो यूरोप में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं, अपने देश का कुछ अधिक ही खर्चा किया है, अपेक्षाकृत उस अनुमानिक व्यय के, जो हमने अपनी जिम्मेदारी पर आपके समक्ष प्रस्तावित किया है।

आपके शीघ्र उत्तर की प्रतीक्षा में। हमारे प्रियतम गुरु, आप विश्वास करें, मैं हूं

आपका आज्ञाकारी एवं विनीत
शिष्य,
जी० वाइज

पुनश्च—कृपया संलग्न चित्र को आपके प्रति मेरे पूर्ण सम्मान के प्रतीक के रूप में स्वीकार करें।

—:०:—

[पूर्ण संख्या १७५] पत्र

19, Albrecht Street,[१]
Wilshaden, 30th June 1880.

Dearest Master,

I have the pleasure to inform you that we have found a clever architect and builder, a friend of my partner, who is willing to take one or more of your pupils into his business for practical and theoretical works, Pupils could not find a better opportunity for learning architecture than with him. At least, so I think. For carpentry we know several who are ready to allow our students to learn the art in their timber yards and workshops and to occupy them in winter with constructing wooden staircases for buildings.

To-day I called at the works of the clever cutler, who works his grinding stones by means of a small gas engine. There one or two pupils could be placed to learn the art of making the finest and best knives, scissors, daggers and many other kinds of cutlery, thoroughly. As to the art of dyeing and colouring clothes, etc. I am sure, we shall find the right man and place to have it properly taught. I will look out for such to-day. For watch making, we have plenty opportunity. The principle object of watch-makers is to learn the construction of all the different varieties of watch mechanism, to be able to compose them and to repair any part of the machinery, any time, correctly. This is the chief part, the mastership of the art. The manufactury of the wheels and all other component parts that form together the watch, is not the work of the town

---

१. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) आषाढ़ १९६५ वि० में छपा था।

and city watchmakers. These mechanical parts are usually made in large establishments, in which often the population of one, two or three villages, men women and children are engaged.

Each of these persons learn to make one certain wheel or part of the mechanical work. By doing only this one thing every day, from year to year, he or she gets so perfect in the execution of that particular object, that nothing more axact can be produced to fit into the other part of mechanism to which it is attached. This system of making each individual concentrate all his skill and attention upon the perfect execution of one particle of the whole, is called "Division of labour" a system, by the application of which extraordinary results are obtained—

1st—A great economy of time;

2nd—A great quantity of produce;

3rd—A great exactitude of work;

only by that method of work the most useful commodities, like watches can be produced at such a low price, that never a single watchmaker, if he did work all himself could be able to exist and get his living by it, unless he got twenty times so much paid for a watch of the same construction and quality made in the large works by at least fifty or hundred persons, who each make a part of it, and nothing else! which persons, other real watchmakers, then only have to unite, compose into a watch and sell, if they deal in them.

Now you see, dear master, that a youth may also learn to make all these particulers himself, but it would take a much longer time for him to get perfect in doing them, than if he learns the composition first, and afterwords the

handicraft of making the wheels and all the other component parts of a watch. Without the system of the "Divison of the labour" in the way. I have pointed out your country men would never be able to compete with European watches of fabric production. You would not be able to do them as good and cheap, if your watchmakers would try to make watches themselves and do the whole work of mechanism themselves, instead of getting them made by others, whom they have employed for the special purpose of making the parts which they can only need compose and regulate to make them fit for sale. If you wish to produce your own watches for sale in all India you have to make the great effort of sending to Germany a certain number of clever young men, fit for machanic work. Each has there to learn to do certain parts of a certain watch, and a practical and saleable size and shape, and his fellows to learn to make all the other parts, the same way, with perfect skill and exactitude. As soon as they have accomplished that task, they are able, united to a body to erect a watch manufactory on the system of "Division of Labour" each supporting the other by producing and delivering his share of the mechanism of the watch, which any master-watchmaker among them, can put together for use and sale.

Only by the adoption of that system you can manage to compete with the European and others world-known establishments of that commodity-watches It is the same with regard to many other manufactured commodities of extensive use among mankind. You have neighbours that are long established in such business.

If you begin prudently and do not over-hurry yourself in the beginning, you have, as far as I can judge, a fair

chance of beating in the course of time, your present competitors out of the Indian market. For you have a few advantages, which they have not—

(1) You have cheap labour in your country.

(2) You have skilful hands your country more fit in general than Europeans to do fine work skilfully.

(3) You have better morals than most Europeans and would not cheat your customers by cheap and bad articles, not worth the money. You would keep strictly to the sound principal in life and trade and industry.

"Honesty is the best Policy" stick to it and you will prosper at the end and beat your present competitors soon out of the field. In this article the raw production is not of great importance. The work alone makes out the value of a watch. The metal is of insignificant value, compared with the work that is done on it. The value of raw steel, increases ten thousand times by being worked up into steel axletrees and springs and wheels in watches and other fine mechanic products. Thus whether you produce the steel and other metal in your own mines, or must get them from England or other countries would not prevent you from competing with them in production. The above named advantages you have make more than up for the advantage the others have, by having the raw matereal at hand you can by it from other countries make watches of it and beat their products in your own hand. For learning the art of dyeing or coloring cloths, etc., a student must have a foundation of chemistry. For that is the best opportunity at the Laboratory of Professor Dr. Tresenins. He has always a number of German, English and other foreign pupils to study practically and theoratically at his Laboratory and hearing his lectures. Enclosed I hand you

copies of his regulations which contains all particulars.

That is all I can tell you about the subject to-day. As soon as I have more information I shall communicate it to you, as it must be welcome to you, even if you knew already the greater part of it by own experience you can send us pupils any time, the sooner the better. For we are already to receive them and occupy them according to their respective purpose of study.

I remain,
My dearest master,
Yours truly,
G. Wiese

भाषार्थ

१६, आल्ब्राम्ट स्ट्रीट
वीसबादेन
३० जून, १८८०

मेरे अत्यन्त प्रिय आचार्य,

मुझे आपको यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि हमें एक चतुर स्थापत्यकलाविद् तथा भवन-निर्माण कुशल व्यक्ति मिल गया है जो मेरे साझेदार का मित्र है। यह आपके एक या अधिक शिष्यों को प्रायोगिक और सैद्धान्तिक कार्य की शिक्षा के लिये अपने व्यवसाय में लेने के लिये तैयार है। इसके साथ रहकर वास्तुविद्या सीखने का अधिक उपयुक्त अवसर आपके शिष्यों को अन्यत्र नहीं मिलेगा। जहां तक बढ़ईगीरी का सवाल है, मैं अनेक ऐसे लोगों को जानता हूं जो हमारे छात्रों को अपनी लकड़ी के कारखानों में काम करने की इजाजत दे देंगे। यहां रहकर शीतकाल में वे मकानों के लिये लकड़ी के जीने बनाना सीख लेंगे।

आज मैं एक चतुर लोहार की दुकान पर गया जो एक छोटे गैस एन्जिन की सहायता से चक्की चलाता है। यहां एक या दो ऐसे विद्यार्थी रक्खे जा सकते हैं जो उत्तम कोटि के चाकू, कैंची, कांटे, छुरी तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ बनाना भली भांति सीख सकते

हैं। जहां तक रङ्गसाजी तथा कपड़े रंगने का काम है, मुझे पक्का विश्वास है कि इन कामों को सिखाने वाले सही व्यक्तियों और स्थानों की हम खोज कर लेंगे। मैं आज ही ऐसे आदमी की तलाश कर लूंगा। घड़ियों के बनाने के काम के बारे में भी हमारे पास पर्याप्त अवसर हैं। घड़ीसाजों का प्रमुख कार्य तो घड़ी के रचना तन्त्र की विविधताओं को भलीभांति जानना और समझना ही है। उससे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह घड़ी के सारे पुर्जों को यथोचित रीति से मिलाये और किसी भी समय मशीन के किसी भी पुर्जे को ठीक कर दे। कला पर सम्पूर्ण अधिकार, यही प्रमुख कार्य है। पहिये [पेण्डुलम] तथा अन्य पुर्जे जो घड़ी के प्रमुख हिस्से होते हैं, कस्बों तथा शहरों के घड़ीसाजों द्वारा नहीं बनाये जाते। ये मशीनी पुर्जे प्राय: बड़े औद्योगिक संस्थानों में बनाये जाते हैं जिनमें एक, दो या तीन गांवों की आबादी जितने स्त्री, पुरुष और बच्चे रोजी कमाते हैं।

इनमें से प्रत्येक को एक कल पुर्जा या कमानी बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस एक ही काम को प्रतिदिन लगातार कई वर्षों तक करते रहने के कारण वह स्त्री या पुरुष कारीगर इस कार्य को करने में इतना नैपुण्य प्राप्त कर लेता है कि जिस घड़ी में इस पुर्जे को लगाना होता है, उसमें उस व्यक्ति के द्वारा तैयार किये पुर्जे से भिन्न और किसी प्रकार का पुर्जा फिट बैठ ही नहीं सकता। एक ही व्यक्ति द्वारा अपनी सम्पूर्ण योग्यता और ध्यान को एक ही वस्तु के निर्माण में लगाने की प्रवृत्ति को श्रम का विभाजन कहा जाता है, इसके द्वारा असाधारण परिणाम प्राप्त किये जाते हैं जो निम्न हैं--

(१) समय की बचत होती है। (२) उत्पादन की मात्रा अधिक होती है। (३) कार्य में सटीकता और खरापन आता है।

उपर्युक्त व्यवस्था के कारण ही सर्वाधिक उपयोगी पदार्थ, उदाहरणार्थ, घड़ियों आदि का निर्माण होता है, तथा इनका मूल्य भी पर्याप्त कम होता है। यदि कोई अकेला घड़ीसाज, अकेला ही इसका सारा काम खुद करे तो भी वह अपनी जीविका नहीं चला सकता। उसका स्वावलम्बी होना तभी सम्भव होगा यदि उस घड़ी का मूल्य बीस गुना हो जावे, जो कि वर्तमान स्थिति में बड़े कारखानों में कम से कम पचास या सौ व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयत्नों से बनाई जाती

हैं। इनमें से प्रत्येक इसके एक-एक पुर्जे का ही निर्माण करते हैं, जब कि अन्य घड़ीसाज इन पुर्जों का मात्र मिलान ही करते हैं और इसे मिला कर ही बेच देते हैं, यदि ये घड़ियों के विक्रेता हों।

अब मेरे प्रिय आचार्य, आप स्वयं ही देखें कि एक नौजवान भी इन सारे पुर्जों को बनाना सीख सकता है, किन्तु इस काम में निपुणता प्राप्त करने के लिए उसे पर्याप्त समय लगाना होगा। अच्छा तो यह होगा कि वह पहले घड़ियों की रचना प्रक्रिया सीखे और उसके पश्चात् कमानी तथा अन्य पुर्जों को बनाना सीख ले। श्रम के विभाजन की प्रक्रिया को अपनाये बिना, जैसा कि मैं कह चुका हूं, आपके देशवासी घड़ियों के ढाचों के निर्माण में यूरोपीय लोगों की प्रतिद्वन्द्विता में खड़े नहीं हो सकेंगे। आप घड़ियों को उतना अच्छा और सस्ता नहीं बना सकेंगे। यदि आपके घड़ीनिर्माता स्वयं ही निर्माण का सारा काय खुद करने लगें। घड़ियां अल्पमोली और अच्छी तो तब होंगी यदि उनके पुर्जे उन लोगों द्वारा बनाये जायें जो इसी खास उद्देश्य के लिये नियत किए गए हैं तथा इन्हीं पुर्जों को सम्मिलित कर घड़ी को बेचने के लिए अन्तिम रूप दे दिया जाता है। यदि भारत में आप अपने द्वारा निर्मित घड़ियां ही बेचना चाहते हैं तो आपको जर्मनी में अच्छी संख्या में चतुर नौजवानों को भेजने का यत्न करना होगा, ऐसे युवक जो मशीनी कार्य में कुशल हों। इन में से प्रत्येक को घड़ी के विशिष्ट पुर्जों को बनाने का काम सीखना होगा, ऐसी घड़ी जो आकार और सांचे में बिक्री के सर्वथा योग्य हों। उसके अन्य साथियों को अन्य पुर्जों का बनाना सीखना होगा। पूर्ण निपुणता तथा तथ्यपरक दृष्टि से ही यह शिक्षा लेनी होगी। जब वे इस कार्य में प्रवीणता प्राप्त कर लेंगे तभी श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर वे अपना घड़ी का कारखाना स्थापित कर सकेंगे। इसमें वे घड़ी के स्वयं द्वारा निर्मित पुर्जों का उत्पादन भी करेंगे और अपने इसी उत्पाद को वे उन घड़ी उत्पादकों को देंगे, जो इन पुर्जों को मिला कर घड़ी को बिक्री के लिए प्रस्तुत करते हैं।

इसी व्यवस्था को अङ्गीकार करने से ही आप यूरोपीय तथा अन्य संसार प्रसिद्ध घड़ी-निर्माताओं से प्रतियोगिता में उतर सकते हैं। यही तथ्य उन उत्पाद वस्तुओं पर भी लागू होता है जो मनुष्य

जाति के व्यापक प्रयोग में आती हैं। श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करके ही आप अपने उन पड़ोसियों से प्रतियोगिता में उतर सकते हैं जो इस प्रकार के व्यवसायों में बहुत पहले से ही स्थापित हैं।

यदि आप विवेकपूर्वक चलें और आरम्भ में जल्दबाजी नहीं करें, तो जहां तक मैं सोचता हूं समय आने पर आप अपने प्रतियोगियों को भारत के बाजार से बाहर कर सकते हैं। कारण कि आप को कुछ ऐसी सुविधाएं प्राप्त हैं, जो उनके पास नहीं हैं। यथा—

(१) आपके देश में श्रम सस्ता है।

(२) आपके देश में कलापूर्ण काम करने वाले लोग यूरोप की अपेक्षा कहीं अधिक हैं जो बारीक काम को अधिक चतुरता के साथ कर सकते हैं।

(३) यूरोपियनों की अपेक्षा आपका नैतिक चरित्र उच्च है, क्योंकि आप लोग सस्ता किन्तु खराब माल देकर ग्राहक के साथ धोखाधड़ी नहीं करते। आप जीवन, व्यवसाय और उद्योग के क्षेत्र में ठोस तथ्याश्रित सिद्धान्तों का पालन करते हैं।

"ईमानदारी ही सर्वश्रेष्ठ नीति है" इस सिद्धान्त पर आप दृढ रहें तो अन्ततः आपको सिद्धि प्राप्त होगी और अपने प्रतियोगियों को मैदान के बाहर कर देंगे। घड़ियों के निर्माण कार्य में कच्चे माल का खास महत्त्व नहीं है। घड़ी का वास्तविक मूल्य उसके निर्माण कौशल पर निर्भर होता है। धातु का उतना महत्त्व नहीं है, किन्तु उस काम का मूल्य है जो उस पर किया जाता है। कच्चे फौलाद की कीमत हजार गुना बढ़ जाती है जब उसे घड़ी या अन्य यन्त्रों में धुरी, कमानी तथा अन्य पुर्जे का रूप दे दिया जाता है। अतः आप लोहा या अन्य धातुओं का चाहे अपने देश की खानों में ही उत्पादन करते हैं, या उसे इंगलैण्ड अथवा अन्य देशों से मंगाते हैं, इससे उन देशों के साथ प्रतियोगिता करने में आपके मार्ग में कोई रुकावट नहीं आयेगी। उपर्युक्त सुविधायें अन्यों की अपेक्षा आपके लिए विशेष हैं, अतः आप अन्य देशों से कच्चा माल मंगा कर भी उनसे घड़ियां बना सकते हैं और इस प्रकार अपने ही देश में दूसरों को मात दे सकते हैं। रङ्गसाजी तथा कपड़े रंगने के काम को सीखने के लिये शिक्षार्थी को रसायनशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान होना आवश्यक है। इस काम

के लिये प्रो० डा० ट्रसिनिस की प्रयोगशाला सर्वथा उपयुक्त है। उन के पास पर्याप्त संख्या में जर्मन, अंग्रेज तथा अन्य देशों के विद्यार्थी रहते हैं, जो उनकी प्रयोगशाला तथा उनके व्याख्यानों से रसायन का व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान अर्जित करते हैं। इस पत्र के साथ उक्त प्रोफेसर की प्रयोगशाला के सभी नियम संलग्न हैं, जिनसे सारा ब्यौरा जाना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में तो मैं आज आपसे इतना ही निवेदन कर सकता हूं। ज्यों ही मुझे अन्य सूचनायें मिलेंगी, मैं उन्हें आपको प्रेषित कर दूंगा जो आपके लिये स्वागत योग्य होगीं। यदि आप स्वानुभव से इनमें से अधिक बातें जानते हैं तो आप अपने शिष्यों को किसी भी समय भेज सकते हैं, किन्तु शीघ्रता करना ही उत्तम है। हम उनको यहां तत्परता से स्वीकार करेंगे और उनके अध्ययन की विशिष्ट रुचियों को ध्यान में रखकर ही उन्हें तत् तत् कार्य में नियोजित करेंगे।

मेरे अत्यन्त प्रिय आचार्य,
मैं हूं आपका सच्चा
जी० वाइज

--:o:--

[पूर्ण संख्या १७६] पत्र

19 Albrecht Street,[1]
Wilhaden, 10th July 1880.

Dearest Master,

I hope you have received my letters, and not found them too long and uninteresting.

Professor Ferdinand, Institute teacher of Sanskrit at the University of Marburg, wrote to me that at every German University, Sanskrit is read sometimes by two teachers. The teachers known to him are :—

१. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) श्रावण १९६५ वि० में छपा था।

"Albrecht Weber, (Berlin), Pischel (Kiel). Jacobi (Minister), Hoefer (Greifswald), Ernst Kuhu (Minchen), Gildemerister and Aufrecht(Borin), the latter having the nominal professorship of Sanskrit. Leomeyer (Dorpat), Stenzler (Breslan), Pott (Halle), Windisch (Leipzig), Goldschmidt (Strassburg), Benfey (Gottingen), Osthoff (Heidelberg), Von Roth (Fubingen), Spiegel (Zelangen), Delbruck (Jena), Nessehnaun (Konigsberg)"

"In Freiberg and Rostock, Sanskrit is certainly also read but I do not remember any names. In Giessen, professor Vullars read Sanskrit. After his death his professorship has been left vacant. Here in Marburg, I read Sanskrit myself for **two** halves, sometimes also **three** halves, when there are students who are particularly too eager to study. If I am not mistaken, "Luly", is reading Sanskrit in Insbruck. How large the attendance of students is, I cannot tell you. I am told with the late professor Brockhares, there have been **above half a hundred students in Sanskrit** but that at the end of half year, there used to remain about dozen. When I studied at Gottengen, I read with three colleagues, with Benfey, the Hymns of the **Veda**. I have here half a dozen auditors. In the second half one or two leave, and at the end there generally remains but one or two with whom I read difficult authors."

So far goes the report of our friend, the professor at Marburg. You see from it that Sanskrit is read

all over Germany at every University. Diligent students seem to be rare, as everywhere in Europe, and in almost every branch of science. There is in general **no proper drift in our** generation, the spirit of a youth is half asleep. Most of them do not know their duty and destiny, and what they really are in this world for, and why they should study so much, as all is over with **the death of body**—according to their benighted opinion, confirmed by superficial professors of natural science, all over the Western world. It is time that they get better enlightened by wiser men, then most likely many young spirits will awaken out of their state of mental and moral lethargy and begin to work at self-study more energetically and be of greater service to the world and to themselves, as they are now in their spiritless state—materialists by thought and heart.

About the various kinds of artizenship, I hope made more enquiries with competent authorities.

The art of dyeing may be learnt there properly and found amentary. There are fine dyers in Wiesbaden, one of which is very **clever** in his art, and I have had a talk with him. He considers it more profitable for any one that wants to learn the art, to learn at a small establishment, where they work more **by hand**, than by steam, then the apprentice has to **study chemistry along** with his **practical** work. Chemistry is a study useful to every student of technical industry.

Professor Dr. Fresenius told me that it might be well, if I myself went to his lectures **with** my

pupils, after they had learnt German sufficient to take part in them, as I have studied chemistry and can explain matters to them that I would do.

My watchmakers informed me that the usual way by which he had learnt his art, was **three** years apprenticeship with master—watchmakers combined with theoratical study (drawing, mathematics, etc.) Then he went for **two** years to a great watchmaking establishment in Switzerland and later to a **school** of watchmaking in Saxony. This he considers one of the last ways for any one to learn the art well. They learn in that way also the **manufactury** of the **particles** of watch-work.

In cutlery there is plenty of good opportunity for learning, also in carpentry and building. We are able to place our pupils well, when they come and have practical German a short time.

Please let me know what you think of this, and of my proposal concerning the terms for lodging, board and instruction of the young countrymen of yours. We are ready to meet your and their wishes in any way we can, with regard to arrangement and terms.

We do not want to render things difficult to you, but as easy as possible, and try to arrange everything economically, as possible. You shall any how not pay more than you can afford conveniently, though life is as expensive here as it is in England and France.

The greater part of Aryan students, I suppose, are accustomed to vegetarian diet and eat no meat or flesh of animals. They can have their dinners,

as they are used to have in India, as far as we can cook it for them, if they give us some advice of it, by **book** or word.

Now, if there is anything you want to have information about, Please let me know of it, and we shall answer you by return of post.

Meanwhile I remain most honoured master, ever your faithful pupil.

G. WIESE.

Swami Dayanand Saraswati, Benares (India).

P. S.—If you can send us some students by next mail we shall be happy to welcome them and receive them in our house, which is comfortable and most healthy.

भाषार्थ

१६, आल्ब्राख्ट स्ट्रीट
वीसबदेन
१० जुलाई, १८८०

मेरे प्रिय आचार्य,

मुझे आशा है कि आपको मेरे पत्र मिल गये हैं और वे आपको अत्यधिक लम्बे तथा नीरस नहीं लगे हैं।

मारबर्ग विश्वविद्यालय में संस्कृत अध्यापक प्रो० फर्डिनेण्ड ने मुझे लिखा है कि जर्मनी के प्रत्येक विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाई जाती है, कहीं कहीं इसके लिये दो अध्यापक भी नियुक्त हैं। उनके परिचित अध्यापकों के नाम हैं—"आल्ब्रेख्ट वेबर [बर्लिन], पिशेल [कील], जैकोबी [मिनिस्टर], होफर [ग्राइफसवाल्ड], एर्नेस्ट कुह्न [मिन्शेन], गिल्डेमेरिस्टर और आउफ्रेख्ट [बोरिन] (आउफ्रैख्ट बराये नाम ही संस्कृत के प्रोफेसर हैं), लियोमेयर [डोपार्ट], श्टेंत्पलर [ब्रेस्लन], पाट [हाले], विंडिश [लाइपशिस], गोल्डस्मिद् [स्ट्रासबर्ग], बेन्फे [गोटिंवेजन], ओस्थोफ [हाइडलबर्ग], वान राथ [फ्यूबिनगन], श्पीगल [शेलामगन], डेलब्रुक [आइना], नेसेनाउन [कोनिग्जबर्ग]"

"फ्राइबर्ग तथा रोस्टोक में भी निश्चित रूप से संस्कृत पढ़ाई जाती है, किन्तु वहां पढ़ाने वालों के नाम मुझे स्मरण नहीं हैं। गिसेन में प्रो० वेलस संस्कृत पढ़ाते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनका पद रिक्त हो गया है। यहां मारबर्ग में मैं स्वयं [फर्डिनेण्ड] कभी दो, तो कभी तीन कालांशों तक संस्कृत पढ़ाता हूं। अधिक पढ़ाना तभी सम्भव होता है जब अन्य छात्र भी संस्कृत पढ़ने में अपनी रुचि दिखाते हैं। यदि मैं गलती नहीं करता, जूली इन्सब्रुक में संस्कृत पढ़ाती है। संस्कृत के प्रति छात्रों का ध्यान कितना गहन है, यह मैं आपको नहीं बता सकता। स्व० प्रोफेसर ब्रोकहेयर्स ने मुझे बताया था कि पहले वहां संस्कृत पढ़ने वालों की संख्या लगभग ५० थी, किन्तु अर्धवार्षिक सत्र तक यह घट कर लगभग एक दर्जन ही रह गई। जब मैं गोटिंगजेन में पढ़ता था, तो अपने तीन सहपाठियों के साथ मैंने प्रो० बेन्फे से वेदों की ऋचाओं का अध्ययन किया था। यहां मेरे पास लगभग छ: पाठ-श्रोता हैं, अध्ययन सत्र के उत्तरार्ध में एक या दो चले जाते हैं और अन्त तक तो एक या दो ही शेष रहते हैं, जिनके साथ मैं क्लिष्ट लेखकों की रचनाओं का अध्ययन करता हूं।"

ऊपर मैंने अपने मित्र मारबर्ग के प्रोफेसर द्वारा प्रस्तुत विवरण दिया है। इससे आपको पता चलेगा कि जर्मनी में सर्वत्र, प्रत्येक विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाई जाती है। प्रतिभाशाली छात्र तो प्राय: दुर्लभ ही होते हैं। समूचे यूरोप की भी यही स्थिति है, यहां तक कि विज्ञान की प्रत्येक शाखा में भी प्रतिभाशाली छात्र प्राय: नगण्य ही होते हैं। हमारी इस पीढ़ी में सामान्यतया कोई अपसरण की प्रवृत्ति तो दिखाई नहीं देती, युवकों की स्थिति प्रायः अर्धसुप्त सी है। इनमें से अधिकांश अपने कर्तव्य एवं भविष्य के लक्ष्य को भी नहीं जानते और न उन्हें यही पता है कि वे संसार में क्यों आये हैं ? न वे यही जानते हैं कि उनके अध्ययन का लक्ष्य क्या है, क्योंकि उनके विचारानुसार तो शरीर के अन्त के साथ ही सभी कुछ नष्ट हो जाता है और पश्चिमी संसार के विज्ञान के सभी प्रोफेसर उनकी इस धारणा की पुष्टि ही करते हैं। अभी भी समय है जब कि वे अपने से अधिक बुद्धिशाली लोगों से ज्ञान प्राप्त करें। तभी यह सम्भव होगा कि अनेक युवा लोग अपनी मानसिक एवं नैतिक तन्द्रा

की स्थिति से जाग जायेंगे तथा अधिक परिश्रम से वे स्वयं का अध्ययन करने में तत्पर होंगे। तभी वे अपने और संसार के लिये भी अधिक सेवा-कार्य कर सकेंगे। किन्तु अभी तो वे चेतनाशून्य स्थिति में हैं, विचारों तथा भावों में सर्वथा भौतिकवाद से अभिभूत।

अन्यान्य कला कौशलों के बारे में मैंने अधिकृत व्यक्तियों से कुछ जानकारियां प्राप्त की हैं। यहां रङ्गसाजी का काम भली भांति सीखा जा सकता है, जो लाभदायक सिद्ध होगा। विशबेडन में कुछ अच्छे रङ्गसाज हैं। इनमें से एक तो अपने काम में बहुत ही निपुण है। मैंने उससे बात भी की है। उसकी राय में जो भी इस काम को सीखना चाहता है उसके लिये यह उद्योग बहुत उपयोगी तब सिद्ध हो सकता है यदि वह इसे एक छोटे कारखाने में सीखे। यहां उसे भाप की बजाय अपने हाथ से अधिक काम करना होगा। इसके पश्चात् उस शिक्षार्थी को प्रायोगिक कार्य के साथ रसायनशास्त्र भी सीखना होगा। प्राविधिक उद्योग के विद्यार्थी के लिये रसायन का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है।

प्रो० डा० फ्रेसिनस ने मुझे बताया है कि यह अधिक अच्छा होगा यदि मैं अपने शिष्यों के साथ उनके व्याख्यानों में जाऊं। वह भी तब, जब वे पर्याप्त जर्मन भाषा सीख जायें तथा उसे समझ सकें। मैंने खुद रसायनशास्त्र का अध्ययन किया है और उसे अपने इन छात्रों को समझा भी सकता हूं। मैं ऐसा करने के लिये तैयार भी हूं।

मेरे घड़ीसाज ने मुझे बताया है कि उसने सामान्यतया इस काम को एक बहुत अच्छे जानकार घड़ीसाज के साथ तीन वर्ष लगाकर सीखा है। इसके लिये उसे ड्राइंग तथा गणित का सैद्धान्तिक अध्ययन भी करना पड़ा था। इसके पश्चात् वह स्विट्जरलेण्ड के एक बृहत् घड़ी निर्माण के उद्योग में चला गया। कालान्तर में वह सेक्सनी के घड़ी निर्माण सिखाने वाले विद्यालय में भी गया था। उसके विचार में इस काम को सीखने का यही एक उत्तम तरीका है। इस प्रकार वे घड़ी के पुर्जों को बनाने का काम भी सीख लेते हैं।

छुरी कांटे बनाने, बढ़ईगीरी तथा भवन निर्माण के क्षेत्रों में भी सीखने के पर्याप्त अवसर हैं। यदि आपके छात्र यहां आते हैं और स्वल्प समय में जर्मन भाषा सीख लेते हैं तो हम उन्हें समुचित स्थान पर लगा सकते हैं।

कृपया सूचित करें कि उपर्युक्त वक्तव्य पर आपकी क्या सम्मति है, तथा आपके देश के नवयुवकों के यहां आकर प्रशिक्षण प्राप्त करने पर उनके निवास, भोजन तथा शिक्षाविषयक मेरे प्रस्तावों के बारे में आपका क्या विचार है ? हम आपकी तथा आपके शिष्यों की इन सभी इच्छाओं को पूरा करने में समर्थ हैं जो यहां की व्यवस्था सम्बन्धी शर्तों के साथ जुड़ी हैं।

हम आपके लिये परिस्थितियों को कठिन नहीं बनाना चाहते। इसके विपरीत हमारी इच्छा है कि हम आपको सुविधा ही दें। यथा-सम्भव पूर्ण मितव्ययता के साथ हम सारी व्यवस्था करना चाहते हैं। आपको उतना ही व्यय करना होगा जितना सुविधापूर्वक आप कर सकते है, यद्यपि यहां का जीवन भी इंगलेण्ड और फ्रांस जितना ही खर्चीला है। मेरे विचार से अधिकांश आर्य विद्यार्थी शाकाहारी होते हैं तथा मांस नहीं खाते। वे यहां भी भारत की ही भांति अपना शाकाहारी भोजन ले सकते हैं। हम उनके लिये शाकाहार की यथा-साध्य व्यवस्था कर देंगे यदि वे इस विषय में किसी पुस्तक या मौखिक रूप से हमें मार्गदर्शन देते रहें। यदि आप और भी कोई जानकारी मुझसे चाहते हैं तो कृपया मुझे बतायें। मैं लौटती डाक से उसका उत्तर दूंगा। मैं हूं आपका आज्ञाकारी शिष्य।

जी० वाइज

स्वामी दयानन्द सरस्वती, बनारस [भारत]।

पुनश्च—यदि आप कुछ विद्यार्थियों को आगामी जहाज से ही भेज सकें तो अपने घर में ही हम उनका स्वागत कर प्रसन्नता अनु-भव करेंगे। हमारा आवास पूर्णतया आरामदेह तथा स्वास्थ्यवर्धक है।

—:०:—

[पूर्ण संख्या १७७] पत्र[१]

श्रीमदखण्डज्ञानविज्ञानभास्वरप्रभासितरोदसीषु श्रीश्रीदयानन्द-सरस्वतीस्वामिपादप्रान्तेषु सानेकप्रणतिसमुदाचारोचितसम्मानपुरः-

---

१. यह पत्र हमने 'परोपकारी' (अजमेर) पु० १, अङ्क १, सं० १९४६ से लिया है।

सरं निवेदनम्, आर्यपाद ! अधुनैव श्रीमत्पादानां सानुग्रहानुकम्पा-सूचकं पत्रमवाप्य[1] दुःसहशोकादितापपरिशुष्कमपि मदीयं हृदयं सुधा-सिक्तमिव शान्तिमलब्ध ।

क्वायं श्रीमत्पादानां देवदुर्लभोऽनुग्रहः ? क्वचेयं महत्पादरजः-कणिकोपमाया अप्यनर्हा वराकी ? क्व चास्यां तत्र भवदनुग्रहप्राप्ते-राशाऽपि ? इदम्परमस्मिन्नकिञ्चित्करे जने दयां कुर्वतां जयति महता-मनुपममौदार्यमेव ।

साम्यं हि सर्वत्र सतान्दयाया नीचोच्चताया गणना न तत्र ।
किन्नाम छायां प्रति संहरन्ति पादाश्रिते नीचतमेऽपि शालाः[2] ॥

अद्य प्रायश्चतुर्वत्सराणि यावदन्तरार्यावर्त्तं समागताया मम निरन्तरं शृण्वन्त्याः श्रीमत्पादानां ज्ञानगौरवमतीव सौत्सुक्यमासीन्म-नस्तत्रभवत्पाददर्शनाय । परमेतावन्तं कालं न जाने तत्र भवत्पादाश्च-तुर्थाश्रमपरिग्रहा अतो बालिशधियं स्त्रियं मां दर्शनदानप्रसादेनानु-ग्रहीष्यन्ति वा न वेति संशयदोलारूढमनाः कथमपि निजग्राह हृदयौ-त्सुक्यवेगम् । अद्य भवत्पादानां पत्रमन्तद्धे मम संशयान्तान् ।

महत्पादैरनुयुक्तो ममोदन्तोऽन्तराभिलाषश्च यथा जनप्रवादमह-मद्यावधि कुमारी । यावज्जीवं कौमार्यमेवावलम्ब्यमिति ममाभिल-षितम् । भविष्यति काले प्रबलविधिनियोगवशात्किं भविष्यतीति न वेद्मि ।

सनातनभारतवर्षभूषणानि ललनारत्नानि गार्ग्याद्या आजन्मब्रह्म-चारिण्यो ब्रह्मवादिन्यश्च यथा स्वजातिदेशोन्नतिं साधयन्ति स्म तदु-पममहत्तमकर्मनामग्रहणमपि मादृशबालिशमतौ बालिकामात्रायां न शोभत इत्येतत् स्फुटमेव । मास्तु तत् परं नानादेशपर्यटनेन श्रीमत्पाद-सदृक्षप्रगाढवन्महद्दर्शनैश्च ज्ञानलवमर्जयितुमीहे ।

प्रायो वत्सरद्वितयं यावत् वङ्गदेशे रमणीयतरब्रह्मपुत्रपुलिनबहु-बृहत्तरशिखरिवनविभागपरिवेष्टिते आसामप्रदेशे च प्राकृतिकसौन्द-र्याकृष्टदृष्टिः ससहोदराऽहमुवास । अधुना श्रीमत्पादेष्वावेदयन्त्या

---

१. यहां ऋ० द० के जिस पत्र की ओर संकेत है वह ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन के पूर्ण संख्या ४११ (भाग १, पृष्ठ ४४०) पर छपा है ।

२. वृक्षस्य स्कन्धशाखा इत्यर्थः ।

विदीर्यते हृदयं मम सोदर्यो भ्राता आजन्मसहचरोऽद्य सार्धमासद्विनयमतीयाय लोकान्तरितः। तदीयदुःसहशोकाकुलहृदया सम्प्रति कञ्चित्कालं निभृते स्थाने वस्तुमीहे तथा कृते स्वान्तं स्थिरीभविष्यतीत्याशासे।

अत्रान्तरे मासात् सार्धमासाद्वा परे तत्र भवत्पाददर्शनेन जन्मकृतार्थी करिष्यामि। किमधिकेन श्रीमत्पादेषु तदत्रैवाद्य विरम्यते इति शिवम्।

आषाढ शुक्ल १ भृगुवारे
१८०२ मिते शके[1]

श्रीमच्चरणरेणोः
रमायाः

॥ भाषार्थः ॥

श्रीमान् जिन्हों ने द्युलोक और पृथिवी में अखण्ड ज्ञान और विज्ञान का सूर्य प्रकाशित किया उन श्री श्री दयानन्द सरस्वती स्वामी के पादप्रान्तों में अनेक प्रणाम के साथ और सम्यक् उदाचार (सम्बोधन करने के सम्यक् आचार) और उचित सन्मान के साथ निवेदन है—

हे आर्यपाद ! अभी श्रीमत्पादों के अनुग्रहयुक्त अनुकम्पासूचक पत्र को पाकर दुःसह शोक आदि तापों से दग्ध हुवा भी मेरा हृदय अमृत से सींचे गये के समान शान्ति को प्राप्त हुवा।

श्रीमत्पादों का देवदुर्लभ अनुग्रह कहां और महान् पुरुषों के पादरज की कणिका की उपमा के भी अयोग्या यह वराकी (बेचारी) कहां ? और इस दासी में आप श्रीमानों के अनुग्रहप्राप्ति की आशा भी कहां ? यह तो मुझ जैसे अकिञ्चित्कर जन पर दया करने वाले महान् पुरुषों की अनुपम परम उदारता ही सर्वत्र जय पा रही है क्योंकि सत्पुरुषों की दया समान होती है वहां नीच उच्च की गणना नहीं। क्या वृक्ष की शाखायें पादाश्रित अत्यन्त नीच पर से कभी अपनी छाया को हटा लेती है।

आज मुझे आर्यावर्त्त में आए प्रायः तीन चार वर्ष हुए तब से मैं श्रीमत्पादों के ज्ञान गौरव को बराबर सुनती रही और आपके चरणों के दर्शन के लिये मन अतीव उत्सुक था परन्तु इतने काल तक इस संशय के दोला(पगूरा) पर आरूढ़ मन ने हृदय उत्साह के वेग को रोके रक्खा कि न जाने चतुर्थ

१. आषाढ़ शुक्ल १ शुक्रवार, सं० १९३७, तदनुसार ९ जुलाई १८८०।

आश्रम में स्थित श्रीमत्पाद इस बालबुद्धि मुग्ध स्त्री पर दर्शनदान के प्रसाद से कृपा करेंगे वा नहीं ? आज भवत्पादों के पत्र ने मेरे संशय के अन्धकार को दूर कर दिया।

महत्पादों ने मेरा वृत्त और अभिलाषा पूछी है, जनप्रवाद के अनुसार आज पर्यंत मैं कुमारी हूं। मेरी अभिलाषा है कि यावज्जीवन कुमारी रहूं। परन्तु नहीं जानती कि भविष्यत्काल में प्रबलविधि के नियोगवश से क्या होगा।

सनातन भारतवर्ष की भूषण स्त्रीरत्न गार्गी आदि आजन्म ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मवादिनी स्त्रियां जैसी स्वजाति और देश की उन्नति साधती थीं, यह स्पष्ट है कि उनकी उपमावाले महत्तम काम का नाम ग्रहण भी मुग्ध बालिशमति बालिका मात्र में शोभा नहीं देता। वह नहीं सही, परन्तु नाना देशों के पर्यटन से और श्रीमत्पादों के सदृश अति बुद्धिमान् महापुरुषों के दर्शन से कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहती हूं।

प्रायः दो वर्ष तक वङ्ग देश और रमणीयतर ब्रह्मपुत्र के पुलिन (रेतले किनारे) और बहुत बड़े पर्वतों के वन विभागों से परिवेष्टित आसाम देश में प्राकृत सौन्दर्य्य से आकर्षित दृष्टिवाली सहोदर के साथ में रही थी। अब श्रीमत्पादों की सेवा में निवेदन करते हुए मेरा हृदय विदीर्ण होता है कि आज अढाई मास हुए कि सहोदर भ्राता आजन्म सहचर लोकान्तर को पधारे। अब मैं उसके दुःसह शोक से व्याकुल हृदय होकर कुछ काल तक निभृत (एकान्त) स्थान पर रहना चाहती हूं और आशा करती हूं कि ऐसा करने पर चित्त स्थिर हो जावेगा॥

इतने में मास वा डेढ़ मास के पश्चात् श्रीमत्पादों के दर्शन से जन्म को कृतार्थ करूंगी।

श्रीमत्पादों की सेवा में अधिक लेख से अलम् करके आज यहीं बस करती हूं इति शिवम्।

आषाढ़ शुक्ल १ शुक्रवार — श्रीमत् चरणरेणु
१८०२ शक[1] — रमा का,

—:o:—

१. आषाढ़ शुक्ल १ शुक्रवार, सं० १९३७, (९ जुलाई १८८०)।

[पूर्ण संख्या १७८] पारसल-सूचना

[पुस्तक और पत्रों का पारसल][1]

बख्तावरसिंह

—:०:—

[पूर्ण संख्या १७९] पत्र-सारांश

तीन सौ रुपये भेजे थे, बख्तावरसिंह ने ढाई सौ रुपये की रसीद छापी है।[2]

सुन्दरलाल

—:०:—

[पूर्ण संख्या १८०] पत्र-सारांश

हमारे पास पुस्तक अभी तक नहीं आये।[3]

जगदम्बाप्रसाद

—:०:—

[पूर्ण संख्या १८१] पत्र

[4]स्वामी दयानन्द सरस्वती योग्य अत्र गुजरांवाले तें लिखत जंन

---

१. इस पारसल की सूचना का संकेत ऋ० द० के सं० १९३७ आषाढ शु० ११ (१८ जुलाई १८८०) के पूर्ण संख्या ४२१ भाग ४, पृष्ठ ४५३, पं० २०) से मिलती है।

२. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के सं० १९३७ आषाढ़ शु० ११ (१८ जुलाई १८८०) के पूर्ण संख्या ४२१ (भाग १, पृष्ठ ४५४, पं० २१-२२) के आधार पर छापा है। ढाई सौ रुपये की रसीद यजुर्वेदभाष्य अङ्क १४ के टाइटल पेज २ पर छपी है।

३. यह पत्र-सारांश ऋ० द० के आषाढ़ सुदी १३ सं० १९३७ (२० जुलाई १८८०) के पूर्ण संख्या ४२३ (भाग १, पृष्ठ ४५६, पं० ९-१०) में विद्यमान है।

४. यह पत्र हमने 'दयानन्द सरस्वती मुखचपेटिका' के पृष्ठ १ से लिया है। इसे ठाकुरदास मूलराज ओसवाल ने बम्बई में ७ अगस्त १८८२ में छपवाया है। पुस्तक रामलाल कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह

मती. कारण लिखने का यह है कि जो आपने १८७५ में सत्यार्थ प्रकाश छापा है, उस पुस्तक का समुल्लास १२ में पृष्ठ ३९६ से लेकर जो व्याख्यान जैनियों की बाबत लिखा हे और उनमें हवाल जैनमत के श्लोकों का लिखा है, सो आप कृपा[ं]करके जैन के शास्त्रों का नाम लिखो के यह कौन से जैन शास्त्र के श्लोक है। इस बात का जबाव जल्दी भेजे ज्यूं के जो जैनमत में यह श्लोक हें नहीं और जूठ लिखना यह बुद्धिमानों की बात नहीं. इस वास्ते आपकुं योग्य हे के उस शास्त्र का नाम लिखना, इस वास्ते आपकुं चिट्ठी दी जाती हे इसका जवाब जलदी भेजनां, इस चिट्ठी का नाम ठाकोरदास गुजरांवाले जैन मन्दिर में भेजनां, चिट्ठी लिखी मिती आषाढ वद ११ संवत् १९३७ [1]पजाबी द० बेलीराम के।

—:०:—

[पूर्ण संख्या १८२] पत्र

स्वामी दयानन्द सरस्वती[2] योग्य अत्र गुजरांवाले तें लिखतं जैन-मती कारण लिखने का यह हे के जो आपने सन १८७५ इस्वी में सत्यार्थ प्रकाश छपाया हे, उसमें जो जैन का हाल लिया हे, सो कौन से शास्त्र ग्रन्थ के अनुसार लिखा हे, आप इसका जुबाब जलदी भेजे, जेकर आप उत्तर नहीं भेजेंगे तो आपकुं अदालत में जवाव देई करनी पड़ेगी और ऐसं ऐसें जूठे उजलाम (दूषण) मते पर लगाने यह बुद्धिमान् की बात नहीं इस बात का निर्णय अदालत में होयगा, इस वास्ते आपको "बतोर इतला" (प्रथम चिट्ठी लिखी भेजी गई हे) आप इसका जुबाब लिखो जो "जेडा पाठ" (जो पाठ) जैन मत का लिखा हे सो किंचित भाव लिखते हें:— सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४०२ उपर वह श्लोक लिखें हें:—

पत्र पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी स० पृष्ठ ७०३ पर छपा है। वहां २-४ शब्दों का साधारण भेद है।

१. ३ जुलाई १८८०।

२ यह पत्र 'दयानन्द सरस्वती मुखचपेटिका' के पृष्ठ १-३ तक छपा है। इसका उत्तर ऋषि दयानन्द की ओर से आनन्दीलाल (मेरठ) ने श्रावण बदी ५ सं० १९३७ (१६ जुलाई १८८०) को दिया था। द्र० ऋ० द० के पत्र विज्ञापन पूर्ण संख्या ४३५ (भाग १, पृष्ठ ४६६)।

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृ रगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥१॥
यावज्ज वं सुखं जीवेदृण कृत्वा घृतं पिबेत् ।
अग्निहोत्र त्रयोवेदा, स्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनं ।२॥
बुद्धि पौरुषहोनानां जोविकेति बृहस्पतिः ।
अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः ॥३॥
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्यव स्थितिः ।
न स्वर्गों नापवर्गो वा, नेवान्यः पारलोकिकः ॥४॥
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायकाः ।
अग्निहोत्रं त्रयोवेदा, स्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनं ॥५॥
बुद्धि पौरुषहीनानां, जीविका धातृ निर्मिता ।

तुमने कल्पना करके लिखा हे जैनी लोक किसी जीव कुं पीडा देनी हिंसा मानते हैं, और ये आपने लिखा हे कि जब प्रलय होता हे तो पुद्गल जूदा जूदा हो जाते हैं, जब वे मिलते हैं तब पृथ्वी आदि स्थूल भूत बन जाते हैं, और पद्म शिला पर बेठके चराचरकुं देखनां और जैनो ऐसा बी कहना हे जो तलाव बनाने में उसमें भैंसा बैठेगा उपर मेघा बेठेगा उसको कौवा ले जायगा मार भी डालेगा उसका पाप तलाव बनाने वाले को होयगा, और जो जैन मत में जो न होय ओ वा श्रेष्ठ भी होय तो भी उसकी सेवा अर्थात् पानी तक भी नही देते और ढुंढीये लोकों का साधु जब आता है तब जैनी लोक उसकी दाढी मूछ और शिर के सब बाल मब्लोच लेते हैं, जो उस बखत वो शरीर कंपावे अथवा नेत्रों से जल गिरावे तब सब कहते हैं के यह साधु नहीं भया, क्यौं के इस्कुं शरीर में तोद हे, यह बिचार करना चाहिये के अैसी अैसी पीडा और साधुन को दुख देनां और उनके हृदय में दया का लेस भी नहीं पाना यह उनकी बात अति मिथ्या हे ऐसा आपने कौन से ग्रन्थ में लिखा देखा हे ?

आपको तो हम बड़ा पंडित सुनते थे अब इसका सर्वत्र समाचार लिखना और ए चिट्ठी नोटिस के "तौर" (माफक) दी जाती है इस का जुबाब नाम ठाकोर दास भावडा गुजरांवालेकुं जैन मंदिर में भेजना संवत् १९३७ आषाढ सुद ५ [1]पंजाबी दसकत खुशी राम

—:o:—

१. १२ जुलाई १८८० ।

[पूर्ण संख्या १८३] पत्र

पंडित दयानन्दसरस्वती साहब[1]

बाद सलाम नियाज के खुलासा यह है कि आप की कोशिश और जा फिशानी ने हर एक जगह हलचल मचा रक्खी है। शुक्र उस रहीम वा करीम की दरगाह में कि कुछ तो तासीर आपके दिल में पैदा हुई कि खुदा ताला की रजामन्दी हासिल हो। मुझ को तो बड़ी खुशी पैदा हुई कि करोड़ों इन्सान जो लापरवाही की नींद में पड़े सो रहे हैं और जिन को मुतलक खयाल इस बात का नहीं कि हम क्या करते हैं उनमें से आपने तो भला कमर हिम्मत बांधी है कि जहां तक मुमकिन हो सके राह हक की तलाश हो। अब मालूम हुआ है कि न सिर्फ आपने बल्कि बहुतों ने आपकी कोशिश से कुछ-कुछ अपना इरादा ऐसा ही जाहिर किया है। खुदावन्द करीम आपकी मदद करें कि आपको अपनी जमाअत में रक्खें। और इस इरादे के पूरा करने की ताकत बख्शे। हां मैं यकीन करता हूं जो कोई सचाई से उसकी यानी खुदाताला की ढूंढ ढांढ करेगा वह बेशक उसे पायेगा। पर यात यह है कि कोशिश करने में सुस्ती न करे। अब मेरी यह इल्तिमास है कि आप की ढूंढ ढांढ वाजिबी या मतलब बराये की है अगर वाजिबी है तो उसकी तलाश सिर्फ खुदा के कलाम से करना मुनासिब है न कि इन्सान की कहावतों और बनावटों और ढकोसलों से। हाँ यह तो आप पर बखूबी रोशन है कि हर एक मजहब वाला इस का इकरार करता है कि जिस किताब को मैं मानता हूं वही खुदा की तरफ से है। यह कहना सिफ अपने मुंह मियां बनना है और वह हो भी नहीं सकता कि सब किताबें खुदा की तफ से हों। सिर्फ एक ही होगी। फर्ज करो अगर वेद सच्चा है तो बिलाशक झूठी होगी। अगर कोई और सच्ची है तो जरूर वेद झूठा होगा सो अब आप यह बतलाएं कि जिस हालत में ऐसा गडबड दरवेश हो रहा है कि सब अपनी-अपनी किताबों को बरहक बतला रहे हैं तो इसका फैसला कोई लायक तजवीज से करना चाहिए था। हर एक खास व आम इस बात से आगाह हों कि जरूर फलां किताब सच्ची है। इसके

---

१. यह पत्र 'फर्रुखाबाद का इतिहास' के पृष्ठ १५२-१५३ पर छपा है। वहीं से हमने लिया है।

निशान बतलाइए कि खुदा के कलाम में इन इन निशानों का होना बहुत वाजिब है और जिस किताब में वह निशान न हों वह हरगिज खुदा की तरफ से नहीं हो सकती।

अब आप को मुनासिब है कि सब से पहिले आप इस भारी काम से फरागत पायें कि खुदा का कलाम कौन से निशानों से आजमाया जावे ताकि सच और झूठ जाहिर हो, बाद इसके आपको इख्तियार है कि चाहो जिस तरीके को पसन्द करो। इस वक्त जो आप बहुत दौड़ धूप कर रहे हैं और मैं जानता हूं कि बहुत मेहनत भी कर रहे हो; कसर मुआफ हो यह बेहतर नहीं है क्योंकि यह मुनासिब था कि अव्वल बुनियाद की पायदानी जांची जाती बाद इसके इमारत की छेड़छाड़ करना वाजिब था, सो आपने बुनियाद की पायदारी का खयाल मुतलक न रक्खा और बड़ी बड़ी इमारते छेड़ बैठे। क्या? यह काम दानाई और अक्लमन्दी का है? हरगिज नहीं। सो अब आप और धर्मसभावाले दोनों मिलकर इस बात का फैसला करें कि वह कौन से निशान हैं जिससे यह बात हो कि फलां किताब खुदा की है और बाकी जिनमें वह निशान न मिलें वह इन्सानी बनावट है। अगर आप लोग इस बात को हल न करेंगे तो तुम दोनों सभावाले हजारों लाखों बल्कि करोड़ों की जानों के हलाक करनेवाले ठहरोगे और उस रहीम व करीम के रूबरू सख्त अजाब पाने के मुस्तहक ठहराये जाओगे—मालूम होता है कि तुम दोनों ने और लोगों के हलाक करने के लिए यह बन्दिश बांधी है। अर्चे बाहमी कुछ थोड़ा-सा इख्तिलाफ उसके समझने में है ताकि अवाम और कोताह अन्देश और जान के दुश्मन बगैर दरियाफ्त किये हां हां करने लगते हैं। जिसको न अपनी मौत का खयाल और न जिन्दगी की कुछ खबर। फर्ज करो कि आपस में तुम दोनों की मतलब बरारी होती है पर इसकी जवाबदिहा बहुत सख्त है इसलिये आप को तकलीफ देता हूं कि आप उसका फैसला करें और जब तक यह फैसला न हो कि कौन सी किताब खुदा की तरफ से है तब तक किसी को हलाकत का फरजन्दह न बनाओ आइन्दा आपको इख्तयार है।

राकिम बाबू हरप्रसाद साकिन फर्रुखाबाद
मुहल्ला नितगंजा मुवर्खे १८ जुलाई सन् १८८० ई०[1]

१. आषाढ़ शुक्ल ११, रविवार सं० १९३७॥ इस तारीख से पूर्व ३०

[पूर्ण संख्या १८४] पत्र-सूचना

[ला० रूपसिंह का १९ जुलाई १८८० का पत्र][1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १८५] मनि-आर्डर

६० रुपये का मनि-आर्डर भेजा है।[2]

रूपसिंह

—:o:—

[पूर्ण संख्या १८६] पत्र

श्री स्वामीजी[3]

यह भी लिखिये कि यह रुपया एक दफा दे दिया है वा वार्षिक देते हैं। सो सब वृत्तान्त स्पष्ट करके लिखिये। जो रसीद गड़बड़ छप जावे, अच्छा नहीं। इसलिये स्पष्ट हो जावे अच्छा है।

बख्तावरसिंह

—:o:—

जून १८८० (आषाढ़ कृष्ण ८ सं० १९३७) को ही ऋषि दयानन्द फर्रुखाबाद से चले गये थे। उनके जाने के पश्चात् बाबू हरप्रसाद (ईसाई) ने यह पत्र स्वामी जी के नाम लिखा था। इसका उत्तर आर्यसमाज फर्रुखाबाद के मन्त्री कालीचरण ने १९ जुलाई सन् १८८० को दिया था। यह उत्तर 'फर्रुखाबाद का इतिहास' में पृष्ठ १५४-१५५ पर छपा है। वहां सन् १८८१ भूल से छपा है (हमने उसे ठीक करके छापा है)।

१. यह पत्र वा तारीख की सूचना ऋ० द० के आषाढ सुदी १५ सं० १९३७ (२१ जुलाई १८८०) के पूर्ण संख्या ४२४ (भाग १, पृष्ठ ४५६) में विद्यमान है।

२. इस मनि-आर्डर की सूचना भी ऋ० द० के पूर्वोक्त पूर्ण संख्या ४२४ (भाग १, पृष्ठ ४५६) में मिलती है।

३. ऋ० द० ने श्रावण बदी १ सं० १९३७ (२२ जुलाई १८८० को एक पत्र मुंशी बख्तावर सिंह को भेजा था (द्र० पत्र और विज्ञापन, पूर्ण संख्या ४२९ पृष्ठ ४६०)। उसके सम्बन्ध में वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर मुंशी बख्तावर सिंह ने उसी पत्र की पीठ पर उक्त पंक्तियां लिख कर भेजी थीं (द्र० पृष्ठ ४६२, पं० १४ तथा ४६३, पं० १-३)।

[पूर्ण संख्या १८७] सूचना-पत्र

अलमोड़ा से वेदभाष्य के ग्राहक की पुस्तकें भेजने के सम्बन्ध में।[1]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १८८] पत्र-सूचना

[गुजरांवाले का पत्र][2]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १८९] पारसल-सूचना

[मुंशी बख्तावर सिंह द्वारा भेजा गया][3]

—:०:—

[पूर्ण संख्या १९०] पत्र-सारांश

वेद का पन्द्रहवां और सोलहवां अङ्क इकट्ठा निकालेंगे।[4]

बख्तावरसिंह

—:०:—

---

१. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के पूर्ण संख्या ४३२ (पृष्ठ ४६४) के श्रावण वदी २ (यहां ३ चाहिये) सं० १८३७ (२४ जुलाई १८८०) के पत्र से मिलती है।

२. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के पूर्वोक्त पूर्ण संख्या ४३२ (भाग १, पृष्ठ ४६४, पं० १४) में मिलती है। यह पत्र किसका था, अज्ञात है। यदि यह पत्र ठाकरदास का है तो इसी भाग में पूर्ण संख्या १८२, पृष्ठ १९६ पर १२ जुलाई १८८० का पत्र देखें।

३. इसकी सूचना ऋ० द० के श्रावण बदि ६ मङ्गलवार १९३७ (२७ जुलाई १८८०) पूर्ण संख्या ४३७ (भाग १, पृष्ठ ४७३, पं० २६) के पत्र से मिलती है।

४. यह सारांश ऋ० द० के पूर्व पत्र पूर्ण संख्या ४३७ (भाग १ पृष्ठ ४७४, पं० १) में निर्दिष्ट है।

[पूर्ण संख्या १९१] पत्र

Gujranwala,[1]
31st July 1880.

Dear Sir,

I received your letter of the 27th[2] instant in due time.

As to the remarriage of widows there is an Act of Governor General (Act XV of 1856) already in force, which I believe is all that we want. It is called "an act to remove all legal obstacles to the marriage of Hindu Widows."

Section I of the Act is as follows :—

"No marriage contracted between Hindus shall be invalid, and the issue of no such marriage shall be illigitimate, by reason of the woman having been previously married or betrothed to another person who was dead at the time of such marriage, any custom and any interpretation of Hindu Law to the contrary notwithstanding."

I was very sorry to read about Munshi Indra Mani's case. If the order was passed by the Magistrate after holding judicial proceedings a regular appeal against his order should be preferred.

But if the order was passed by the Magistrate in his executive capacity a Memorial should be sent up to the Local Government. And in case the order has been passed by the Magistrate with the previous sanction of the Local Government or by the

---

१. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) पौष १९६५ वि० में छपा था। २. मूलराज ने ऋ० द० के जिस पत्र की ओर संकेत किया है, वह पत्र-विज्ञापन, पूर्ण संख्या ४३६ (भाग १, पृष्ठ ४७८) पर छपा है।

Lieutenent-Governor himself, a Memorial should be sent up to Lord Ripon.

In the Memorial should be forth the following facts:—That these books are merely reprints of former publication; that these books are in reply to attacks against the Hindu religion. An account of the history of each publication should be given, i.e. it must be shown what gave rise to the writing of each individual book. A list of similar books published by Christians against Mohamadanism in India, with the names of authors, etc., should be given, and also another list of books published by the Mohamadans and Christians against Hinduism should be given and it should be Pointed out that the authors of such books have never been punished before. It should be pointed out that these books have been written to protect the Hindu religion from the attacks of opponents, and for the object of investigating and spreading truth. It should be remarked that it is not consistent with the justice and spirit of toleration of the British Government to Punish one writer and protect and encourage others. It would be very hard indeed if the writers against the Hindu Religion could say what they like, and the Hindus could not raise their voice to protect their own religion.

A Paper setting forth the above or copies of the Memorial should be circulated to all the Indian and English papers here and in England. The Theosophists also should be written to. As now a Theosophist is in the Parliament he should be asked through Col. Olcott to agitate the question in Parliament.

Lala Dwarka Das, B. A., member of the Lahore Arya Samaj, is at Jagadri now-a-days. He might be asked to help in drafting the Memorial and papers and getting them printed. I hope I will be soon informed what steps have been taken in the matter.

I have to go up for the Extra Assistant Commissioner's Examination shortly, otherwise I might have also done what I could in the matter. But now I have no time whatever.

I am desirous to know more about the German Gentleman and his proposals.

Hoping you are well.

Your obediently
MULRAJ

भावार्थ

गुजरांवाला
३१ जुलाई, १८८०

प्रिय महाशय,

आपका २७ जुलाई का पत्र मुझे समय पर मिल गया। विधवाओं के पुनर्विवाह के बारे में गवर्नर जनरल का एक कानून (एक्ट-१५-१८५६ ई०) पहले से ही प्रचलित है। मेरे विचार से हम भी इसी कानून की धाराओं से सहमत हैं। इस अधिनियम का शीर्षक है—"हिन्दू विधवाओं के विवाह के मार्ग में आने वाली सारी कानूनी बाधाओं को दूर करने वाला अधिनियम।"

इस कानून की प्रथम धारा इस प्रकार है—

"हिन्दुओं के बीच हुए किसी ऐसे विवाह को गैरकानूनी नहीं माना जाएगा और ऐसे विवाह से हुई किसी सन्तान को भी अवैध नहीं माना जायगा जिसमें कि स्त्री इस विवाह से पूर्व भी विवाही गई हो या उसका किसी अन्य ऐसे व्यक्ति से सम्बन्ध निश्चित हुआ हो जो इस विवाह के समय तक मर चुका हो, चाहे हिन्दू-विधि के किसी रिवाज या उसकी व्याख्या से इसका विरोध भी क्यों न होता हो।"

मुन्शी इन्द्रमणि के मुकद्दमें के बारे में पढ़ कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यदि मजिस्ट्रेट ने सारी न्यायिक कार्यवाही करने के पश्चात् यह आदेश दिया है तब तो उस आदेश के खिलाफ नियमित अपील की जानी चाहिए। किन्तु यदि मजिस्ट्रेट ने अपने प्रशासनिक अधिकार से हुक्म निकाला है तब तो स्थानीय सरकार को एक प्रार्थना-पत्र भेजा जाना चाहिए। और यदि मजिस्ट्रेट ने स्थानीय सरकार की पूर्व अनुज्ञा लेकर आदेश दिया, या लेफ्टिनेंट गवर्नर ने इस सम्बन्ध में आदेश दे रक्खा था, तब ऐसा प्रार्थनापत्र लार्डरिपन (वायसराय)को भेजा जाना चाहिए।

इस प्रार्थना पत्र में निम्न तथ्यों को अङ्कित किया जाना आवश्यक है।

१. ये पुस्तकें पूर्व प्रकाशित पुस्तकों के मात्र पुनर्मुद्रण ही हैं।

२. ये पुस्तकें हिन्दू धर्म के खिलाफ किये गए आक्रमणों के उत्तर रूप में लिखी गई हैं।

३. प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक का ऐतिहासिक विवरण देना चाहिए। अर्थात् यह बताया जाना चाहिए कि इन पुस्तकों के लिखे जाने के क्या कारण थे।

४. इस्लाम के विरोध में ईसाइयों द्वारा प्रकाशित ऐसी पुस्तकों की सूची लेखकों के नाम सहित दी जानी चाहिए। साथ ही हिन्दू धर्म के विरोध में ईसाई और मुसलमानों द्वारा लिखी गई पुस्तकों की सूची भी प्रस्तुत की जानी चाहिए तथा यह भी बताया जाना चाहिए कि ऐसी पुस्तकों के लेखकों को कभी दण्डित नहीं किया गया।

५. यह भी बताया जाना चाहिए कि विरोधियों के आक्रमणों से बचाने के लिये ही ये पुस्तकें लिखी गई हैं ताकि सचाई का पता लगाया जाय तथा उसका प्रसार हो।

६. यह भी बताया जाय कि ब्रिटिश सरकार की न्याय तथा सहिष्णुता की नीति के यह अनुकूल नहीं है कि एक लेखक को सजा दी जाये और अन्यों को बचाया जाये तथा उन्हें दूसरों के विरुद्ध लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जाये।

७. वास्तव में यह अत्यन्त निराशाजनक प्रसङ्ग होगा यदि हिन्दू धर्म के खिलाफ लिखने वाले तो जो चाहे लिख सकें, किन्तु अपने ही धर्म को बचाने के लिये हिन्दू अपनी आवाज नहीं उठा सकें।

उपर्युक्त बिन्दुओं के उल्लेख सहित प्रार्थना पत्र तैयार किया जाये और भारत तथा इंग्लैण्ड के पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजा जावे। थियोसोफिस्टों को भी इसकी सूचना देनी चाहिए। अब तो ब्रिटिश पार्लियामेंट में एक थियोसोफिस्ट सदस्य भी है, अतः कर्नल आलकाट द्वारा उसे कहलाना चाहिये कि वह इस प्रश्न पर ब्रिटिश संसद में आन्दोलन करे। लाहौर आर्यसमाज के सभासद लाला द्वारकादास बी० ए० आज कल जगाधरी में हैं। उन्हें कहा जाय कि वे उपर्युक्त प्रकार का प्रार्थनापत्र तैयार करें और उसे छपवा दें। मैं आशा रखता हूं कि इस मामले में आगे जो भी कदम उठाये जायेंगे उनकी सूचना मुझे दी जायेगी। मैं शीघ्र ही एक्स्ट्रा एसिस्टेंट कमिश्नर की परीक्षा में बैठने वाला हूं अन्यथा इस काम में जो कुछ मेरे द्वारा शक्य था, वह मैं अवश्य करता। किन्तु अब तो मेरे पास थोड़ा भी समय नहीं है।

जर्मन सज्जन तथा उनके प्रस्तावों के बारे में मैं जानने का इच्छुक हूं। आशा है आप स्वस्थ हैं।

आपका आज्ञाकारी,
मूलराज।

—:०:—

[पूर्ण संख्या १९२] **पत्र**

कलकत्ता
१-८-८०

श्रीमदनवद्योदारसौजन्यगुणप्रवणीकृतसमस्तलोकेषु श्रीदयानन्द-सरस्वती—स्वामिपादप्रान्तेषु।

विहितानेक प्रणतिसमुदाचारोचितसम्मानपुरःसरं निवेदनम् आर्यपाद, यथासमयन्तत्रभवत्प्रेषितमनुग्रहपत्रद्वितयमवाप्य[1] सातिशयितमाह्लादितास्मि।

परमद्यावधितत्प्रत्युत्तरप्रदाने मदीयदुर्भाग्यवशादसमर्थाऽभवम्। कारणमत्र प्रबलतराशिरोवेदना ज्वर्त्तिश्च। इतः श्रीमत्पाददर्शनार्थं सार्धमुहूर्त्तद्वयपरिमितसमये पूर्वरात्रे वाष्पीययानमारुह्य प्रयियासुरस्मि। तदयमुदन्तः श्रीमदाज्ञामनुवर्त्य प्रथमतः एव पत्र द्वारा विज्ञाप्यते।

अथ श्रीमत्पादैरनुयुक्तो मदीय उदन्तः स यथा भारतवर्षस्य दक्षिणपश्चिमस्यां दिशि श्रीमतो मैसूरराज्ञो विषये सह्यपर्वतशिरसि गङ्गामूलनाम्नि स्थाने मदीयं जन्म। अतियाय द्वाविंशतिः समा—वयः सम्प्रति वतमानं त्रयोविंशतितममब्दम्।

अध्ययनस्येयत्ता तु साधारणत एवानुमेया श्रीमद्भिः क च ट त पादिवर्णपर्यन्तैव। नातोऽन्यत् किमपि वक्तुमुत्सहे। न मया काचिद्विदेशीयभाषावगता। निजावासस्तु पूर्वोल्लिखिते मैसूरप्रदेश एव जन्मस्थानात्किञ्चिद्दूरेऽस्ति पर्वतोपत्यकायाम्। अभिजनश्च तत्रैवाल्पीयानवशिष्टः पितरौ लोकान्तरितौ। सम्प्रति प्रमीतःसनाभिर्मत्त षडब्दं ज्यायानासीत्। अभिजने केवलं सापत्नौ भ्रातरौ स्तः। अधुना न कोऽपि मत्सन्निधौ सजातीयो जनः। केवलमेकापरिचारिकाभृत्यश्चैकस्तथैकः कृतकभ्राता चास्ति सह।

श्रीमत्पादकृपया पाथेयन्धनमस्ति दिनचतुष्टयपञ्चकान्तराल एव श्रीमत्पाददर्शनेनात्मजन्मकृतार्थी करिष्यामीति सङ्कल्पितं परमतो देवेच्छा। किमधिकेन श्रीमत्सुपादेषु इति।

नितान्तमनुगृहीता रमा।

॥ भाषार्थः ॥

कलकत्ता
१-८-८०

जिन श्रीमानों ने समस्त लोक को अनवद्य और उदार सुजनता के गुण में झुका दिया है उन श्री दयानन्द सरस्वती स्वामी के पादप्रान्तों में विहित अनेक प्रणाम सम्यक् उदाचार और उचित सम्मान के साथ यह निवेदन है।

आर्यपाद! श्रीमानों के भेजे दो अनुग्रह पत्रों को यथासमय पाकर मैं अत्यन्त आह्लादित हूं परन्तु आज तक उनके उत्तर देने में अपने दुर्भाग्य से असमर्थ रही। इसका कारण शिर की बड़ी पीड़ा और ज्वर था अब श्रीमत्पादों के दर्शनार्थ पूर्वरात्रि के २॥ अढाई मुहूर्त व्यतीत होने पर वाष्पीय यान में चढ़कर चलने की इच्छा है। और श्रीमानों की आज्ञानुसार यह समाचार पहले ही पत्र द्वारा सूचित कर देती हूं।

---

१. रमाबाई ने ऋ० द० के जिस पत्र की ओर संकेत किया है, वह पत्र विज्ञापन के पूर्ण संख्या ४२६ (भाग १, पृष्ठ ४५७) पर छपा है।

अब श्रीमत्पादों ने जो मेरा वृत्त पूछा है वह निम्नलिखित है —

भारतवर्ष के दक्षिण पश्चिम दिशा में श्रीमत् मैसूर राजा के देश में जो सह्य पर्वत है उसकी चोटी पर गङ्गामूल नामक स्थान में मेरा जन्म हुआ। २२ वर्ष आयु व्यतीत हो गई अब तेईसवां वर्त्तमान है ।।

श्रीमान् मेरे अध्ययन की सीमा तो साधारणतः क च ट त प आदि वर्ण पर्य्यन्त ही अनुमान करलें इससे अन्य कुछ भी कहने का उत्साह नहीं होता है. मैंने कोई विदेशीय भाषा नहीं पढ़ी। निज आवास पूर्वलिखित मैसूर देश में ही जन्म स्थान से कुछ दूरी पर पर्वत की उपत्यका में है और वंश भी वहां ही अल्प शेष है। माता पिता लोकान्तर को पधार गये हैं। अब जो भ्राता मरा है वह मुझसे ६ वर्ष बड़ा था। वंश में केवल सौतेले दो भाई हैं। अब कोई भी सजातीय जन मेरे पास नहीं हैं। केवल एक परिचारिका एक भृत्य तथा एक कृतकभ्राता साथ है ।।

श्रीमत्पादों की कृपा से मार्गधन है चार पांच दिन के भीतर ही श्रीमत्-पादों के दर्शन से अपना जन्म कृतार्थ करूंगी यही संकल्प है। आगे दैवेच्छा। श्रीमत्पादों के प्रति अधिक से क्या, इति ।।

निताम्त अनुगृहीता रमा।

—:०:—

[पूर्ण संख्या १९३] पत्र

श्रीमत्सु श्रीदयानन्दसरस्वतीस्वामिपादप्रान्तेषु

सविनय प्रणति निवेदनम्।

आर्यपाद, श्रीमतामुपदेशपत्रमवाप्य[1] मनाक् विस्मितास्मि। सम्पूर्णशिक्षिता एव ब्राह्मणा इति मुहुरुपदिशतामपि भवतामियमद्येदृशी परापरविरुद्धा कथमिव वाक् प्रसरति ? यदि नाम गोमहिषाश्वाश्वतरादिजातीनामिव वर्णानामपि न सम्भवव्यत्ययस्तदा यः कोपि सुशिक्षितो ब्राह्मणस्तद्विपरीतश्च शूद्रश्चाण्डालो वेति वादस्तु केवल-

१. यह पत्र प्राप्त नहीं हुआ। रमाबाई ८ सितम्बर १८८० के २-३ दिन पीछे स्वदेश को गई। सम्भव है उसके पश्चात् उसने यह पत्र लिखा होगा। रमाबाई ने १३ अक्तूबर १८८० को ईसाई मत ग्रहण करके विपिनविहारी बंगाली के साथ विवाह कर लिया। द्र० प० ज्वालादत्त का मार्ग० वदी ५ सं० १९३७ (२१ दिसम्बर १८८०) का पत्र।

मुन्मत्तप्रलपितमेव । यद्यतदीदृक् तद्युँल्लिखितादाग्रहान्निवर्त्तितुमुचितं श्रीमतामभ्रान्तपक्षावलम्बिनां यतो मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम् । अतो विरुद्धाचरणे—

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्म्मण्यन्यत्० इत्यापतति ।

यतोऽधुना भवन्तः केवलं वचसैव सुशिक्षितानां ब्राह्मणत्वमितरेषाञ्च शूद्रत्वं प्रतिपादयन्ति न कर्म्मणा । अह ह किमद्याप्ययं (ब्राह्मणवंशजो ब्राह्मणः शूद्रवंशजः शूद्र इति) वंशानुक्रमिकः कुसंस्कारः श्रीमतां हृदयावकाशे जागर्त्ति ? यर्हि लोकसङ्ग्रहार्थमेतादृगाचरितं भगवतामपि स्यात्तर्हि तदर्थमेव केवलं, मिथ्या, प्ररोचनादिनाऽज्ञानां सन्मार्गप्रवर्त्तनाशयेन पौराणिकीः कथा बहुषु स्मृतिषु च यथामतमनेकानि वचांस्युपन्यसद्भिः प्रत्नैः पुराणस्मृतीतिहासादिप्रवर्त्तकैः किमिव कस्यापराद्धम् ? येन तेऽधुना भवदादीनां विज्ञानामवज्ञाभाजना भवन्ति ।

भवतान्तु मतमेतत् यत् "असत्यात्सत्यं न सम्भवतीति"[1] दृश्यते च प्रत्यक्षमेवंतत्प्रमाणम् । भवद्भिरध्यापितास्मि च "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" इति तत्कथमन्यथा ?

यदि लोकसङ्ग्रहार्थं भवतां भवदनुयायिनाञ्चासति वंशानुक्रमिके वर्णादौ निश्चयप्रवृत्तिस्तदा तत्र सतो ज्ञानतारतम्येन वर्णकल्पनादेर्जातु न सम्भवः ।

अहन्न मूर्खाणां परिभवाद्बिभेमि यत् आशासे शिक्षितमात्रा मान्न दूषयिष्यन्तीति । यत्र भेतव्यमज्ञाग्रहान्धलोकाद्यत्र चापह्नवः सत्यस्य तादृशि लोकसङ्ग्रहे न प्रवृत्तिर्मदीया, किम्बहुना सर्वेषामपि सुशिक्षितानाम् ।

अस्मि श्रीमत्पदाशिषा सर्वतः कुशलिनी । सदैवमेवानुग्रहपत्रप्रेषणादिनानुग्रहीतव्योयमनुगतः श्रीमदनुकम्पाभाजनं जन इति शिवम्[1]

नितान्तमनुगृहीता

रमा

---

१. तिथि का अभाव होने से निश्चित काल का ज्ञान न होने के कारण हमने इसे यहां जोड़ा है।

॥ भावार्थः ॥

श्रीमान् श्री दयानन्द सरस्वती जी के पादप्रान्तों में विनय और प्रणाम के साथ निवेदन ॥

आर्य्यवराः ! श्रीमानों के उपदेश पत्र को पाकर मैं थोड़ी सी विस्मित हूं। "सम्पूर्ण शिक्षित ही ब्राह्मण होते हैं" इसका बार-बार उपदेश करते हुए भी आज आप की ऐसी परस्पर विरुद्ध वाणी किस प्रकार चलती है ? यदि गौ, भैंस, अश्व, खच्चर आदि जातियों की भांति वर्णों का भी व्यत्यय सम्भव नहीं है तो आपका यह वाद "कि जो कोई सुशिक्षित हैं वह ब्राह्मण, इसके विपरीत शूद्र वा चाण्डाल होता है" केवल उन्मत्तप्रलाप ही है। जब यह ऐसा है तो अभ्रान्त पक्ष को अवलम्बन करने वाले श्रीमानों को उचित है कि ऊपर लिखे आग्रह से हट जावें यतः महात्माओं का लक्षण है कि मन में एक, वाणी में एक और कर्म्म में एक हों। इसके विरुद्ध आचरण से "मन में और, वाणी में और, कर्म्म में और" इस वचन का आपतन होता है॥

क्योंकि अब आप केवल वचन से प्रतिपादन करते हैं कर्म्म से नहीं कि "सुशिक्षित ब्राह्मण होते हैं और इतर शूद्र" अहह! आज तक भी(कि ब्राह्मण वंश में उत्पन्न ब्राह्मण और शूद्रवंश में उत्पन्न शूद्र)यह वंशानुक्रमिक कुसंस्कार श्रीमानों के हृदयाकाश में जागरित है॥

जब कि आप का भी लोकसंग्रह(लोकोपकार) के लिये ऐसा आचरण हो तो उसी लिए ही केवल प्राचीन पुराण, स्मृति, इतिहास आदि के प्रवर्तकों ने मिथ्यारोचक वचन आदि से अज्ञों को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने की आशा से पौराणिक कथाओं और बहुत स्मृतियों में यथामत अनेक वचनों को उपन्यास किया तो बताओ किसका अपराध किया जिससे भवदादि विज्ञों के वे अवज्ञा का भाजन हो रहे हैं॥

आपका तो यह मत है कि "असत्य से सत्य पैदा नहीं हो सकता" और यह प्रमाण प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। और आपने मुझे पढ़ाया है कि "कार्य्य के गुण कारण गुणपूर्वक ही होते हैं, अर्थात् जो गुण कारण में होते हैं वही कार्य्य में प्रकट होते हैं" पर यह किस प्रकार अन्यथा हो सकता है यदि लोक संग्रह के लिये आपकी और आपके अनुयायियों की असत् वंशानुक्रमिक वर्ण आदि से निश्चय प्रवृत्ति रही तो ज्ञान के तारतम्य (केवल बराबर उपदेश) से कभी भी सत् वर्ण की स्थापना होने की सम्भावना नहीं॥

मैं मूर्खों के परिभव से नहीं डरती क्योंकि मुझे आशा है कि शिक्षित मात्र मुझ पर दोष नहीं देंगे। जिस लोकसंग्रह में मूर्खों और आग्रह से अन्धे हुए

लोकों से भय किया जावे और सत्य को छिपाया जावे तो उस लोकसंग्रह में मेरी वरन् सब सुशिक्षितों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।।

श्रीमत्पादों के आशीर्वाद से मैं कुशल हूं आशा है श्रीमान् अपने दयापात्र इस अनुचरजन पर सदैव अनुग्रह पत्र भेजने आदि से कृपा किया करेंगे । इति शिवम् ।।

नितान्त अनुगृहीता रमा

--:o:--

[पूर्ण संख्या १९४] पत्र-सूचना

[बख्तावरसिंह के कई पत्र][1]

--:o:--

[पूर्ण संख्या १९५] पत्र

19th Albrecht Street,[2]
Wiesbaden, 7h August 1880.

Dearest Master,

Confirming my last letter of 10th July last, in which I reported to you about the standard of the study of Sanskrit in Germany.

The purpose of the present is to tell you that I have made more enquiries about the way of placing your young countrymen where they can learn the various trades and handicrafts most practically and also theoretically. We are quite anxious to have Aryan students of your school under our care and guidance to teach them all the useful arts and things they can learn here better than in your country or in any other. What such students most of all require to

---

१. इन की सूचना ऋ० द० के श्रावण बदी ३० सं० १९३७ (५ अगस्त १८८०) के पूर्ण संख्या ४४० (भाग १, पृष्ठ ४८२) के पत्र में मिलती है ।

२. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) के श्रावण १९६५ वि० में छपा था ।

be successful in their aim and waste no costly time by occupation with minor and unfruitful things or by want of proper guidance and explanation of all they want to know and learn, are proper guides to lead and advise and teach them to their best ability. Such is what I should like to be to Aryan students, to whom I feel attracted by spiritual relationship in heart and mind and though I should pay all my attention upon their guidance and development and rather engage others to take care of and teach my English pupils, than to leave my young Indian friends into the care and guidance of others. I intend to coach and guide them all wherever they may stay and learn their special trade. Not that I fear they are like our European youths not to be trusted if left, without guidance and supervision. I am convinced beforehand, those that have studied under your guidance are prepared to stand their own against temptations of the world, which few Europeans perhaps would be able to stand equally with uncorrupted heart and mind. But what I to mean to, is that even the best and most virtuous, when sent to a foreign country require a good guide and friend, a native of that country to lead and advise them. In that way only they can prosper in a foreign country and learn what they want to learn.

You must avoid the mistake of your distant neighbours, the Japanese who send young students to London and to Germany and France for studying similar arts and sciences as your students want to acquire in Western Europe now. In London they are left there almost entirely to themselves. They were living in private lodgings, two friends together generally, attended the lectures in the College and studied at their leisure for themselves. But

nobody was there to look after them, and guide them and help them on by explanation, advice etc.

The Japanese counsel may have now and then paid them a visit, but such a chance visit does not help students on who want good guidance for getting on constantly.

I visited my Japanese fellow-students in the lectures of Professor Th. Rogers of Oxford and King's College, in Political Economy and saw that only one of them profited something, of the lectures, the other scarcely anything, for he was lazy and seemed to have no understanding of that subject. Their chief purpose was to study the system of taxation in the English Government and departments. I do not know how far they have got ultimately in that direction, but I fear the Japanese Government will not be much enriched by their knowledge of the English system of taxation which may be most practical for English condition, but not for those of Japan in any way. Besides their knowledge will not have been sufficiently deep in that important matter, as far as I can judge they were both too young and unprepared for such a study which they had never acquired. You see from this example of my experience that even wise Governments that have the good intention and the plan of opening up the resources of their own country by adopting the arts and improvements of foreign civilized nations, can make blunders by sending unripe students over here and leave them to their care and resources, without a proper guide about them that looks after their progress and helps them on.

The Japan Government spent thus above 200 (Pound) a year for the study and maintenance of each student they had sent over to Europe, and still the students are left without proper guidance, dependent upon themselves. They might

have had for that amount a guide such as I want to be to your young countrymen in Germany to look after them to help and guide them. In that way they might all have profited in knowledge and ability, whilst without such leader many may have studied and spent much time and still not learnt sufficient to be useful to the Government and their native country to the degree they ought to be according to the expence and time spent upon their study and development. Now I thought offering you full board and lodging, wash and care and instruction and guidance for each student at above amount which the Japanese Government has paid in average for board and instruction, without any guidance for their students, worth naming so, your students' parents might be disposed to spend the same upon the education and instruction of their sons with us upon a more solid guarantee that they will get on satisfactorily. Supposing however there be such that could not afford paying so much we shall agree to take their sons for less so as to suit them. We will meet your and their wishes liberally in every respect, depend upon it. Anticipating the pleasure of an early reply.

Believe me, Dearest Master, to be
Your devoted servant,
G. WIESE, A. K. C.

P. S.—A lady, Mrs. Knowles of Folkston, England, is with us for a visit, to put her second son, a young artist, into our charge for education and guidance. She is an ardent theosophist and has begged me when I write to you to tell you that she is a great admirer and freind of yours and your writings. She is acquainted with Col. Olcott and Madam Blavatzki. Being on a journey she wrote to us informing us of her return to us "The thought of meeting

any fellow-theosophists (us) in an oasis in the desert to me—Life is so little without the highest things."

Theosophy Produces sympathy and harmony among humanity without regard to nation and religious confession. That is what the present and future generation require most of all.

To
Swami Dayanand Saraswati Pandit.

भाषार्थ

१६, आल्ब्राख्ट स्ट्रीट,
वीसबादेन,
७ अगस्त, १८८०

प्रिय आचार्य,

मैं पहले १० जुलाई के विगत पत्र में आपको यह लिख चुका हूं कि जर्मनी में संस्कृत के अध्ययन का कैसा स्तर है।

मेरे इस पत्र का उद्देश्य आपको यह बताना है कि मैंने आपके देश से आने वाले विद्यार्थियों के यहां रह कर विभिन्न उद्योगों तथा कला कौशल को सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक रूप में सीखने के सभी स्थानों के बारे में पूरा पता कर लिया है। हम इस बात के लिये अत्यन्त उत्सुक हैं कि आपके अनुयायी कुछ आर्य विद्यार्थी, हमारे संरक्षण में आकर रहें ताकि हम उन्हें सभी उपयोगी विद्याओं और कला-कौशल की शिक्षा दे सकें, जो निश्चय ही आपके या अन्य देशों में दी जाने वाली शिक्षा से उत्कृष्ट ही होगी। ऐसे विद्यार्थियों की सबसे बड़ी आवश्यकता यही होती है कि उन्हें योग्य मार्गदर्शन और परामर्श देने वाले मिलें, जो उन्हें अपनी सर्वोच्च योग्यता के साथ पढ़ा और सिखा सकें। ऐसा होने से ही वे अपने लक्ष्य की सिद्धि करेंगे तथा गौण एवं निरर्थक कामों में अपने बहुमूल्य समय को नष्ट होने से बचा सकेंगे। आपके आर्य विद्यार्थियों के प्रति मेरा ऐसा ही व्यवहार होगा, क्योंकि अपने मन और मस्तिष्क में मैं उनके प्रति एक प्रकार का आत्मीय बन्धुभाव अनुभव करने लगा हूं। अतः मैं उनके मार्गदर्शन एवं विकास में ही अपना पूरा ध्यान लगा दूंगा।

यद्यपि मेरे कुछ अंग्रेज विद्यार्थी भी हैं, किन्तु मैं उनका जिम्मा दूसरों को दे दूंगा किन्तु अपने युवा भारतीय विद्यार्थियों को दूसरों के सुपुर्द हरगिज नहीं करूंगा। ये छात्र जहां कहीं भी रहेंगे या जो कुछ कला-कौशल सीखेंगे, मैं उनका मार्गदर्शन करने के लिये तैयार हूं। मुझे इस बात का भय नहीं है कि वे भी यूरोप के अन्य विद्यार्थियों की भांति निरीक्षण और मार्गदर्शन के अभाव में अविश्वसनीय हो जायेंगे। इसके विपरीत मेरा तो पहले से ही विश्वास है कि जिन छात्रों ने आपके निर्देशन में अध्ययन किया है, वे तो संसार के सभी प्रलोभनों के विरोध में खड़े रह सकते हैं, जब कि यूरोप के बहुत कम छात्र ऐसा करने में समर्थ हैं। परन्तु मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूं वह यह है कि चाहे आपके ये छात्र कितने ही अच्छे तथा धार्मिक वृत्तिवाले क्यों न हों, यदि वे किसी विदेशी धरती पर भेजे जाते हैं तो उन्हें उसी देश के एक अच्छे पथप्रदर्शक तथा मित्र की आवश्यकता होती है जो उन्हें उत्तम परामर्श एवं नेतृत्व प्रदान करें। ऐसी स्थिति में ही वे विदेश में रह कर कुछ सीख सकते हैं तथा उन्नति कर सकते हैं।

आप अपने उन दूरवर्ती पड़ोसी, जापान देश वालों द्वारा की गई गलती को न दोहरायें। उन्होंने भी अपने छात्रों को लन्दन, जर्मनी तथा फ्रांस में उन्हीं कलाओं और विज्ञानों को सीखने के लिये भेजा था, जिन्हें आपके विद्यार्थी पश्चिमी यूरोप में जाकर अब सीखना चाहते हैं। लन्दन में वे नितान्त एकाकी छोड़ दिये गये। वे निजी आवासों में रहते थे, प्रायः दो मित्र एक साथ रहते। कालेजों में व्याख्यान सुनते तथा अपनी सुविधा से ही अपनी पढ़ाई करते। किन्तु वहां कोई उनकी देखभाल करने वाला, उनका मार्गदर्शन करने वाला, उनकी सहायता करने वाला नहीं था जो उन्हें समझा सकता या उचित सलाह देता। जापान का राजदूत यदा कदा उनसे मिलता रहा होगा, किन्तु इस प्रकार की आकस्मिक मुलाकात से उन छात्रों को वैसी सहायता नहीं मिलती, जो निरन्तर उचित मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते हैं।

मैं अपने इन जापानी मित्रों से उस समय मिला जब वे आक्सफोर्ड तथा किंग्स कालेज के प्रोफेसर रोगर्स के राजनीति आश्रित पर व्याख्यान सुनने जाते थे। मैंने अनुभव किया कि इनमें से एक

विद्यार्थी को ही इन व्याख्यानों से थोड़ा लाभ मिला है, किन्तु दूसरे को तो शायद ही कुछ मिला हो, क्योंकि वह आलसी होने के साथ-साथ अपने विषय को समझने को थोड़ी भी बुद्धि नहीं रखता था। उनका मुख्य प्रयोजन तो अंग्रेजी सरकार के विभिन्न विभागों में कराधान की व्यवस्था का अध्ययन करना था। मुझे यह तो ज्ञात नहीं है कि वे अपनी प्रयोजन-सिद्धि में कहां तक सफल हुए, किन्तु मैं सोचता हूं कि ब्रिटिश कर-प्रणाली विषयक उपार्जित ज्ञान से जापान सरकार का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ होगा क्योंकि यह प्रणाली इंगलैण्ड की परिस्थितियों के लिये तो नितान्त व्यावहारिक है किन्तु जापान के लिये कदापि अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में उनका ज्ञान भी बहुत गूढ नहीं था। जहां तक मैं जान सका हूं वे दोनों ही ऐसे अध्ययन के लिये अल्पवयस्क थे तथा बिना तैयारी ही आये प्रतीत हुए, तभी तो उन्हें अपने विषय का कुछ भी बोध नहीं हो सका। मेरे अनुभव के इस उदाहरण से आप देखेंगे कि कभी कभी बुद्धिशाली सरकारें, जो अच्छा ध्येय लेकर चलती हैं तथा विदेश के सभ्य राष्ट्रों द्वारा आविष्कृत कलाओं को अपना कर अपने देश के लिये नये साधनों का संग्रहण करना चाहती हैं, इस प्रकार के अपरिपक्व विद्यार्थियों को वहां भेज कर महान् भूल कर बैठती हैं। वे उन छात्रों को अपने हाल पर ही छोड़ देती हैं और उन बातों की चिन्ता नहीं करतीं। उन्हें कोई उपयुक्त निर्देशक भी नहीं देतीं जो उनकी प्रगति का निरीक्षण करें तथा यथासमय सहायता करें।

इस प्रकार जापान सरकार ने यूरोप भेजे गये प्रत्येक विद्यार्थी के अध्ययन और निवास पर लगभग २०० पौण्ड से भी अधिक का वार्षिक व्यय किया, तथापि ये छात्र बिना कोई मार्गदर्शन प्राप्त किये अपने ऊपर ही रह गये। उन्हें उसी प्रकार का पथदर्शक मिलना चाहिये था जैसा मैं आपके युवा देशवासियों के लिये, उनके जर्मनी में आने पर होना चाहता हूं, जो उनकी देखभाल कर सके तथा उन्हें समुचित दिशा-निर्देश भी दे सके। यदि छात्रों को इस प्रकार का मार्गदर्शन मिले, तो वे अपने ज्ञान और योग्यता का पूरा लाभ उठा सकते हैं। किन्तु ऐसे किसी नेता के अभाव में, चाहे अनेक लोगों ने अध्ययन में पर्याप्त समय भी लगाया हो, तथापि वे अपनी सरकार

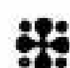
तथा देश के लिये उस अनुपात में उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते, जितना धन और समय उनके प्रशिक्षण के लिये व्यय किया गया है। अब मैं आपके समक्ष आपके द्वारा भेजे गये विद्यार्थियों के भोजन और आवास, वस्त्रों की धुलाई आदि के खर्चे, शिक्षा और देखभाल के व्यय का अनुमान पेश करता हूं। यह लगभग इतना ही होगा जितना जापान की सरकार ने अपने छात्रों के भोजन और शिक्षण के लिये दिया था। जब कि उन छात्रों को कोई मार्गदर्शन नहीं मिला। अत: आपके विद्यार्थियों के माता-पिताओं को तो उतना ही व्यय करना पड़ेगा और उसके बदले वे अपने बच्चों को हमारी देखरेख में छोड़ सकेंगे जो सर्वाधिक सन्तोषप्रद होगा। यदि उनमें से कुछ अपने पुत्रों के लिए उतना व्यय देने की स्थिति में नहीं भी होंगे तो हम उनसे कुछ कम भी लेने के लिये तैयार हैं, जो उनके अनुकूल ही होगा। हम आपकी तथा उनकी आकांक्षाओं को समग्र रूप से पूरा करने के लिये तैयार हैं। कृपया उत्तर देकर कृतार्थ करें।

विश्वास करें मेरे प्रिय आचार्य,
मैं आपका भक्तिप्रवण सेवक हूं।
जी० वाइज, ए० के० सी०

पुनश्च—इंगलैण्ड के फोल्क्स्टन नामक स्थान की एक महिला श्रीमती नीलेस यहां भ्रमण के लिए आई हैं। वे अपने द्वितीय पुत्र को, जो एक युवा कलाकार है, हमारे निरीक्षण में शिक्षा हेतु रखना चाहती हैं। यह महिला एक श्रद्धावान् थियोसोफिस्ट है तथा जब मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूं उसने आपको यह सूचित करने का अनुरोध किया है कि वह आपकी तथा आपके ग्रन्थों की अत्यन्त प्रशंसक है। वह कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की को भी जानती है। यात्रा करते हुए उसने हमें लिखा था—"किसी समान विचार वाले थियोसोफिस्ट से अचानक भेंट हो जाना वैसा ही है, जैसा मरुस्थल में हरित उद्यान को देख लेना। महान् आदर्शों के अभाव में जीवन सर्वथा तुच्छ ही है।" राष्ट्र और धर्म के आग्रह की चिन्ता किये बिना थियोसोफी मानवता के बीच सहानुभूति और सामञ्जस्य पैदा करती है। वर्तमान और भावी पीढ़ी के लिये इस समय यही सर्वाधिक काम्य है।

सेवा में—

स्वामी दयानन्द सरस्वती, पण्डित।



[पूर्ण संख्या १९६] पत्र

स्वामी दयानन्द सरस्वती योग्य नमस्ते[1]

वाह रे वाह उत्तर लिखाने वाले इस उत्तर के लिखाने से तुमारी बड़ी विद्वत्ता जाहेर हुई है, तुमन जो लिखा हे के हम ऐसे हें हम ऐसे हें, हा तुम ऐसे अभिमान के पुंज हो विद्वानों की ये ही रीति होयगी जो कोई उत्तर मांगे उसकुं उत्तर तो यथार्थ नहीं लिखनां किन्तु ? उत्तर के बदले उसकी निंदा और अपनी बडाई लिख देनी वाह क्या ही निर्मल बुद्धि का प्रभाव है ? परन्तु ऐसे उत्तर लिखने से हमारे पत्र का उत्तर नहीं लिखा किन्तु व्यर्थ ही तुमने इतना कागद काला किया है, परन्तु तुमारे लिखने से हमको ऐसा मालूम होता हे जो स्वामी जी ने किसी जैनी के केहण सुन सत्यार्थ प्रकाश में लिख दिया होगा परन्तु जैनमत के शास्त्र, स्वामी जी कदी ही नहीं देखे होगे जेकर देखे तो इत्यादिक श्लोक जैनों ने बना रक्खे हे ऐसा कदापि न लिखते, क्योंकि जैन मत की दो शाखा हें, एक श्वेतांबर अरु एक दिगांबर इन दोनु में से कौन सा जैनी स्वामी जी के कान में सुना गया था, जे यह श्लोक जैनी के बनाये हुए हैं, अब स्वामिजी कुं उचित है जो इन श्लोकों का ठिकाना लिखे, अथवा जिसने उनके कान में सुनाया हे उस जैनी का नाम लिखे, अथवा स्वामी जी की समझ में उक्त दोनुं शाखाऊं के सिवाय और कोइ जेनमत हे उसका ए श्लोक हे, तो उसका नाम लिखें अभिमान की बातां लिखने से विद्वान् नहीं होता उत्तर नहीं लिखे, और उत्तर की जगा अभिमान की बातां लिखे तो योग्य नहीं। श्रावण शुदी १ संवत् १९३७[2]।

पंजाबी ला० जैनीयुं का दासानुदास ठाकरदास।

—:o:—

[पूर्ण संख्या १९७] पत्र

श्री जिनाय नमः

दयानन्द सरस्वती योग्य नमस्ते महाशया.[3]

---

१. यह पत्र 'दयानन्द सरस्वती मुख चपेटिका' के पृष्ठ ७-८ पर तथा पं० लेखरामकृत जीवनचरित हिन्दी सं० ७०६ पर छपा है।

२. ७ अगस्त १८८०।

३. यह पत्र 'दयानन्द सरस्वती मुखचपेटिका' के पृ० ८-१० पर छपा है।

मेनें आषाढ सुदी पञ्चमी का जो पत्र[1] आप के नाम भेजा था उस का उत्तर[2] जो आपने आनन्दीलाल मन्त्री आर्यसमाज मेरट की मार्फत श्रावण वदी पञ्चमी को भिजवाया वो गुजरां वाले की आर्यसमाज द्वारा श्रावण वदी १४ को मुजे मिला आपके उक्त उत्तर से मेरे मनकुं किंचित भी संतोष नहीं हुआ, और अपना सन्देह मिटाने के अर्थ पुनः एक पत्र आपके पास भेजना चाहा, परन्तु अपने पत्र में आपने जो यह लिख दिया था कि आर्यसमाज गुजरांवाले की मारफत आगे सें पत्र भेजा करो, इस वास्ते मैंने श्रावण सुदी एकम कों अपना उक्त पत्र समाज की मारफत ही भिजवाया, परन्तु क्या ही शोक की बात और संताप का विषय है ? कि आज २३ दिवस हो गये आपने आर्य समाज द्वारा प्रेषित मेरे उक्त पत्र की किंचिदपि सुद्ध नहीं ली, क्या विद्वानों की रीति एहि है ? वा क्या आर्यसमाज की मारफत भेजा हुआ पत्र जान आपने इस विषय कुं तुच्छ समझ लिया है ? जैसा के आर्यसमाजों के और विषयों को आप जानते हैं इस आपके मौनावलंबन से (चुप बेठ रेने से) ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यसमाजों की भेजी हुई किसी वात पर आप अपना ध्यान नहीं देते। और उनको तथा उनकी बातों को ऐसा हि तुच्छ और हीन मानते हैं जैसा कि हम लोक ये ही कारण है कि यह पत्र में आर्यसमाज की हीन मध्यस्थता छोड पुनः सीधा आपके समीप भेजता हुं, इसका उत्तर कृपा कर आप लिखना। उत्तर का भार (बोज) किसी अन्य पुरुष पर न डाल देना, जिसको कि हम से वा तुमसे कुछ सम्बन्ध नहीं। सर्व प्रकार से अनुचित है, क्युं कि जब स्वकपोलकल्पित वृथा वितंडावाद से पूर्ण पुस्तक सत्यार्थप्रकाश आपने छपाया और हम उसमें लिखत बातों का प्रमाण आपसे पूछते है तो फिर तीसरी मनुष्य उठकर उस का उत्तर दे तो कैसी मूर्खता और अज्ञता है ? इसी से आपको उचित है कि पत्र अपने हाथ से आप लिखें वा आपनी जुबानी और अपने हस्ताक्षर सहित लिखाय। यह नहीं कि आनन्दीलाल सा अख्यात कुल शीलसें उसका उत्तर लिखवाय भेजे उससें हमकों क्या काम ?

---

१. यह पत्र पूर्व पूर्ण संख्या २६ पृष्ठ १४५ पर देखें।

२. यह उत्तर ऋ० द० के 'पत्र और विज्ञापन' में पूर्ण संख्या ४३५ (भाग १, पृष्ठ ४६६) पर देखें।

उसकों हम जानते ही नहीं, और उससे कुछ पुछते ही नहीं, उमसें हमकुं कुछ संबंध नहीं, उसने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा और उसने हमारे मत विषयक कुछ नहीं लिखा, फेर हमकों क्या जाने और उस का वचन क्यों ग्राह्य समजे ? हम यदि कुछ लिखना है, तो आपकुं, कुछ पूछनां हैं, तो आपसें, और नालिस करनी है, तो आप पर, फिर आप एक अन्य जन द्वारा हमारी बातों का उत्तर क्यों लिखवाय भेजते हो क्या ये ही आपकी बुद्धि और ग्यान है ? हम सत्य-सत्य कहते हैं कि जो उत्तर किसी अन्य की मार्फत लिखवाय भिजवायगे वह आपकी जबानी ही समजा जावेगा, इसीसें आप कुछ संशय न मानियें, फिर पीछे अवसर अबी इस बात सें आपकों चिताय देते हैं और इस वास्ते उचित है कि आप अपने हाथ से आगें को पत्र भेजे किसी तिसरे की मध्यस्थता कुछ काम नहीं जो-जो बातें तथा श्लोक जो आपने जैनमत विषयक सत्यार्थप्रकाश में छपायें हैं वह किस पुस्तक वा किस प्रमाण सें लिखे हें, उनका विवरा आलस को त्याग कर और मौनकुं छोड़कर शीघ्र दीजीयें, नोचेत् (नहीं दे सकते तो) हम तोहीन मजहब की दफा मे अर्थात् कलम में आप पर नालीस करने में पूर्णरूप सें दृढ संमत हैं, आज्ञा दीजियें हम तो चाहते ही हैं कि आप घर में मित्रभावपूर्वक हमे आपनी प्रकाशित बातों का प्रमाण दे देवे वा अपनी भूल स्वीकृत कर हमें भी नालीस की तकलीफ से छुड़ा दे परन्तु जदि आप दोनुं बातों में सें एक कुं भी नहीं मानेंगे तो अवश्य हमको अदालत द्वारा आपकों मंनवाना पड़ेगा। गुजरांवाला भाद्रपद वदी १० सोमवार संवत १९३७ पंजाबी। ता० ३० आगष्ट १८८० इ०।

भवदीय उत्तराकारी ठाकोर दास भावडा जंन मंदिर[1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या १९८] पत्र

स्वामी दयानन्द सरस्वती योग्य नमस्ते।[2]

---

१. इस पत्र के उत्तर में ऋ० द० ने जो पत्र लिखवाया उसे 'पत्र और विज्ञापन' के पूर्ण संख्या ४६१ (भाग १, पृष्ठ ५१२) पर देखें।

२. यह पत्र 'दयानन्द सरस्वती मुखचपेटिका' के पृष्ठ १८ पर छपा है।

आपका पत्र मुझे पहुंच्या[1], और मैंने बांच्या, परन्तु जो मैंने पूछ्या था, जो यह श्लोक कौन सें जैनमत के शास्त्र के हैं अथवा कोनसं जैनीसें आपने सुने वा सीखे ? इन दोनों में सें आपनें एक का भी उत्तर नहिं लिखा क्या यह शोक की बात है के जब सत्यार्थप्रकाश में लिखा था तब नहिं विचार्या था, जो इस बात का उत्तर कोई मांगेगा तो क्या उत्तर देऊंगा ? हम आपकों प्रेमपूर्वक लिखते हैं, या तो उक्त प्रश्नों का उत्तर लिखो नहि तो अपनी भूल प्रकट करो हमसें माफी मांगो, और जो तुमने लिखा हे के हमारे पास आओ, चर्चा करो, सो हां जो तुम हमारे प्रश्न का यथाथ उत्तर लिखोगे तो हमको प्रतीति हो जावेगी जो स्वामी जी सत्यवादी हें तो फेर हमकुं जो संशय होवेगा तो आपके पास पूछने को चले आवेंगे, जेकर उत्तर यथार्थ न लिखा, तो फेर असत्यवादी स हमको पूछने की वा चर्चा करने की क्या जरूर हे? आश्विनवदि ६ सोमवार आगस्ट[2] सन १८८० गुजरांवाला

भवदीय उत्तर का देनेवाला ठाकर दास भावडा जैन मन्दिर

—:o:—

[पूर्ण संख्या १९९] पत्र (क)

Wiesbaden, September 30th, 1880.[3]

Dearest Master,

On my return from our excursion to the Oden-

यह पत्र ठाकरदास ने ऋ०द० द्वारा श्रावण बदी ५ सोमवार सं० १९३७ (१६ जुलाई १८८०) को लिखवाये गये पूर्ण सख्या ४२१ (भाग १, पृष्ठ ४५४) के अन्त लेख(पृ. ४६८ पं० २५-२६)के अनुसार आर्यसमाज गुजरांवाला को भेजा था। परन्तु आर्यसमाज गुजरांवाला ने यह पत्र ऋ० द० के पास न भेजकर इसके उत्तर में जो पत्र भेजा, उसे हम इस भाग के परिशिष्ट में दे रहे हैं।

१. यह सकेत ऋ० द० के भाद्र सुदी ८ सं० १९३७ के (१३ सितम्बर १८८०) के पूर्ण संख्या ४६१ (भाग१, पृष्ठ ५१२) के पत्र की ओर है।

२. आश्विन बदी ६ सोमवार को २७ सितम्बर १८८० था।

३. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) भाद्रपद १९६५ वि० में छपा था।

wald mountains, which we had made, accompanied by our English pupils, I found your welcome letter. And now at last I got time to thank you for it. It has delighted me and given me a new impulse to spend my time and power upon the task of helping your young countrymen in the accomplishment of their and your aim and task. I mean the task of benefiting their country by way of increasing their own store of useful knowledge and industrial skill to teach their brothers useful handicrafts, and thus contribute a mighty share to the resources of their native country in the near future. All we can do to help your sons in that way, we shall do conscientiously and with all our power, trusting that God will bless our work and help us in it.

Your sons are welcome to learn material arts and other sciences and handicrafts from us. We are not jealous of your progress, as perhaps the British conqueror is. We Germons have a material sympathy with India, where also the cradle of our ancestors stood. In fact, we Germans are descendants of Aryan blood in direct lineage and have kept much purer and less mixed in our blood and even in our language, that resembles the Aryan still in many ways, than any other people in Europe Professor Freeman of London writes in this respect in his "History of Europe" about the settlement of Aryans in Europe as follows:—

"Such are the lands into which the Western branch of the Aryans began to press long before trustworthy history begins.···············One branch, the smallest of all, was the people of Lithuania and old Prussia. Their tongue is now spoken by very few people, but it has changed less from the oldest Aryan tongue than that of other people in Europe··· ·····Thus various Aryan nations have

spread themselves over all Europe. save only where a few of the older people are still left, or where non-Aryan people have come in, in much later times.

Now of all branches of the Aryan family which have settled in Europe, there have been at different times and in different ways the leaders of all the East. The first were the old Greeks, then the people of Italy, or more truly, the one Italian city of Rome, and lastly the Teutonic nations. Here history truly so called, begins, the history of men as members of a free commonwealth····· since then the Teutonic nations have kept at the head, for though nations speaking other languages have often done great things, yet they have done so chiefly by help of Teutonic laws and rulers (he finishes by adding). Of the great families of mankind those which concern us are the Aryan that Semetic and the other whom we may call non-Aryans. Successive swarms of Aryan nations have gradually settled in Europe destroying the older people or driving them into corners. These Aryan nations had all once been one people in their language, their religion and their laws and manners. Among the nations. three, the Greeks, the Romans and the Teutons, have, one after another, held the chief place.········Lastly, all the Aryan nations of Europe, gradually embraced the Christian religion, though that religion took different forms in different countries."

So far Professor Freeman. As they are historical facts which he records and no fabric of mere brain-fancies as modern Europeon philosophers use to spin and proudly call their "system of philosophy"—system in which there is no spirit nor life and blood—the very scientific dry bones one need not hesitate to stretch out our hands to the Aryans in India and say—"Aryans come along with us

or send your sons to us, for we are sons of your brothers —we are Aryans like you. The difference between us now is—we are "Aryans" now being conquerors on lands once conquered by Aryans—by brothers of your ancestors. Your princes have by strifes, ambition and bad Government forficted their empires and your land been conquered by the British. You are now conquered as it were. It would be better if you were free. It can not remain always the same, true Aryans have always the liberty and fight or die for it as our common ancestors did. Should we despairingly sit down and rest whilst our adversaries are hard at work to tie our hands more tightly still : Ah ! no, not this time, wait a moment. After a short breathing time we are determined to move and fight again.

If any Briton, full-blooded politician, should hear me talk thus, he would start upon his legs and challenge me upon a duell for having spoken treason over England. But the matter is not half as serious and need no blood-shed The Aryans in India may conquer back their liberty and land and wealth, without any blood-shed, if they follow the coarse of wisdom which led their ancestors to some degrees, and which they now can follow with more case than those times, the others could. The best of human conquests, now-a.days, are we made in peace and without blood-shed. One may say they are made by wisdom not by brutal strength and power of arms as was the case in former days. Knowledge alone will never win the race that ultimately leads to triumphant victory. Unless the God-like wisdom take the lead in every thing there is no go, no real progress, in the world. The best of European progress and culture is but sham and mere

imaginative work of most conceited men that think themselves and their poor science sublime like God. What they have taught our youth has brought but miserable fruit. The only solid institution we have in our country is the German Army. It is good, but it is the only insitute that strengthens and keeps healthy the body and the soul of our people. Here idle boys and other lazy individuals that else might do no good in this our world to learn obedience to their superiors which leads to the obedience of the Most High by proper exercise and by short rations —whilst the professors and students shrived up in their old smoky studies by over study. They all think it must get into their heads from the out side world by book work and by cramming of the memory. To study first of all their inside spirit—their own self does never come into their scientific heads. Therefore they walk about like people in a game of blind man's-bluff, not seeing their ownselves, they try to catch others. This is a hasty sketch of what the present state of things in Germany and Europe appears to me when looked on from the dark side of the picture. The rest of Europe, including wealthy England, is worse off still than Germany in these respects. The spritual progress may be considered "null" for the last century in consequence of the conceit of the scientific men that take the lead in every thing concerning the human spirit,and all other universal problems. Men who unlike the wisest man of grace who found out at last that he knew nothing himself about the most important question and openly confessed that he knew nothing about them(professed to know things perfectly–that all that is, is "matter".) Which confession implied evidently that all the other wise men of his own age were ignorant like himself and in a greater degree still. Our savants know in reality no more about those most important of all things and sciences than Soc-

rates and his contemporaries did some thousand years ago, and notwithstanding the evident truth of this fact, our modern scientists and savants boast that they know now almost everything that is worth knowing and explaining by man to reach the heights of modern science and of modern wisdom. One of their maxims is, there is no immortality of human spirit, there is no living God in Heaven or on earth, the secrets of creation the laws that rule the universe and all the rest is known to us alone, our science is the only exact one in h: w ld, dares to call us ignorant or doubt in the infallibility of our wisdom and of our exact natural science. We challenge him, we are sublime no man or God can contradict it.

That is the meaning of many of our natural scientists and millions of would-be-educated people follow them blindly, give their best that ever was given them by their ethereal father, and follow those stupid scientific blockheads who do not know themselves that they passes a spirit soul, that is immortal at the best, and is delivered from the perishable body by death, passing into another world, not seen by mortal eyes, but by the eyes of their own spirit, by those that have by real study got rid of their spiritual blindness. However bad as th s condition of modern European science is, it may be better to leave ba alone and be silent of the faults of our neighbours and first to sweep the dust from our own thresh-hold, in order that our neighbours may take a lesson of us. They have already taken a good lesson from us in the art of warfare which struck them in two ways, they never thought of before, when they had thought that their own armies were invincible and the best of all the armies in the world. So thought the English and French. When they had seen

their great mistake they went to school with us and learned their lessons well. I hope they will not turn out ungrateful pupils to us one day when they feel strong again and beat us in their turn for having taught us so perfectly We will keep our powder dry and forces ready for such events.

P. S.—The continuation will follow soon.

Ever yours,

G. WIESE,

॥ भाषार्थ: ॥

वीसबादेन, ३० सितम्बर,
१८८०

प्रिय आचार्य,

अपने अंग्रेज शिष्यों के साथ ओडेन वाल्ड पर्वतों की सैर से लौटने के पश्चात् मुझे आपका स्वागत योग्य पत्र मिला। अब मुझे इसके लिये आपको धन्यवाद अर्पित करने का समय मिला है। इससे मुझे प्रसन्नता हुई है तथा एक नई प्रेरणा भी मिली है, जिससे कि मैं अपने समय और शक्ति को आपके युवा देशवासियों को प्रशिक्षित करने में लगाऊं ताकि उनका तथा आपका उद्देश्य पूरा हो सके। मेरा अभिप्राय इस उद्देश्य से है जिसके द्वारा वे अपने देश को लाभ पहुंचा सकेंगे और वे ऐसा तब कर पायेंगे जब वे उपयोगी ज्ञान का संग्रह करेंगे तथा अपने साथियों को लाभप्रद कलाकौशल की शिक्षा देंगे। इस प्रकार वे निकट भविष्य में अपने देश के संसाधनों को अपने अंश-दान द्वारा समृद्ध कर सकेंगे। आपके पुत्रों [शिष्यों] की सहायता करने के लिये हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा ईमानदारी के साथ प्रयत्नशील होंगे, इस आशा के साथ कि ईश्वर हमें कार्य में अपना आशीर्वाद देगा तथा हमारी सहायता भी करेगा।

आपके पुत्र [शिष्य] हमारे समीप आकर भौतिक कलायें, विज्ञान तथा हस्तशिल्प सीखने के लिए सादर आमन्त्रित हैं। हम आपकी प्रगति से इस तरह ईर्ष्या नहीं करते जैसे आपके ब्रिटिश विजेता करते हैं। हम जर्मनों की उस भारत के प्रति एक भौतिक सहानुभूति

है जो हमारे पूर्वजों की सभ्यता का पालना था। वस्तुतः हम जर्मन आर्य रक्त से ही उत्पन्न सीधी सन्तान हैं। हमारे रक्त में अन्य जातियों का मिश्रण अत्यन्त अल्प हुआ है, अतः उसमें विशुद्धता है। हमारी भाषा भी अनेक बातों में आर्यभाषा से अधिक समानता रखती है। यूरोप की कोई अन्य भाषा आर्यभाषा के इतनी निकट नहीं है। लन्दन के प्रो० फ्रीमेन ने अपनी पुस्तक 'यूरोप के इतिहास' में यूरोप में आर्यों के उपनिवेश स्थापित करने के विषय में लिखा है—"विश्वसनीय इतिहास के प्रारम्भ होने के बहुत पहले ही आर्यों की पश्चिमी शाखा इन प्रदेशों की ओर बढ़ रही थी। इनमें सबसे छोटी शाखा लिथुआनिया तथा प्राचीन प्रशिया के लोगों की थी। आज इनकी बोली बोलने वालों की संख्या बहुत कम है, किन्तु यूरोप के अन्य समुदायों की भाषा की अपेक्षा आर्यों की प्राचीन भाषा से यह बोली बहुत कम भिन्नता लिये हुए है।.........इस प्रकार सारे यूरोप में आर्यों के विभिन्न समूह आकर बस गये। केवल कुछ ही ऐसे स्थान थे, जहां पुराने यूरोपवासी अभी तक बच रहे थे, अथवा जहां बहुत बाद में आर्यभिन्न लोग आये।

यूरोप में आकर बसने वाले आर्य परिवार की समस्त शाखाओं में समय समय पर वे लोग भी आते रहे जो प्राच्य देशों के नेता थे। इनमें से प्रथम, पुराने यूनानी थे, उसके पश्चात् इटली वाले आये, उन्हें रोमन कहना अधिक उपयुक्त होगा, अन्त में ट्यूटानिक देशों वाले आये। यहां से ही वास्तविक इतिहास का आरम्भ होता है, मानव जाति का इतिहास जो आज स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डल देशों के नागरिक हैं।.........उस दिन से ट्यूटानिक जातियां सर्वोपरि रही हैं, यद्यपि अन्य भाषा बोलने वाले राष्ट्रों ने भी अनेक जौहर दिखाये हैं, किन्तु उनके ये काय भी ट्यूटानिक कानूनों तथा शासनों की सहायता से ही किये गये। मानव जाति के वे बड़े परिवार, जिनसे हमारा साबका रहा है, आर्य और सामी वंश थे, तथा वे अन्य, जिन्हें हम अनार्य कहते हैं। आर्यों का यूरोप में निरन्तर आगमन चलता रहा, वे वहां के पुराने निवासियों को समाप्त करते रहे या कोनों में ढकेलते रहे। ये सभी आर्य जातियां एक समय में एक भाषा बोलने वाली, एक ही धर्म को मानने वाली तथा एक से कानूनों एवं रीति रिवाजों को स्वीकार करने वाली थीं। उनके बाद ग्रीक, रोमन तथा

ट्यूटानिक राष्ट्रों में अपना प्रमुख स्थान बनाया। अन्ततः यूरोप की सभी आर्य जातियों ने ईसाइयत को अङ्गीकार कर लिया, हालांकि ईसाई मत भी विभिन्न देशों में अलग अलग रूप धारण कर चुका था।

यहां तक हमने प्रो० फ्रीमेन को उद्धृत किया है। उसने इन सारे ऐतिहासिक तथ्यों को ही निबद्ध किया है। ये आजकल के यूरोप के दार्शनिकों द्वारा बुने गये मानसिक कल्पनालोक के धागे नहीं हैं, जिन्हें ये लोग गर्वपूर्वक "दार्शनिक प्रणाली" कहते हैं। इन प्रणालियों में न तो आत्मा है और न प्राण एवं रक्त। ये तो केवल आधुनिक विज्ञान की शुष्क हड्डियाँ ही हैं अतः हमें भारतवासी आर्यों के प्रति अपनी भुजाओं को फैला कर यह कहने में संकोच नहीं करना चाहिये —"आर्य गण, आप हमारे निकट आये अथवा अपने पुत्रों को हमारे पास भेजें, क्योंकि हम भी आपके भाई आर्यों की ही सन्तान हैं, हम आपकी ही तरह आर्य हैं। हमारे बीच का अन्तर केवल इतना ही है कि हम उन स्थलों के विजेता हैं जो आपके पूर्वज आर्यों के बन्धुओं द्वारा बहुत पहले जीत लिये गये थे। आपके सम्राटों का साम्राज्य परस्पर के संघर्ष, महत्त्वाकांक्षा तथा दुष्ट शासन के कारण अन्यों द्वारा छीन लिया गया और अंग्रेजों ने आपकी धरती को जीत लिया। अब आप पराजित हुए। यदि आप स्वतन्त्र हो जाते तो बहुत अच्छा था। यह पराधीनता का युग सदा नहीं रहता है। सच्चे आर्य स्वतन्त्रता के लिये सतत युद्ध करते रहे हैं तथा आजादी के लिये उन्होंने मृत्यु का भी वरण किया है, जैसा कि हमारे सांझे पूर्वजों ने पुराकाल में किया था। क्या हमें निराश होकर बैठ जाना चाहिये और विश्राम करना चाहिये, जबकि हमारे शत्रु हमारे हाथों को और मजबूती से बांध देना चाहते हैं। ओह, ऐसा नहीं, इस समय तो नहीं, कृपया क्षण भर के लिये ठहरें। क्षणिक सांस लेकर हम पुनः आगे बढ़ने और संघर्ष करने के लिये दृढप्रतिज्ञ हैं।"

यदि ब्रिटेन का कोई जोशीला राजनीतिज्ञ मेरी इन बातों को सुनेगा तो वह उछल कर मुझे द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारेगा। उसके विचार में मैं इंगलैण्ड के विरुद्ध विद्रोह की बात कर रहा हूं। किन्तु यह बात इतनी गम्भीर नहीं है कि खून बहाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाये। यदि भारतवासी आर्य अपने पूर्वजो की ही भाँति बुद्धि

युक्त आचरण करें तो अपनी आजादी, भूमि तथा समृद्धि को बिना खून बहाये, पुनः प्राप्त कर सकते हैं। उनके लिये ऐसा करना पूर्वापेक्षा अधिक सहज है। आज कल जो विजय प्राप्त की जाती है वह रक्त विहीन तथा शान्ति के वातावरण से युक्त होती है। यह कहा जा सकता है कि आजकल की सांस्कृतिक विजय बुद्धि बल से प्राप्त की जाती है, प्राचीन काल की भांति वह पाशविक शक्ति या अस्त्र बल से प्राप्त नहीं होती। मात्र ज्ञानोपलब्धि से ही उस प्रतियोगिता को नहीं जीता जा सकता, जो विजय के लक्ष्य तक ले जाती हैं। जब तक ईश्वरीय बुद्धि को नेतृत्व नहीं मिलता, तब तक संसार में वास्तविक प्रगति नहीं आ सकती। यूरोप की आज की प्रगति तथा संस्कृति मात्र पाखण्ड ही है। यह दर्पयुक्त मानव का कल्पनाविलास है, जो स्वयं तथा अपने विज्ञान को ईश्वर के तुल्य दिव्य तथा श्रेष्ठ मानता है। इसने हमारे युवकों को जो कुछ सिखाया है उससे हानिकर परिणाम ही निकले हैं। हमारे देश में जो एक महत्त्वपूर्ण संस्था है, वह जर्मन सेना ही है। यही एक संस्था है जो हमारे देशवासियों के शरीर और आत्मा को शक्तिशाली तथा स्वस्थ रखती है। आलसी लड़के और अन्य सुस्त लोग जो सामान्यतया ससार के लिये किसी भांति उपयोगी नहीं हो सकते, इस सेना में भर्ती होकर अपने से बड़ों के प्रति आज्ञाकारिता सीखते हैं और सुव्यवस्थित कवायद तथा सूक्ष्म भोजन के फलस्वरूप सर्वोच्च सत्ता (परमात्मा) के आज्ञानुवर्ती होने की शिक्षा लेते हैं। इसके विपरीत अध्ययन में सीमातीत रूप में लीन प्रोफेसर तथा उनके शिष्य अपने पुराने धुंये भरे अध्ययन कक्षों में कुम्हलाये हुए पड़े रहते हैं। वे सोचते हैं कि बाह्य संसार का सारा ज्ञान केवल पुस्तकों के पढने और रटने से ही उनके दिमागों में आ जायेगा। उनके विज्ञान भरे मस्तिष्क में यह बात कभी नहीं आई कि सर्वप्रथम तो उन्हें अपनी अन्तरात्मा, स्वयं का ही अध्ययन करना और ज्ञान प्राप्त करना है। अतः वे अन्धों द्वारा खेले जाने वाले खेल की भांति स्वयं को न देखते हुए, एक दूसरे को पकड़ने की चेष्टा करते हैं। जर्मनी तथा यूरोप की जो आज स्थिति है, उसका शीघ्रता में अङ्कित चित्र मैंने पेश किया है, निश्चय ही यह इस चित्र का कृष्ण पक्ष ही है। कुछ बातों में तो धनी इंगलैण्ड सहित अवशिष्ट यूरोप की स्थिति जर्मनी से भी अधिक गई गुजरी है। विज्ञान से प्रभावित इन्सान की धोखेबाजी के कारण गत शताब्दी से ही मनुष्य

की आध्यात्मिक प्राप्ति शून्य होकर रह गई है। आज विज्ञान से प्रभावित मनुष्य ने मानवीय आत्मा तथा अन्य विश्वव्यापी समस्याओं के क्षेत्र में अपना निर्बाध प्रभुत्व स्थापित कर लिया है।

हमारे युग के विद्वान् उन महत्त्वपूर्ण विधाओं और विज्ञानों के बारे में उतना ज्ञान नहीं रखते जो सुकरात तथा उसके समकालीनों को कुछ हजार वर्ष पहले प्राप्त था। इस तथ्य के बावजूद हमारे आधुनिक वैज्ञानिक और विद्वान् गर्वपूर्वक कहते हैं कि वे आज वह सब कुछ जानते हैं जो उनके लिये जानने योग्य है, वह उसकी व्याख्या कर सकते हैं, जो आधुनिक विज्ञान और नूतन बुद्धि के द्वारा प्राप्त है। उनकी एक सूक्ति तो यही है कि मानवी आत्मा को अमर नहीं कहा जा सकता, धरती या स्वर्ग में निवास करने वाला कोई ईश्वर भी नहीं है, सृष्टि का रहस्य, विश्व को नियन्त्रित करने वाले नियम और अन्य सब कुछ को हम अकेले ही जानते हैं। संसार में केवल हमारा विज्ञान ही पूर्ण तथा सत्य है। किसकी हिम्मत है जो हमें अज्ञानी कहे, हमारी बुद्धि की परिपूर्णता में शङ्का करे, तथा हमारे भौतिक विज्ञानों की सच्चाई पर अंगुली उठाए। वे हमें चुनौती देते हैं, अपनी श्रेष्ठता का आख्यान करते हैं तथा दावा रखते हैं कि कोई मनुष्य या ईश्वर उनका प्रतिकार नहीं कर सकता।

हमारे अनेक भौतिक विद्याविद् वैज्ञानिकों का यही दृष्टिकोण है, और लाखों भावी शिक्षित लोग भी उन्हीं का अन्धानुकरण करेंगे। वे परमात्मा-प्रदत्त उत्तम शिक्षा को त्याग देते हैं और उन मूर्ख वैज्ञानिकों का अनुकरण करते हैं जो यह नहीं जानते कि उन में भी एक अमर आत्मा का निवास है, जो अनीश्वर है, जो शरीर के नष्ट होने पर उससे पृथक् होकर किसी अन्य लोक को चली जाती है, उसे स्थूल नेत्रों से नहीं देखा जा सकता, किन्तु आत्म-चक्षुओं से ही उसका दर्शन, वे लोग करते हैं जिन्होंने अध्ययन के द्वारा अपनी आत्मिक अन्धता को दूर कर लिया है। यूरोप का यह आधुनिक विज्ञान चाहे कितना ही बुरा क्यों न हो, इस बुरे को अकेला छोड़ना ही अच्छा है। हमें तो अपने दरवाजे पर एकत्रित धूल को हटाना है ताकि हमारे पड़ोसी भी उससे कुछ सीख ले सकें। युद्ध कला में उन्होंने हमसे अच्छा पाठ सीखा है। उन पर इसका द्विविध प्रभाव पड़ा। वे अब तक यह धारणा बनाये बैठे थे कि उनकी सेनायें सर्वथा

अजेय हैं तथा संसार की समस्त सेनाओं से श्रेष्ठ हैं। अंग्रेज और फ्रांसीसी भी ऐसा ही सोचते थे। जब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई तो वे हमारे साथ सैनिक विद्यालय में आये तथा युद्ध कला के पाठों को विधिवत् सीखा। हमें आशा है कि जब वे एक दिन पुन: मजबूत हो जायेंगे तो हमारे प्रति अकृतज्ञ शिष्य की तरह व्यवहार करेंगे, चाहे अपना अवसर आने पर वे हमें पराजित ही क्यों न कर दें, जबकि हमने ही उन्हें युद्ध विद्या में पूर्ण प्रशिक्षित किया है। ऐसी घटनाओं का सामना करने के लिये हम अपनी सेनाओं और गोला बारूद को पूर्णतया सन्नद्ध रखेंगे।

पुनश्च—इस पत्र का अवशिष्ट अंश शीघ्र ही आपको भेजूंगा।

सदा आपका,

जी० वाइज।

—:o:—

[पूर्ण संख्या २००]   पत्र (ख)

(Continuation of previous letter)

Most honoured Master,

I am no advocate of war and never was. However, I perceive clearly the invigorating influence a powerful army has upon a nation that has ever to be on its defence and watch against surrounding enemies. It is the danger that keeps strong men awake and get accustomed to sleep in arms, as it were. We are an armed nation. Every man is a soldier, when war sets in, the one who tills the ground as well as he who leads the State and all the men between low and high. That is a system of national defence. I never heard of any more formidable one in human history, nor have ever there been more wonderful results than of this grand German machine of war, as was the war with France. In industrial arts we also keep our own, but

have great competitors in England and France. We buy from both more than they buy from us. However, we do not grudge them for the profit they have from us. We can get on quite well alone and keep them all in cheque, if they should not behave as neighbours ought to do. I think myself there is more satisfaction in power than in material wealth—without it. We do not envy our richer neighbours, we rather pity them. In many ways they are far behind us and cannot follow as much as they would. This sounds like pride on the side of my native country. Well, thanks to God. I am still proud of it in many ways. In other ways, I am not, the fact is I am not blind against the faults and weaknesses of my own friends, and I freely blame what I can not stand and think a nuisance in any State, including our own fatherland. My countrymen have many things to mend yet. We are no enemies to France or England. We esteem both and wish them luck, excepting only in the way of fighting us. God knows, our neighbours we could never trust, they always showed themselves so disagreeably repacious when we were weak and our national power split among a lot of independent princes.

Your nation is now somewhat in a similar position. Your national power is split up by jealousy of former ruling princes The sturdy Briton made use of the condition and robbed the one and fought the other prince with the assistance of him, and so by dint of perseverance and ambition at last got hold of India, subdued the native princes to vassals of Britany, and made their Queen an Empress of your country who never saw that empire yet, she is now ruler of. Things often take most wonderful turns in this changeable world. The wheel of human fate is tur-

ned by providential power—it may turn up and raise again what it threw down in turn to raise another that obeyed its warnings better at the time, look but at Greece and Rome and France, they all have had their ups and downs and now the Teuton of old Aryan blood is on the top. It may be difficult to get him down again. He has had very hard work to get up, if he ever falls, it might be the ruin of Europe. But this consummation we will confidently leave into the hands of the Eternal Providence that rules the world, whilst the men who think and fight, and make ambitious plans, are but the instruments of it.

N. B.—My time is now much occupied with English pupils, therefore, I shall not trespass any more on your kind patience by long letters. In future I will cut it short what I may have to tell you. This time I hope that you will pardon me.

As for myself it is not vanity or ambition that moves me to my work. My purpose and my sole ambition is, before I leave this world, to do some good, for all the good, left undone on my preceding journey through this world. I have no reason to complain with God that He has given me no chance of finding His truth, or do His will above my own. It is not the fault of the providence that I have wasted much of my costly time and power of my life, in indifference about the highest aims of man to strive for. I some times get a hint to wake out of my lethargy and put my girdle on and fight the battle for truth and light with might but I always hesitated and feared my power was short for wielding it against the mighty enemy. And then the natural law of matter and of gravity lay heavily upon my body and pressed the rising spirit down to earth. You have to feed your body, never mind your spirit's starving

by that process. The body is the first it has the strongest right on your activity. No, no, it is not so, a voice I heard whisper within me : the spirit is the first, feed it before body. There I stood young Hercules at the parting rord—not knowing whether to the right or left was best to turn. I stared at both for some short time, and on the left I saw in front a flock of wanderers, like myself trod on as if they were to reach the part or to find their fortune, and on the right I did not see a single one that walked along that path. It seemed to be a quite forsaken one and seemed to lead to foreign unknown countries. So I chose the high road of the multitude that lead me to the modern Babylon —Paris and London—where all the pilgrims of the world do congregate to sound the pulse of the world's present state. I was no doctor yet still I dared to feel the pulse with tender grip and soon found it that it was abnormal and feverish to a degree, I never had expected. In the most high and wealthy society, as well as in the lowest I saw them racing all for gold, for pounds and shillings and pence. The poorer were together with the rich of the United Kingdom that has given to India an Empress for their native kings that did no good themselves I thought, well, this is called a Christian life ? Did Christ not teach mankind to look first of all for gathering imperishable goods, which thiefs could never steel from men, nor moths eat or rust corrode ? Is this wild rade for gold the way you mean to do it, or have you perhaps taken a lesson from your brother across the ocean's waves, where they live to chose the almighty dollor and worship it like God as did the Jews, the Golden Calf at Sinai ? And now-a-day, in harmory with millions of pious Christians they do it quite publicly six days of every week—and on the seventh day sleep. They sleep in honour of the Lord—spiritually—and

they sob and sigh as if they have got not quite enough of earthly matter to satisfy their appetites for more and better. They sit in church and sing and pray to Heaven to give them all they have not got and want. Their chief desire internally is of a quite material nature. They do not pray for wisdom nor for purere light, nor purity of heart and thought and love of man and God. They pray for number one and for their kid and kin and for the Queen, that God may bless them first of all, the other he may do with. as he likes ! The multitude of pious, praying people hardly ever think of doing what their religion tells them is their foremost duty. They all pray with their clergyman say "amen" to the rest, and go home in peace, thinking they have that way fulfilled their duty to the Lord and to their fellow men, who know the best what lords their masters serve six other days of every week—when they are semi-slaves to them, that feed from the work and sweat and blood of their poor fellow men that they have forced into the service of the Golden Calf, they all adore above their God.

The Jews are more antique and clumsy still in their "Jehovah worship." They adore the Golden Calf more fervently than their ancestors some thousand years ago. They have amassed such heaps of gold that they have formed a million of Golden Calfs of it—which they all worship like the one of Sinai and still the Rabby and the Jew of our present day–throughout the world where human beings live and can be gently plundered by commerce and by clever tricks of barter and of trade—go to the Synagoge and pray to God that he may take them back to dear Jerusalem, the place of their ancestors, from which the enemy (The Christian) has driven them. No body hinders them to

go wherever they like, back to Jerusalem, and many nations would thank them and God most heartily in case they left them and started for Jerusalem as people can get an idea of living without them better than with them. They never stir, though they have money enough for travelling not only to Jerusalem but to the end of all the world and ten times round it ! What may God think of such a set of hypocrites that pray from God what they can have each one and all, by his own will and by the power of the Golden Calf which they adore. And such heathen performances are called "religion." May God forgive them;—they certainly connot know what they do,—or they would start to-morrow to Jerusalem, to show the Lord that they at last meant truth and had been lying for centuries, when they could go as well as now, but did not move,—waiting for the opportunity as it seems, of loading themselves before they start with foreign goods as did their ancestors with that of the Egyptians, on the pretence that God commanded them to do it ! An excuse that would not be legal by the European constitution. But there's no saying what usury can do in this material world.

I fear I am too hard upon the Jews, and you may scold me for hitting them so hard with irony. They are our brothers too—as all men on this earth should brethren be. But every body, according to his desert or merit ought to have his share of blame and praise. They do not deal more gently with ourselves, as we with them. We do not cheat a Jew, but they cheat us, whenever they have a chance; and our preference consists of this, that we must love them for it and reach the another purse, if they insist upon it by the law of usury, which our enlightened parliament has made in favour of the Jews, and to the ruin of

the other world,—a sort of recompense of what the Jews have lost in booty when that law was not in power yet.

Such is about the present state of our religious and financial affairs in Western Europe. The Aryans who are now striving for the improvement of their national conditions may take a lesson of it to avoid such excess in their own doings. The colour of my sketch may be laid on rather thick, but then, I am sure, it is not unlike the original, and I take the trouble to write it down here for your benefit, One can learn much by seeing the mistakes that other nations make and learn from it to make it different. God help us to gain wisdom, instead of the vain knowledge of the material things of this world of which we have too much, or we shall be badly off soon in the race of human progress in which the best horse that is sure to win is wisdom.

Let us exchange our products, knowledge and commodities as brothers do, that none is cheated by the bargain, but that either side has a fair profit by it. That is to make good friend of distant nations, and each is sure to profit by that process of mutual exchange of the good and goods each one of us produces above his own wants, whilst he is in want of others which his country produces not, but others do who buy from him the goods that are superfluous to him. The destiny of mankind is to live by supporting the wants of one another. Now to live quite for themselves secluded from the others. If we follow this natural law and do not cheat and rob each other, we might be quite a happy family of nations on earth.

The Jews that cut the throats of honest men may travel to Jerusalem, we shall not lay a hindrance in their way. We will let them go in peace. Perhaps if they find no hon-

est people in Jerusalem to fleece them as they used to do the Europeans, they will turn over another leaf and take to handicrafts, more honest than usury and turn out better men and useful to the world and their own country.

This sounds, as if I was an enemy of Jews in general. It is not so ! I honour an honest Jew as much as any other honest human being. I only despise the lot of hypocrites among them, the worshippers of the "Golden Calf"–They count also by the millions, as among the Christians, and the specimens of robbers among them are generally worse than those of other European nations. That is, why I treat them so hard. but as I think, not unjustly so. I have a few good friends among the Jews. My own doctor is a Jew, but I have more confidence in him than in the others I know he is an honest man and knows science well, and can cure me and advise me well. So I make use of the services of an honourable Jew as willingly as of a Christians, this proves, I think, sufficient that I am no hater of Jews, but do not hesitate to tell them also the truth and the aspect. I see them in, in the majority should, but strike my own people and my friends and leave the other criminals untouched ? I try to be a judicious judge between the two and all,—but mark—I do not think myself infallible. I judge without consulting any Pope on earth—I judge for myself and consult my conscience as authority.

Dear Swami, you will not think me, for talking so much, a fool that knows little of the world. In comparison to you and other wise men I know my want of higher knowledge quite well, and earnestly esteem and honour you and all wise men that stand above use and deserve my esteem and that of all the world. I feel in spirit the greatest filial respect for you and wish with all my heart

that I could do with you, sit at your feet and learn from your lips the wisdom. I am still short. And if I talk to you the wise,—a boy like—I know you will not take offence of it. If I could be your son and pupil in wisdom it would be a great delight, I can assure you. An ocean separates us bodily but there is no boundary to our spirits to communicate, exchange our thoughts and do some good for our fellow men together, I yearn for a small share of your virtue and wisdom and shall try to get it, where I can. From your biography I have already much impressed my spirit. It has reminded me of my own weakness in the battle of life for the higher existance, when Providence put me once upon trial. I now repent the costly time I wasted unoccupied with God, but partaking in the sports and pleasures of the superficial world to some extent, I wish that I had found some twenty years ago a teacher of wisdom, like yourself How much advanced should I have been by this time under such a favourable circumstance. Have you a clever pupil of your own send him to me to teach me and my friends the wisdom he has learnt. We shall be greateful to him and do him the services in return that he may want from us, by teaching our arts to him. I want no material gain far myself or family out of your friends. I am quite ready to take the sons of those that are not wealthy parents who can pay for their greater comfort and expense of keeping them according to their rank and custom, and for teaching them by the best men we have among us! I would later on, as soon as we can afford it by our income, take some poor talented ones of your Aryan students over to us, and teach them for little or nothing, to help them on, when you desire it. It is

quite right in that way; the rich should help the poor to rise like them by talent and industry; and reasonable men that are true theosophists, can manage it in that way. Don't you think so too ?

My heart forebodes that Aryans are destined to deliver Europe from blindness and from idolatry of matter, and help them to return to wisdom that will lead to our childhood with our heavenly father who has sent us to this earth to learn to know ourselves and to come back to Him more wise than we have entered it. To be no longer stupid babies that can not walk themselves, but be His children and His sons in His eternal world with Him who loves all those that come to Him as children to a loving father.

It may be in the place of Providence to unite once more the Aryans of all the world to our grand brotherhood, embracing all the other elements of the human race in love and friendship, leading all to the good to peace on earth with men and peace and love to God in heaven ! My mind's eye perceives a picture like it in the distant. Will it become a truth ? What do you think of it ? I feel a lively interest to strive and work that this may come to pass. Never mind, whether I live to see it, or later on, when I have left the battle field and gone into the world above. God bless you and all of us that wish to do His will, above all. I remain your faithful son.

G. WIESE.

भाषार्थ

(विगत पत्र से आगे)

मेरे सर्वाधिक प्रिय आचार्य,

मैं युद्ध का समर्थक नहीं हूं और न कभी रहा ही हूं। तथापि मैं जानता हूं कि एक शक्तिशाली सेना अपने देश को किस प्रकार

अनुप्राणित और प्रभावित कर सकती है। देश की सुरक्षा तथा उस को पड़ौसी शत्रु देशों से बचाने में भी सेना की प्रमुख भूमिका रहती है। ये ही वे खतरे हैं जो एक मजबूत आदमी को भी सदा सावधान रखते हैं तथा वह अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर ही सोने का अभ्यासी हो जाता है। जब युद्ध आरम्भ होता है तो देश का प्रत्येक नागरिक सैनिक बन जाता है, एक कृषक भी और एक प्रशासक भी, नीचे से ऊपर तक के सभी वर्गों के लोग सिपाही बन जाते हैं। राष्ट्र की सुरक्षा का यही तरीका है। जर्मनी की युद्ध क्षमता का दुर्जेय रूप उस समय दिखाई पड़ा जब फ्रांस से उसका युद्ध हुआ था। मानवता के इतिहास में इस सेना के शौर्य का उदाहरण अनुपमेय रहा।

औद्योगिक क्षमता को बढ़ाने में भी हम जर्मनों ने अपना कीर्तिमान् स्थापित किया है, किन्तु इंगलैण्ड और फ्रांस से इस क्षेत्र में हमारी प्रतिद्वन्द्विता रही है। हम इन देशों से अधिक वस्तुएं खरीदते हैं जब कि उन्हें बेचने के लिए हमारे पास अधिक सामान नहीं है। तथापि हम से वे जो कुछ लाभ कमाते हैं इस कारण हमारे मन में उनके प्रति कोई दुर्भावना नहीं है। हम व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्र में अकेले भी बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर सकते हैं तथा अपने पड़ौसी देशों द्वारा लाभ कमाने को रोक भी सकते हैं, यदि वे हमसे अच्छे पडौसी की भांति व्यवहार करना बन्द कर दें। मेरे विचार में मात्र भौतिक ऐश्वर्य लाभ करने की तुलना में शक्तिशाली होना अधिक सन्तोषदायक है। हम अपने धनाढ्य पड़ोसियों से ईर्ष्या नहीं करते, अपितु उनके प्रति दया रखते हैं। कई बातों में वे हमसे बहुत पीछे हैं और हमारी बराबरी नहीं कर सकते। मेरे देश के लिए यह गर्व और गौरव का विषय है। परमात्मा का धन्यवाद है कि मैं भी अनेक बातों में स्वदेश के प्रति गौरव भावना रखता हूं। किन्तु दूसरी ओर, यह भी सत्य है कि मैं अपने ही मित्रों और देशवासियों की कमियों और त्रुटियों के प्रति आंखें मूंदे हुए नहीं हूं। किसी भी राष्ट्र, यहां तक कि अपने पितृदेश में उत्पन्न बखेड़ों का समर्थन करना मेरे लिये सम्भव नहीं है। मैं खुल कर उनकी निन्दा करता हूं। मेरे देशवासियों को भी कई बातों में अपना सुधार करना है। हम इंगलैण्ड या फ्रांस के शत्रु नहीं हैं। हम दोनों का सम्मान करते हैं तथा उनके सौभाग्य की कामना भी करते हैं, किन्तु युद्ध होने पर उनके विजयी

होने की कामना नहीं करते। ईश्वर ही जानता है, हम अपने पड़ोसियों पर विश्वास नहीं करते। जिस समय हमारा राष्ट्र दुर्बल था और हमारी राष्ट्रीय शक्ति अनेक स्वतन्त्र रजवाड़ों में बंट गई थी, उस समय पड़ोसियों ने हमारे प्रति जैसा प्रतिकूल आचरण किया वह भुलाने योग्य नहीं है।

आपका देश भी लगभग ऐसी ही स्थिति में है। आपके देश की शक्ति पूर्ववर्ती शासकों के पारस्परिक द्वेष और विग्रह के कारण बंट चुकी है। शक्तिशाली ब्रिटेन ने इस स्थिति का लाभ उठाया। उसके एक शासक को लूटा और एक अन्य की सहायता से किसी तीसरे को युद्ध में पराजित किया। इस प्रकार अध्यवसाय और महत्त्वाकांक्षा के बल पर उसने भारत पर कब्जा जमा लिया, देशी राजाओं को ब्रिटेन का मातहत बनने के लिये मजबूर किया तथा अपने देश की महारानी को अपने देश की साम्राज्ञी बना दिया। आश्चर्य तो यह है कि जिस साम्राज्य की वह साम्राज्ञी है, उसे उसने अपनी आंखों से देखा तक नहीं है। इस परिवर्तनशील संसार में घटनाचक्र कभी कभी आश्चर्यजनक मोड़ ले लेता है। दैवी शक्ति मनुष्य के भाग्यचक्र को घुमाती है। उसने जिसको गिराया है उसे पुनः उठा भी लेता है तथा समय पर जो दैव की चेतावनी को सुन लेता है उसे उठने में भी अधिक बिलम्ब नहीं लगता। ग्रीस, फ्रांस और रोम की ओर देखें। इन सबने उत्थान और पतन के दृश्य देखे हैं। सम्प्रति आर्य रक्त के वंशज ट्यूटन लोगों की समृद्धि का काल है। इस वंश को गिराना निश्चय ही कठिन है। स्वयं को समुन्नत बनाने के लिये इस को अतीव कठोर परिश्रम करना पड़ा था। यदि इसका कभी पतन हुआ तो वह यूरोप के सर्वनाश का ही सूचक होगा। किन्तु परिस्थितियों के परिपाक को विश्वासपूर्वक हम सर्वशक्तिमान् के हाथों में ही छोड़ देते हैं, जो संसार का शासक है, जब कि मनुष्य जो सोचता है, लड़ता है, महत्त्वाकांक्षी योजनाएं बनाता है, वह तो परमात्मा के हाथ का एक साधनमात्र है।

नोट—आज कल मेरा अधिकांश समय अंग्रेज विद्यार्थियों की देखरेख में व्यतीत होता है, अतः मैं अधिक लम्बे पत्र लिख कर आप के धैर्य का अतिक्रमण नहीं करूंगा। भविष्य में मुझे जो कुछ आपको

लिखना होगा, उसे संक्षेप में लिखूंगा। इस बार तो आप मुझे क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

मैंने जो कार्य आरम्भ किया है उसके पीछे कोई मिथ्या दम्भ या महत्त्वाकांक्षा का भाव नहीं है। मेरा लक्ष्य और मेरी अकांक्षा तो यही है कि इस संसार को त्यागने से पहले मैं कुछ अच्छा कार्य कर जाऊं। मैं परमात्मा के प्रति यह शिकायत नहीं करना चाहता कि उसने अपने दिव्य सत्य को तलाश करने का मुझे कोई अवसर नहीं दिया अथवा मेरी इच्छा के ऊपर उसने अपनी इच्छा को पूरा किया है। यदि मैंने अपने बहुमूल्य जीवन का अधिकांश समय और शक्ति मनुष्य के लिये प्राप्त करने योग्य सर्वोच्च लक्ष्यों को अधिकृत करने में नहीं लगाया तो उसमें परमात्मा का कोई कसूर नहीं है। मुझे कभी संकेत मिलता है कि अब मुझे आलस्य छोड़ कर जग जाना चाहिये और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से सत्य और प्रकाश की विजय के लिये युद्ध करने में कमर बांध लेनी चाहिये, किन्तु मुझे उस में सदा ही हिचकिचाहट हुई है और भय लगा है कि अपने इस शक्तिशाली शत्रु के खिलाफ उठ खड़े होने की शक्ति भी मुझ में है या नहीं। साथ ही पदार्थ तथा गुरुत्वाकर्षण के प्राकृतिक नियम मेरे शरीर पर दुर्वह भार लाद देते हैं और मेरी उदीयमान आत्मा को कुचल डालते डालते हैं। कभी कभी आवाज आती है—तुम्हें अपने शरीर का पोषण करना है, यदि ऐसा करते हुए तुम्हारी आत्मा भूखी रह जाती है तो चिन्ता की कोई बात नहीं। शरीर ही प्रथम है, तथा तुम्हारी कार्य प्रवृत्तियों को अपनी ओर उन्मुख करने का वही प्रथम अधिकारी है। नहीं नहीं, मेरे भीतर से एक आवाज आती है, ऐसा नहीं है। आत्मा का स्थान पहला है, शरीर को भोजन कराने से पहले उसे तृप्त करो। मेरी स्थिति उस युवक हर्क्युलीज की तरह हो जाती है, जो चौराहे पर खड़ा है और उसे यह पता नहीं है कि उसे किधर जाना है, दायें या बायें। मैंने थोड़ी देर के लिये दोनों ओर दृष्टिपात किया। जब मैंने बाईं ओर झांका तो पाया कि मेरी ही भांति भटकने वाले लोगों का एक झुण्ड है जो भौतिक सौभाग्य या उसके एक अंश को प्राप्त करने के लिये लालायित है, किन्तु दाईं ओर चलता हुआ तो कोई भी व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ा। ऐसा लगा, यह वह मार्ग है जो सर्वथा परित्यक्त है तथा इस पर चल कर किसी अज्ञात,

अनिर्दिष्ट देश की ओर जाया जा सकता है। इसलिये मैंने भी उसी मार्ग को चुना जिस पर अविसंख्य लोग जा रहे थे। यह रास्ता मुझे आधुनिक बेबिलोन, पेरिस और लन्दन तक ले गया, जहां संसार भर के तीर्थयात्री विश्व की मौजूदा हालत की नब्ज को पहचानने के लिये एकत्र होते हैं। यद्यपि मैं डाक्टर नहीं हूं, तथापि मैंने अपने नाजुक हाथों से रोगी की नब्ज को थामा तो मुझे पता लगा कि यह असाधारण तीव्रता से चल रही है, इससे ज्वर का भी आभास हुआ जिस की कि मुझे कोई आशा ही नहीं थी। सबसे ऊंचे तथा धनी एवं सब से निकृष्ट समाजों में भी मैंने देखा कि स्वर्ण [धन] प्राप्ति की अन्धी दौड़ लगी हुई है, पौण्ड, शिलिङ्ग और पैंस के लिये दौड़। इस दौड़ में ब्रिटेन के गरीब लोग भी अपने देश के धनवानों का साथ दे रहे थे। इसी ब्रिटेन ने भारत के देशी राजाओं को एक साम्राज्ञी दी, जब कि वे स्वयं अपना कुछ भी हित नहीं कर सके थे। मैंने सोचा, ठीक ही तो है। यही ईसाई जीवन की अवधारणा है। क्या ईसा ने मानव जाति को यह नहीं सिखाया कि उसे सर्वप्रथम उन वस्तुओं का संग्रह करना है, जो कभी नष्ट नहीं होंगी, जिन्हें चोर नहीं चुरा सकता और न कीड़े ही खा सकते हैं और न ही जिन पर जङ्ग लग सकता है।

धन प्राप्ति के लिये लगाई जाने वाली इस बर्बर दौड़ में क्या आप भी शामिल होना चाहते हैं? अथवा क्या आपने अपने इन भाइयों से कुछ शिक्षा ली है जो महासागर की लहरों के परे रहते हैं। यहां वे सर्वशक्तिमान् डालर को ही प्राथमिकता देते हैं और यहूदियों की ही भांति सोने को ईश्वर के तुल्य पूजते हैं। और आज कल वे लाखों पवित्र ईसाइयों की भांति सप्ताह में छः दिन लगातार धन की पूजा करते हैं और सातवें दिन सोते हैं। इनका यह साप्ताहिक शयन भी शायद भगवान पर अहसान करने के लिये ही है क्योंकि वे इसके लिये रोते और आहें भरते हैं कि अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उन्हें पर्याप्त सांसारिक वैभव नहीं मिला। वे गिरजाघर में बैठ कर गीत गाते हैं और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें वह सब कुछ मिले जो अब तक नहीं मिला और जिसे वे चाहते हैं। उनकी आन्तरिक आकांक्षा तो भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने की ही होती है। वे बुद्धि, पवित्रमन और विचारों की पवित्रता,

मानव तथा ईश्वर के प्रति प्रेम के लिये प्रार्थना नहीं करते। वे पहले नम्बर की वस्तु [धन] के लिये ही प्रार्थना करते हैं। यह धन उनके बाल बच्चों को मिले, उनकी रानी को मिले, परमात्मा सर्वप्रथम उन्हें ही अपना आशीर्वाद प्रदान करे, अन्यों के साथ वह चाहे जैसा करे। स्वयं को पवित्र कहने वाले तथा प्रार्थना में रत रहने वाले लाखों लोग शायद ही वह काम करते हैं जिसे उनके धर्म ने सर्वोपरि कर्तव्य बताया है। वे तो अपने पादरियों के साथ "आमीन" कहकर ही शान्तिपूर्वक अपने घर चले जाते हैं और सोचते हैं कि ऐसा कर के उन्होंने अपने मालिक तथा अपने साथियों के प्रति स्वकर्तव्य को पूरा कर दिया है। किन्तु वह परमात्मा तो यह जानता ही है कि इन लोगों के स्वामी धनाढ्य लोगों ने सप्ताह के अवशिष्ट छः दिनों में क्या किया है। इस समय वे अपने मालिकों के अर्धगुलाम रहे हैं। इन मालिकों ने इन गरीबों के खून पसीने की मेहनत से ही अपनी उदरपूर्ति की है तथा इन लोगों को उस धन रूपी देवता की उपासना में लगाया है, जो खुद उनका ही आराध्य है और जिसे वे ईश्वर से भी बड़ा मान कर पूजते हैं।

अपने जेहोवा देवता की पूजा करने वाले यहूदी लोग अधिक पुराणपन्थी तथा गन्दे हैं। वे स्वर्ण देवता की पूजा अपेक्षाकृत अधिक उत्साह से करते हैं जैसी कि कुछ हजार वर्ष पूर्व उनके पूर्वजों ने भी नहीं की होगी। उन्होंने इतना अधिक सोना एकत्र कर लिया है, जिससे उन्होंने स्वर्ण देवता की अनेक प्रतिमाएं बना ली है। तथापि आज का यहूदी और उसका धर्मयाजक [पुरोहित] सारे संसार में, जहां भी मनुष्य बसते हैं, तथा व्यापार की चालाकियों से उन्हें चतुराई पूर्वक लूटा जा सकता है, धर्म का आडम्बर करते हुए सेनागाग [यहूदी प्रार्थना मन्दिर] में जाते हैं तथा ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह उनके प्रिय नगर जेरूसलम पर पुन: उनका अधिकार करा दे, जो इनके पूर्वजों का निवास था और जहां से उनके शत्रुओं [ईसाइयों] ने उन्हें भगा दिया था। वे जहां भी चाहें जाने के लिये स्वतन्त्र हैं। कोई उन्हें कहीं जाने के लिये रोकता नहीं है, वे चाहें तो जेरूसलम भी जा सकते हैं। कई राष्ट्र उन्हें तथा परमात्मा को हार्दिक धन्यवाद देंगे, यदि वे यहूदी जेरूसलम के लिये प्रस्थान करें क्योंकि इससे उन देशों का पीछा छूट जायेगा। लोग यही कहेंगे कि

उनके समीप रहने से तो उनसे दूर रहना ही अच्छा है। तथापि ये लोग अपनी जगह से हिलते ही नहीं हैं, यद्यपि इनके पास इतना धन है कि जेरूसलम की तो बात ही क्या, ये चाहें तो दुनिया के दस चक्कर भी लगा सकते हैं। परमात्मा इन पाखण्डियों के बारे में क्या सोचता होगा। ये परमात्मा से उस वस्तु [धन] के लिये प्रार्थना करते हैं जिसे यदि चाहें तो वे स्वयं प्राप्त कर सकते हैं अथवा अपने पूर्व सञ्चित धन के द्वारा उसकी और वृद्धि कर सकते हैं। उनका इस प्रकार का नास्तिकतापूर्ण कृत्य ही धर्म कहलाता है। ईश्वर उन्हें क्षमा करें, वे निश्चय ही नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं, अन्यथा वे दूसरे ही दिन जेरूसलम के लिए चल पड़ें और ईश्वर को बतायें कि वे तो सत्य को ही पाना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने अब तक इधर के लिये प्रयाण नहीं किया। यद्यपि ऐसा करना उनके लिये कठिन नहीं था, तथापि वे अवसर की प्रतीक्षा में थे, ताकि प्रस्थान से पूर्व वे अपने पूर्वजों की ही भांति विदेशी माल से अपने कोठों को भर लें। उनके पूर्वजों ने भी मिस्र देश-वासियों से ऐसा ही व्यापार व्यवहार किया था, जब कि बहाना यह था कि ऐसा करने के लिये ईश्वर ने उन्हें आदेश दिया है। यूरोप के संविधान की धारणा से यह बहाना वैधानिक नहीं माना जा सकता। किन्तु इस दुनियावा माहौल में सूदखोरी क्या नहीं करा सकती।

मुझे भय है कि मैंने यहूदियों पर काफी कठोर प्रहार किया है और इसके लिये आप मुझे बुरा भला भी कहेंगे कि मैंने व्यंग्यात्मक शैली में उन पर करारी चोट की है। वे भी हमारे भाई ही हैं, जैसा कि संसार के सभी मनुष्यों को हम अपना भाई समझते हैं। किन्तु प्रत्येक को इसकी पात्रता या गुणवत्ता के आधार पर ही प्रशंसा या निन्दा का अंश मिलना चाहिये। वे हम लोगों के साथ अधिक भद्रता का व्यवहार नहीं करते, जैसा कि हम उनसे करते हैं। हम एक यहूदी को धोखा नहीं देते, जब कि वे मौका आने पर हमें धोखा अवश्य देते हैं। हमारे लिये तो यही श्रेयस्कर बताया गया है कि हम उनके धोखा देने पर भी उन्हें प्यार करें। यदि वे सूद वसूल करने के कानून के अन्तर्गत आग्रह करें तो हम उन्हें अपना धन भी भेंट कर दें। कारण कि हमारी विवेकशील संसद ने यहूदियों के हितों की रक्षा करते हुए इसी प्रकार का कानून भी बना दिया है, इससे अन्य लोग

भले ही बर्बाद हो जायें। मानों ऐसा कानून बनने के पहले यहूदियों को अपनी लूट खसोट में जो घाटा हुआ था उसे पूरा करने के लिये ही ऐसा कानून बनाया गया है।

पश्चिमी यूरोप में धार्मिक तथा आर्थिक मामलों की अभी लगभग यही स्थिति है। आर्य लोग, जो अपनी राष्ट्रीय स्थिति को सुधारने के लिए यत्नशील हैं, इससे शिक्षा ले सकते हैं ताकि अपने कामों में आने वाले ऐसे अतिरेक से वे अपने को बचा लें। मेरे द्वारा अङ्कित इस चित्र का रङ्ग शायद अधिक गहरा हो गया है, किन्तु मेरे विचार से यह अपने मूल से अधिक भिन्न नहीं है और मैं आपके हित के लिये ही इसे यहां अङ्कित करने की तकलीफ कर रहा हूं।

अन्य राष्ट्रों ने जो गलतियां की हैं, उन्हें देख कर दूसरे देश के लोग कुछ सीख सकते हैं, ताकि वे अपना आचरण सुधार लें। परमात्मा हमें बुद्धि प्राप्त करने में सहायता दे। हमें भौतिक पदार्थों के मिथ्या ज्ञान की उतनी आवश्यकता नहीं है, जो पहले से हमारे पास काफी मात्रा में हैं। यदि हमें यह बुद्धि नहीं मिली तो हम मानवी प्रगति की दौड़ में बहुत पीछे रह जायेंगे क्योंकि इस दौड़ में तो बुद्धि रूपी अश्व ही विजयी होता है।

हमें अपने उत्पादनों, ज्ञान तथा अन्य पदार्थों का परस्पर में भाइयों की तरह ऐसा विनिमय कर लेना चाहिये ताकि दोनों में से किसी भी पक्ष को धोखाधड़ी किये जाने का अहसास न हो, बल्कि हम यह जानें कि दोनों को ही बराबर लाभ मिला है। हम सुदूर राष्ट्रों को अपना मित्र बनायें, तथा एक दूसरे से अच्छे गुणों तथा अच्छे पदार्थों का विनिमय पूर्वक आदान प्रदान कर लाभान्वित हों। हम में से प्रत्येक कुछ पदार्थों का अधिक उत्पादन करता है जो उस की खपत से अधिक होते हैं, जबकि उसे उन पदार्थों की आवश्यकता होती है जो उसके देश में पैदा नहीं होते, जबकि अन्य देश उन्हें पैदा करते हैं। अब वे देश उस देश से उन वस्तुओं को ले लेगें जो यहां पर्याप्त मात्रा में होती हैं। मानवता का भविष्य इसी बात में सुरक्षित है कि हम एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करते हुए जिन्दा रहें। यदि हम इस कुदरती नियम का पालम करते हैं और

एक दूसरे को धोखा नहीं देते और न लूटते हैं तो हम धरती के राष्ट्रों का एक सौभाग्यशाली परिवार बना सकेंगे।

यहूदी लोग जो ईमानदार आदमियों का भी गला काटते हैं, यदि जेरूसलम की ओर जाते हैं तो हम उनके मार्ग में बाधक नहीं बनेंगे। हम उन्हें शान्तिपूर्वक जाने देंगे। यदि उन्हें जेरूसलम में लूटने के लिये कोई भला आदमी नही मिला, जैसी लूट वे यूरोपियनों के साथ मचाते रहे हैं, तो उनके जीवन की पुस्तक का पृष्ठ भी पल-टेगा और तब वे उद्योग धन्धों की ओर ध्यान देंगे। यह कार्य तो सूदखोरों की अपेक्षा कहीं अच्छा है। इसे अपना कर वे भले आदमी बनेंगे, संसार और स्वयं तथा अपने देश के लिये अधिक उपयोगी बन जायेंगे।

यह कथन ऐसा आभास देगा मानों मैं सामान्यतया यहूदियों का शत्रु हूं। किन्तु ऐसा नहीं है। मैं एक अन्य भले और ईमानदार आदमी की ही भांति ईमानदार यहूदी की भी कद्र करता हूं। मैं उन में जो पाखण्डी हैं, उनकी निन्दा करता हूं, उनकी जो स्वर्ण देवता की पूजा करते हैं। ऐसे उनमें लाखों हैं, जैसे कि ईसाइयों में भी हैं, और इनमें जो डाकूनुमा लोग हैं, वे तो यूरोपीय राष्ट्रों में पाये जाने वाले ऐसे लोगों से निकृष्टतर ही हैं। इसलिये मैं इनके साथ इतनी सख्ती से पेश आता हूं, किन्तु मेरे विचार से यह अन्यायपूर्ण नहीं है। यहूदियों में मेरे कुछ अच्छे मित्र भी हैं। मेरा डाक्टर भी यहूदी है किन्तु अन्यों की अपेक्षा मुझे उस पर अधिक भरोसा है। मैं जानता हूं कि वह ईमानदार है और अपने विषय को भली भांति जानता है। वह मुझे स्वस्थ कर सकता है तथा उचित सलाह भी दे सकता है। इसलिए मैं एक ईसाई की ही भांति एक सम्मान्य यहूदी की सेवाओं को भी ग्रहण करता हूं। इससे यह तो पर्याप्त रूप से सिद्ध हो जाता है कि मैं यहूदियों से नफरत नहीं करता। किन्तु उन्हें सच्चाई से अवगत कराने में भी मुझे कोई संकोच नहीं होता। तथापि यह तो नहीं हो सकता कि मैं अपने ही लोगों और मित्रों पर तो प्रहार करूं और अन्य अपराधियों को ऐसे ही जाने दूं। मैं दोनों के बीच विवेकपूर्वक आचरण करने वाले न्यायाधीश की भूमिका अदा करना चाहता हूं, किन्तु यह भी ध्यान रहे कि मैं स्वयं को सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं मानता। मैं संसार के किसी पोप से सलाह लिये बिना ही अपना

फैसला देता हूं। मैं अपने विवेक से ही परामर्श ग्रहण करता हूं, मेरा अन्तःकरण ही मेरे लिये प्रमाण है।

प्रिय स्वामी, मेरे इस प्रलाप को सुन कर आप मुझे मूर्ख नहीं समझेंगे, जो इस संसार के बारे में बहुत अधिक नहीं जानता। आप तथा अन्य बुद्धिमान् व्यक्तियों की तुलना में मुझ में उच्चतर ज्ञान की जो आकांक्षा है उसे मैं भली भांति जानता हूं तथा मेरे स्तर से ऊंचे उठे हुए आप तथा अन्य सभी बुद्धिशाली व्यक्तियों के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करता हूं। वे मेरे तथा संसार के अन्य लोगों की श्रद्धा के पात्र हैं। मैं अपने अन्तःकरण में आपके प्रति वैसी ही भावना रखता हूं जैसी पुत्र के हृदय में पिता के प्रति होती है, और मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि मैं आपके समीप आऊं, आपके चरणों में बैठ कर आपके मुख से ही कुछ शिक्षा ग्रहण करूं। मैं तो आपके समक्ष बौना ही हूं तथापि यदि बालक होकर भी यदि मैं आपके सामने बुद्धिमानों की तरह बातें करता हूं तो मैं जानता हूं कि आप इसका बुरा नहीं मानेंगे। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि ज्ञान ग्रहण करने में मैं आपका पुत्र या शिष्य होता तो यह मेरे लिये अतीव प्रसन्नता की बात होती। भौगोलिक दृष्टि से हम दोनों के बीच एक महासागर हिलोरें ले रहा है, किन्तु हमारी अन्तरात्माओं द्वारा पारस्परिक वैचारिक आदान-प्रदान तथा मिल कर अपने सह-वर्गी लोगों के कल्याण के लिये चिन्तन करने के मार्ग में कोई बाधा नहीं है। आपके धर्मभाव तथा बुद्धि का एक स्वल्प अंश प्राप्त करने के लिये मैं लालायित हूं और जहां से भी वह उपलब्ध होगी, मैं उसे अवश्य प्राप्त करूंगा। आपके जीवनचरित को पढ़ कर मेरी आत्मा अत्यन्त प्रभावित हुई है। आपके जीवनचरित ने मुझे स्मरण कराया है कि किस प्रकार अपनी आत्मा को उच्चतर सोपान पर प्रतिष्ठित करने के लिये मुझे अपने जीवन में भी संघर्ष करना पड़ा। मुझे अपनी दुर्बलताओं का भी भाव हुआ, जब ईश्वर ने मेरी परीक्षा ली थी। अब मुझे इस बात का पश्चात्ताप होता है कि संसार के व्यर्थ के आमोद प्रमोद तथा क्रीड़ाकौतुक में भाग लेकर मैंने अपने जीवन का बहुमूल्य समय नष्ट किया तथा ईश्वर के निकट नहीं आया। काश, आपके समान कोई बुद्धिमान् आचार्य मुझे आज से २० वर्ष पूर्व मिल जाता। ऐसी अनुकूल परिस्थित पाकर मैं कितनी प्रगति

कर लेता। यदि आपका कोई प्रबुद्ध शिष्य हो तो आप उसे मुझे तथा मेरे मित्रों को प्रशिक्षित करने के लिये भेजें ताकि वह अपने ज्ञान का लाभ हमें दे सके। हम उसके कृतज्ञ होंगे और बदले में वह जो भी चाहेगा, वैसी ही उसकी सेवा करेंगे। यदि वह चाहेगा तो हम अपने कला-कौशल उसे सिखा देंगे। मैं आपके मित्रों से अपने या अपने परिवार के प्रति कोई लौकिक लाभ की चाहना नहीं रखता। मैं आपके देश के इन युवकों को अपने यहां प्रशिक्षित करने के लिये बुला सकता हूं, जिनके माता पिता अधिक सम्पन्न नहीं हैं तथा जो अपने बच्चों के लिए अपनी सामाजिक स्थिति के अनुकूल व्यय नहीं कर सकते। मैं इन्हें अपने यहां के योग्यतम शिक्षकों द्वारा प्रशिक्षण दिला सकता हूं। बाद में जब हमारी आय इस योग्य हो जायेगी, तो हम आपके प्रतिभावान् किन्तु गरीब आय विद्यार्थियों को भी अपने यहां बुला सकेंगे, और उनसे कुछ साधारण या कुछ भी फीस न लेकर उनकी सहायता करेंगे, किन्तु यह तभी होगा जब आप चाहेंगे। यह एक प्रकार से ठीक ही है। धनी व्यक्तियों को चाहिये कि वे गरीबों को ऊंचा उठने में उनकी मदद करें, उन्हें उद्योग धन्धे सिखायें तथा उनकी प्रतिभा को विकसित करें। सच्चे थियोसोफिस्ट इस काम में आगे आ सकते हैं। क्या आप भी ऐसा नहीं सोचते?

मेरा हृदय इस बात की साक्षी देता है कि यूरोप को अन्ध-विश्वासों और जड़पूजा से मुक्ति दिलाने में आर्य लोग ही प्रभावी भूमिका निभायेंगे। उन्हीं से यूरोपवासियों को वह ज्ञान प्राप्त होगा जो उन्हें उनके उस स्वर्गीय पिता का वात्सल्य प्राप्त कराने में सहायता करेगा, जिसने हमें स्वयं को जानने के लिये ही इस धरती पर भेजा है तथा वह आशा करता है कि हम जब पुनः लौट कर अपने पिता के पास आयेंगे तो अधिक प्रबुद्ध होकर ही लौटेंगे। उस समय हम ऐसे मूर्ख बालक नहीं रहेंगे जो अच्छी तरह से चलना भी नहीं जानते, किन्तु तब हम उस परमात्मा के शिशु तथा पुत्र होंगे तथा उसके शाश्वत संसार में उसी के समीप निवास करेंगे। उसके निकट, जो अपने समीप आने वालों से वैसा ही प्यार करता है जैसा अपनी सन्तान से एक स्नेहशील पिता करता है।

परमात्मा ही यदि चाहे तो एक बार पुनः संसार के सारे आर्यों को एक महान् भ्रातृ-मण्डल में बांध सकता है। उस समय मानव

जाति के सभी तत्त्व प्रेम और मैत्री को अङ्गीकार कर लेंगे, तभी धरती पर शान्ति प्राप्त करने के लिये सभी लोग प्रयत्नशील होंगे तथा स्वर्ग में शान्ति और प्रेम को ग्रहण करते हुए परमात्मा को प्राप्त करेंगे। क्या यह सचाई चरितार्थ होगी? आप इसके बारे में क्या सोचते हैं? मैं तो इस आदर्श की क्रियान्विति के लिये पूर्ण प्रयास तथा पुरुषार्थ करने में रुचि रखता हूं।

इस बात की कोई चिन्ता नहीं, कि मैं इस आदर्श के पूरा होने तक जीवित रहूंगा या नहीं, किन्तु जब भी में संसार की इस संग्राम भूमि को छोड़कर उच्चतर विश्व में प्रविष्ट होऊंगा, उस समय तो इस आदर्श को पूरा हुआ अवश्य ही देखूंगा। परमात्मा का आशीर्वाद आप तथा उन सब को प्राप्त हो जो सर्वोपरि उसकी इच्छा को पूरा करने में ही लगे हैं।

मैं हूं आपका आज्ञाकारी पुत्र,
जी० वाइज।

—:o:—

[पूर्ण संख्या २०१] पत्र

19. Albrecht, T. II.[1]
Wiesbaden, [10][2] October 1880.

Dearest Master,

The few lines you have been kind enough to send me by a Post Card of 19th instant, indicate to me that the committee and many learned people are of the opinion that it is not necessary sending young Aryans to Europe for learning the things you mentioned, i. e., useful industries and handicrafts.

Indeed, if your countrymen are well supplied with what

१. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) में आश्विन १९६५ वि० में छपा था।

२. इस पर तारीख नहीं है। अगले १७ अक्तूबर के पत्र से ज्ञात होता है कि यह पत्र १० अक्तूबर को लिखा गया था।

I thought they wanted to obtain and learn from Europe or Germany, they are quite right to help themselves and to depend upon their own resources in that respect. There is nothing like dependence upon ourselves. Still there may be—as far as wise men can see—many things which we have better than you, and which your sons might learn to produce themselves by paying a visit to us and studying their qualities and art of produce, to which purpose we are ready to help them as much as is in our power.

On the other hand, and in exchange, we are ready to learn from you or from your sons the qualities they owe to Aryan philosophy and to your wisdom and the study with you and other wise men of India, that have the key to greater secret of human and divine nature, than our modern men of science and philosophy can show or see

This would come to an exchange of material and of spiritual treasures between India and Germany. And either of the two would have the benefit of it in the long run. Your country is short of industry and handicrafts of a sort to supply your country's wants. Well then, if you make up your mind to borrow the tools (means of supplying them yourselves independently from other nations, that now supply you with them to their particular profit) from us, we feel you are welcome. We will not grudge your getting on in industry, as well as we in other things, Moreover our industry would not be a loser by the development of yours,—though that of England and of France is likely to be. Our industry is more confined to the sale on the vastly populated continent of Europe, and we need not make a trade and profit with India. We are supplied and can supply our neighbours that require of us. India is too distant from us, and need not fear us as competit-

ors in trade and industry For this reason we should become good friends and support each other in different ways, already indicated.

The one that offers your countryman his assistance is no materialist—no money-maker, as the rest of your present friends or Governors who look for their own interest at the first hand and then look after your wants in a way, as if they were your benefactors, and rulers of a people that does not know to rule itself and manage their affairs and land so practically as the foreigner who has settled upon you, seems to think.

I and my friends in Germany are properly considered no foreigners to you, but cousins in reality—in flesh and blood and also in spirit in a high degree. That you or our ancestral seat have kept the imperishable treasures of our ancient fathers better than we whose fathers went to conquer and to culture these lands, that then were inhabited by rough barbarians that had to Indian culture—is no longer a riddle to me and others that have studied the records of early history and consulted their own mind about the thing and not only that of any Oxford or other professor to know the subject perfectly and better than the natives of India themselves.

We do not believe so much in human authority as our ancestors did. We know that none of our learned and wise men are infallible, and least of all the Pope who is believed to be so by millions of purblind human beings. European professors of natural history maintain and try to prove—though quite in vain–that mankind is an off-spring of the hairy beast with tale that imitates us where it can. A grain of truth may after all be in this absurd theory of the origin of man, Most men are apes in all reality, excep-

ting that of hairy skin and tale which in our human apes is short and partly wanting. The millions but know to imitate the greater ones, they do not work and think for themselves. but satisfy themselves by aping other monkeys. —above them on their tree.

Such is the world. With pity in my heart, I must confess it.

It might be better for a little philosophy and wisdom in the human mind of the old sterling kind that came from India in ancient times, and may still be found there preserved by few that are still in possession of the key, and would not lose it for their lives.

But wisdom cannot be supplied nor bought by money, like goods of industry. It must be gained by fairer means. By work of heart and mind and energy of spirit. No other way is there to do it, as for as I can see And to to aquire the arms and goods and treasures, we need most of all to strengthen human mind and body harmoniously, as it ought to be for our Hail, we needs must educate our offspring in a wiser and better way than hitherto was done. If we want fruit from any tree we have to cultivate it carefully—and till the ground, manure it properly and cut the insects off and the wild branches that hinder its growing fruit of the most costly kind.

Thus we must make it with the tree, the noblest one of all fruit trees—the "Tree of Human Education." The more we care for it and cultivate it, the more good fruit we shall reap from it. This stands to reason.

Come, let us do it ! Let us unite in the most noble work of unity and brotherhood among mankind and look to Him that all creates and all unites in Him, and praise

the Lord of universe—our father from eternity—uniting all that was and is and will be in his Paternal love which is to us incomprehensible, untill we are united with Him, that their way teach those that by obedience of his eternal will—deserve of it.

I cannot rid myself of the thought that by brotherly union with Aryans of your mind and school we might be benefited mutually to a great extend. By showing an exemplary conduct in every respect, we would induce and compel our neighbours, to esteem and to follow us. When of India and Germany the best elements combine together to the great work of human education, named by us philosophy. The principle is all—the name is of no special importance. In principle, peole in Germany of my way of thinking are theosophists, as well as those that are now on your list. By union we may spiritually conquer the world and rush materialism beyond by, if we are strong and show our strength to our common enemy in every land. I have not, with much pain and better encouragement in the higher classes of society, but in the lower, found much. Hearts that are unspoilt by the materialism and realism of society are naturally upon to truth from the pure source. God favours those that strive to do His will and benefit their fellowmen. We must succeed at last, I have no doubt, in our work and our offspring will enjoy the fruit of it, whilst we have worked hard to till the ground of it.

The key to human happiness or contentment is work, hard honest work for our best and that of others around us. A man who feels he has a duty to fulfil on earth

to God and man, prefers work to enjoyment and rest.

My idea of the Aryan students who would go to Europe of acquiring arts and occupations they would not learn as well at home, was the were in overage of very well-to-do parents that could afford to pay well for procuring them the best of education and instruction. Perhaps I have overestimated their resources and the greater part may be not wealthy at all. This probability I have left out of view in my first calculations about the cost of keeping and teaching. Sons of wealthy English people, as I have now with me, require a certain amount of comfort and luxury that causes great expence to us, but must be given because the parents and the pupils are accustomed to them and pay for it,

Your Indian students may be more frugal and simple in their claims upon supply of luxuries and consequently may cost much less to keep than sons of wealthy English people. If that should be the case, I should be always ready to reduce m terms for Aryans, according to this circumstance. Thus to enable every one to come to us, whose parents cannot afford to pay as much as those of richer parents. If we know of these circumstances and what we are expected to offer them; we may manage to come to terms satisfactory to them as well as us. We will do what we can to get Aryans to stay with us and help them on, for the spiritual profit we think our own youth may draw from their good moral conduct that may serve our chiledren as a model for imitation. It is not materail gain we seek for, I can say, conscientiously. I am a despiser of materialists and of worldly matter. I have long given up to strive for such, and my sole aims are immaterial

but everlasting treasures. What I should save or profit materialy be keeping Aryan students I am willing to spend upon their special improvement by supplying them with the best that may be had in our country, concerning the teaching power and the best places and opportunities of learning every branch thoroughly. I should then undertake the task myself to travel regularly to and for to the towns where single Aryan students where placed to learn the art or handicraft under the best guidance that might be found in all Germany, and that we might have at least the honour of having procured our pupils the best of means for getting on rapidly towards their aim. The successful progress of my pupils is the only reward I seek and have obtained with many who still are grateful to me for what I taught them. I have letters expressing the gratitude of pupils written out of their own impulse to me after they had left me. These signs of human gratitude and recognitoin of my work and good will, I am proud of my only vanity—not quite unjustified.

To the Aryans I have a liking on account of their purer virtue and wisdom, tought them by wiser teachers than the Europeans are in general,—save a few stray exceptions whose work is not spreading for but limited to few of their surroundings.

As man is taught much more effectively by living example then by book and word—of which their are plenty—I cherish still the happy hope that their good life and pure example might induce the German youth to learn from them this virtue which is unestimable of value to the young generation I will rather davote all my time and work upon virtuous students that pay me little materially, but richly spiritually and turn out models to the

others. Therefore I beg you, never mind the Comite—the majority does not generally come to the wisest conclusion—though each one may be quite clever and reasonable. "Too many cooks spoil the broth." The committee may change its view present some day, and quite agree with you and me, That money is not thrown away, if spent on a superior education. Therefore, do not hesitate to send me of your stud nts, we take them of your own terms.

Believe me, dearest Swami, and ask your spirit friends if I speak the truth and if they trust me. God wit us !

G. WIESE.

P. S.—I suppose that most parents of Aryan students afford to pay, say the sum of one hundred Guineas a year for the education of their sons for a few years in Europe. the lowest we charge for younger English pupils, who make no special claims on us. At that amount, we would risk to take your pupils and supply them with their requirements the sons of wealthy parents who have particular wants of a more expensive kind, must pay accordingly as a matter of course.

भाषार्थ

१६, आल्ब्राख्ट टी० एच०
वीसबादेन, [१०][3] अक्टूबर, १८८०

मेरे सर्वाधिक प्रिय आचार्य,

आपने इसी मास की ६ तारीख को लिखे पोस्टकार्ड में जो लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि आपकी समिति तथा अन्य कई विचारशील लोग इस पक्ष में हैं कि नवयुवक आर्यों को उन उपयोगी उद्योगों तथा हस्तकौशल की शिक्षा देने के लिये यूरोप भेजना आवश्यक नहीं है, जिनका आपने उल्लेख किया था।

---

१. पूर्व पृष्ठ २५३ की टिप्पणी २ देखें।

वास्तव में आपके देशवासी यदि वह सब जानते हैं जो वे यूरोप या जर्मनी से प्राप्त करना चाहते थे, तो वे स्वयं अपनी ही सहायता करने तथा अपने ही संसाधनों पर निर्भर रहने की दृष्टि से सर्वथा उचित ही सोचते हैं। तथापि कुछ बुद्धिमान् व्यक्ति तो यह मानेंगे ही कि हमारे पास आपकी अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी विधायें हैं, जिन्हें आपके देशवासी हमारे पास आकर सीख सकते हैं। वे उन उत्पादनों की गुणवत्ता तथा उत्पादन प्रक्रिया का भी अध्ययन कर सकते हैं। उन्हें यह सब सिखाने के लिये हम यथासम्भव तैयार हैं।

इसके बदले में हम आपसे तथा आपके पुत्रों [शिष्यों] से आर्य-दर्शन तथा आर्य प्रजा के गुणों और विशेषताओं को सीखना चाहेंगे। हम आप तथा भारत के अन्य बुद्धिशील व्यक्तियों से मानवी तथा दैवी प्रकृति के रहस्यों को भी सीखना चाहेंगे जिन्हें आधुनिक विज्ञान या दर्शन के ज्ञाता अभी तक नहीं जान पाये हैं।

इस प्रकार भारत और जर्मनी के भौतिक तथा आत्मिक कोशों का आदान प्रदान हो सकेगा। इससे दोनों को ही आगे चल कर लाभ होगा। आपका देश अपनी खपत वा आवश्यकता के अनुकूल उद्योग तथा कला कौशल को बढ़ाने में सफल नहीं हो सका है! अच्छा तो, यदि आप कल पुर्जे और औजार लेना चाहें, तो हम उन्हें आपको देने के लिये सहर्ष तयार हैं। आपके देश में उद्योग तथा अन्य बातों की दृष्टि से आत्मनिर्भर होने पर हमें किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं होगी। साथ ही यह भी है कि आपके देश में कला कौशल के विकास से हमारे उद्योग धन्धों को किसी प्रकार की हानि नहीं होगी, यद्यपि इंगलैण्ड और फ्रांस के लोग ऐसा सोच सकते हैं।

हमारे उद्योगों से उत्पन्न वस्तुओं को हम यूरोप की घनी आबादी वाले देशों को बेचते हैं अतः हमें भारत से व्यापार के बदले मुनाफा कमाने की कोई इच्छा नहीं हैं। हम अपनी जरूरत के अनुसार अपने पड़ोसियों को माल भेजते हैं और आगे भी भेज सकते हैं। भारत तो हम से बहुत दूर है, अतः उसे इस बात का भय नहीं होना चाहिये कि हम व्यापार या उद्योग में उसके प्रतिस्पर्धी हो जायेंगे। वस्तुतः हम दोनों देशों को एक दूसरे का अच्छा मित्र बन जाना चाहिये और पूर्वोल्लिखित बातों में एक दूसरे का समर्थन करना चाहिये।

जो व्यक्ति या देश आपके देशवासियों को सहायता देना चाहता है वह न तो भौतिकवादी ही है और न धन उपार्जित करने वाला। जब कि आपके देश के अन्य मित्र या शासक सबसे पहले अपने ही लाभ की बात सोचते हैं, उसके बाद ही वे आपका भला देखते हैं। वे ऐसा दिखाते हैं मानो वे ही आपके सच्चे शुभचिन्तक हैं, तथा एक ऐसे देश के शासक हैं जो स्वयं शासन करना ही नहीं जानता और न अपने मामलों तथा अपनी भूमि को साज-संभाल कर सकता है। आपका विदेशी शासक व्यवहारतः ऐसा ही सोचता है क्योंकि वह तो आपकी धरती पर अपनी जड़ जमा कर बैठा है।

आप मुझे तथा मेरे जर्मन मित्रों को विदेशी न समझें। वस्तुतः रक्त और मांस, यहां तक कि आत्मीय दृष्टि से भी हम आपके भ्रातृ-पुत्र हैं। हम जानते हैं कि आपने तथा हमारे आर्य पूर्वजों ने हमारे ही प्राचीन पुरुषाओं के अखूट खजाने को सुरक्षित रखा है जब कि हमारे पूर्वज तो यूरोप की इस धरती के उन निवासियों को जीतने तथा उन्हें सुसंस्कृत बनाने में लग गये थे, जो सर्वथा असभ्य और बर्बर थे तथा जिनका भारतीय संस्कृति से कोई वास्ता नहीं था। यह सारी बातें मेरे तथा अन्यों के लिये कोई पहेली नहीं हैं, जिन्होंने कि पुरातन इतिहास को पढ़ा है तथा इस प्रश्न पर अपना दिमाग लगाया है। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने के लिये हमने आक्सफोर्ड या अन्य कहीं के प्रोफेसरों से सहायता नहीं ली है जब कि भारत के मूल निवासी इस तथ्य को अच्छी तरह से जानते हैं।

हम मनुष्य द्वारा कथित प्रामाणिकता को उतनी मान्यता नहीं देते जितनी हमारे पूर्वज देते थे। हम जानते हैं कि हमारा कोई भी पठित तथा प्रभावशाली पुरुष निर्भ्रान्त नहीं है। हम उस पोप को तो कतई निर्भ्रान्त नहीं समझते जो लाखों मन्दबुद्धि लोगों द्वारा ऐसा समझा जाता है। प्राकृतिक इतिहास के योरोपियन प्रोफेसर यह बताते हैं और सिद्ध करने का प्रयत्न भी करते हैं, यद्यपि वे इसमें सफल नहीं होते, कि मानव उस रोमों वाले पुच्छयुक्त जानवर की ही सन्तान है जो आज भी यदा कदा हमारी नकल करते हैं। मानव जाति की उत्पत्ति के इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त में शायद ही सत्य का लेश हो। यों तो अधिकांश मनुष्य यथार्थ में बन्दर ही हैं जो रोमों तथा पूंछ से रहित हैं। लाखों मनुष्य तो अपने से बड़ों की

नकल करना ही जानते हैं। [illegible] न तो सोचते हैं और न करते हैं तथा पेड़ पर बैठे बन्दरों की भांति दूसरों की नकल करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

ऐसा ही यह संसार है। अपने हृदय में इसके प्रति करुणा का भाव रखते हुए मुझे यह स्वीकार करना ही पड़ता है। क्या ही अच्छा होता यदि आज के इन्सान को भी वैसे ही दर्शन और प्रज्ञा का लाभ मिलता जो अपने निखालिस रूप में भारत से पुराकाल में यहां [यूरोप में] आया था, तथा जो आज भी कुछ लोगों के द्वारा भारत में सुरक्षित है। इसकी कुंजी भी उन्हीं लोगों के हाथ में है तथा वे इसे आजीवन अपने से अलग नहीं होने देंगे।

किन्तु उद्योगों से उत्पन्न माल की भांति प्रज्ञा को धन से न तो खरीदा जा सकता है और न दिया जा सकता है। इसे प्राप्त करने के लिये अधिक पवित्र तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है। ये साधन हैं हृदय, मन तथा आत्मा की शक्ति। जहां तक मैं समझता हूं इससे भिन्न और कोई तरीका नहीं है। जहां तक अस्त्र-शस्त्र, उत्पादक वस्तुयें तथा खजानों को प्राप्त करने का सम्बन्ध है, हमें मानवी मन तथा शरीर को सन्तुलित रीति से शक्तिसम्पन्न करना पड़ता है। इसके लिए हमें अपनी सन्तानों को अच्छे और बुद्धिपूर्ण तरीकों से शिक्षित करना पड़ता है, जैसा कि हम अब तक नहीं कर सके हैं। यदि हमें किसी वृक्ष से फल प्राप्त करने हैं तो हमें उसकी सावधानीपूर्वक साज-संभाल करनी होगी। हमें धरती को जोतना होगा, उसमें अच्छी खाद डालनी होगी, कीड़े मकोड़ों को हटाना होगा, तथा उस पर लगने वाले मूल्यवान् फलों की वृद्धि को रोकने वाली अनावश्यक शाखाओं को भी काटना होगा।

इसलिये हमें अन्य वृक्षों के साथ साथ मानवता की शिक्षा के वृक्ष को भी लगाना होगा जो सारे फलदायक वृक्षों में सर्वश्रेष्ठ है। हम लोग शिक्षा रूपी वृक्ष की जितनी ही साज-संभाल करेंगे और उस पर ध्यान देंगे उतने ही अच्छे फल हमें मिलेंगे। यही कथन युक्तियुक्त है।

आइये, हम ऐसा ही करें। हम मानवता की एकता तथा भ्रातृ-भाव के महान् कार्य की पूर्ति के लिये एक हो जायें तथा उस पर-मात्मा की ओर देखें जो सबका रचयिता है तथा जिसमें सब एका-

कार हो जाते हैं, हम संसार के स्वामी उस प्रभु का गुणगान करें। शाश्वत जीवन का वह पिता है। उसका पितृप्रेम, जो हमारे अनुमान से भी परे है तथा जो भूत, भविष्य और वर्तमान में रहने वालों को तदाकार कर देता है, जब तक उसमे हम अपने को नहीं जोड़ लेते तब तक तो हमें यह असम्भव सा ही लगता है।

मैं अपने मन के इस विचार को दूर नहीं कर सकता कि आपके जैसे मनन एवं चिन्तन वाले आर्यों से भाईचारा स्थापित करके बहुत हद तक हम पारस्परिक हित साधन कर सकते हैं। प्रत्येक प्रकार के आदर्श व्यवहार के द्वारा ही हम अपने पड़ोसियों को भी हमारा सम्मान करने तथा अनुकरण करने के लिये प्रेरित तथा बाधित कर सकते हैं। यह कार्य तब और सुगम हो जायेगा जब जर्मनी और भारत के श्रेष्ठ तत्त्व मिल कर मानव को प्रशिक्षित करने के लिये एक हो जायेंगे। हमारे लिये सिद्धान्तों का ही महत्त्व है, नाम का नहीं। सिद्धान्ततः जर्मनी में मेरे जैसे विचार रखने वाले लोग थियोसोफिस्ट ही हैं तथा कुछ वे भी हैं जो आपकी जानकारी में हैं। हम मिल कर अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर ससार पर विजय पा सकते हैं और यदि हम पर्याप्त शक्तिशाली हैं तथा प्रत्येक देश में विद्यमान अपने समान शत्रु के प्रति उतनी ही शक्ति दिखाते हैं, तो हम भौतिकवाद को परास्त भी कर सकते हैं। मुझे समाज के ऊंचे तबकों से वैसा अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला, जब कि निम्न वर्ग के लोगों में यह अधिक मात्रा में मिला। जिन लोगों के हृदय समाज में व्याप्त जड़वाद तथा प्रकृतवाद से अपभ्रष्ट नहीं हुए हैं वे ही पवित्र स्रोत से प्राप्त सत्य का स्वागत करते हैं। परमात्मा उसी का पक्ष लेता है जो उस की इच्छा को पूरा करने में लग जाते हैं तथा अपने भाइयों की मदद करते हैं। मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि अन्ततः हम अपने कार्य में सफल होंगे तथा हमारी सन्तान उसके फलों को प्राप्त करेगी, जब कि हमें इसके लिये आधार भूमि को जोत बोकर तैयार करना होगा।

मानवी प्रसन्नता तथा सन्तोष की कुंजी तो कर्म ही है, ईमानदारी से किया हुआ वह कर्म जो अपने तथा समीप वालों के सर्वोत्कृष्ट हित के लिये किया जाता है। जो व्यक्ति यह अनुभव करता है कि धरती पर आकर उसे परमात्मा तथा मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य

को करना है, वह तो अपनी प्रसन्नता तथा विश्रान्ति के लिये भी कर्म ही करता है।

उन आर्य विद्यार्थियों के लिये, जो यूरोप आकर उन कला कौशल और काम धन्धों को सीखना चाहते हैं, जो घर पर रह कर इन के लिये सम्भव नहीं है, मेरी धारणा तो यह है कि वे उन माता-पिताओं की सन्तान होंगे जो प्राय: इतने सम्पन्न हैं कि वे अपने लड़कों को सर्वश्रेष्ठ शिक्षा और प्रशिक्षण दिला सकते हैं। सम्भवत: मैंने उनके साधनों के बारे में कुछ अधिमूल्यांकन ही कर लिया था। शायद उन में से अधिक तो स्वल्प भी सम्पन्न नहीं होंगे। इन छात्रों के यहां रहने तथा प्रशिक्षण प्राप्त करने के बारे में मैंने जो पहले अनुमान किया था, उस समय शायद मैंने इस तथ्य को दृष्टि से ओझल कर दिया था। अंग्रेजों के जो लड़के इस समय मेरे पास हैं वे अधिक आराम तथा सुख सुविधा पसन्द हैं, जिसके कारण उन पर व्यय भी अधिक होता है, किन्तु उन पर हमें यह व्यय करना ही पड़ता है क्यों कि ये छात्र तथा उनके माता-पिता इसके अभ्यस्त होते हैं, तथा तदनुकूल धन भी दे सकते हैं।

आपके भारतीय विद्यार्थी अधिक मितव्ययी तथा सादे होंगे। वे बहुत अधिक सुख सुविधायें नहीं चाहेंगे अत: धनी अंग्रेजों के लड़कों की अपेक्षा उनके रख रखाव पर कम व्यय आयेगा। यदि यह बात है तो मैं आर्य विद्यार्थियों के लिए उनकी स्थिति के अनुसार व्यय की अपनी शर्तों को कम करने के लिये तैयार हूं। इस प्रकार उन लोगों के लड़के भी यहां पढ़ने के लिये आ सकेंगे जो धनी लोगों की भांति व्यय नहीं कर सकते। आर्य छात्रों को यहां रखने के लिये हम यथासाध्य सब कुछ करेंगे तथा उनकी सहायता भी करेंगे। इससे हमारी सन्तान को भी आत्मिक लाभ मिलेगा। क्योंकि आर्यों के श्रेष्ठ नैतिक आचरण को आदर्श मान कर वे भी उनका अनुकरण करेंगे। मैं पूर्ण सच्चाई से कह सकता हूं कि हम भौतिक लाभ की दृष्टि को प्रधानता नहीं दे रहे हैं। मैं जड़वादियों तथा लौकिक लाभ को प्रधानता देने वालों का प्रशंसक नहीं हूं। मैंने ऐसे उद्देश्यों को बहुत पहले ही तिलाञ्जलि दे दी है तथा मेरा सर्वोपरि ध्येय शाश्वत कोशों को

प्राप्त करना है जो भौतिकता से परे हैं। आर्य विद्यार्थियों को अपने पास रखने से मुझे जो आर्थिक लाभ होगा, उसे मैं उन्हीं की विशेष उन्नति में व्यय करने के लिये तैयार हूं। उन्हें वह सब दूंगा जो इस देश में उपलब्ध है, ताकि वे उत्कृष्ट प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये सर्वश्रेष्ठ स्थानों पर जा सकें और ज्ञान की प्रत्येक शाखा का अध्ययन करने की सभी सुविधायें हासिल कर सकें। मैं उन स्थानों का भी भ्रमण करूंगा जहां कला कौशल सीखने के एक भी आर्य विद्यार्थी को जर्मनी में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञ की देख रेख में रखा गया है। इससे हमें इस बात का सन्तोष होगा कि हमने अपने विद्यार्थियों को अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिये सर्वश्रेष्ठ साधन उपलब्ध कराये हैं। मेरे शिष्यों की सफल उन्नति ही मेरा वह पुरस्कार है जिसे मैं चाहता हूं तथा जिसे मैंने उनसे प्राप्त भी किया है, जो मेरे द्वारा सिखाये गये कामों के कारण मेरे प्रति कृतज्ञ हैं। मेरे पास अपने शिष्यों द्वारा भेजे गये पत्र भी हैं जिनमें उन्होंने अपनी अन्त:प्रेरणा से ही मेरे प्रति तब कृतज्ञता व्यक्त की है, जब वे अपना प्रशिक्षण समाप्त कर के यहां से जा चुके हैं। मानवी कृतज्ञता तथा उसकी स्वीकृति के इन्हीं प्रमाणों पर मैंने सदा गर्व अनुभव किया है, जो मेरे कार्य तथा सद्भावना के बदले मुझे मिले हैं और इन पर गर्व करना सर्वथा न्यायोचित ही है।

आर्यों के प्रति मेरे आकर्षण का कारण तो उनकी बुद्धिमत्ता तथा धार्मिकता ही है जो यूरोपियनों की तुलना में उनके प्रबुद्ध शिक्षकों ने अधिक मात्रा में सिखाई है। यूरोप में तो ऐसे लोगों के उदाहरण अत्यल्प ही हैं जिनके कार्य का प्रभाव अपने समीपवर्तियों की सीमा से हटकर बहुत विस्तार नहीं पा सका है।

पुस्तक और शब्दज्ञान की अपेक्षा मनुष्य जीते जागते उदाहरण द्वारा अधिक सीख सकता है। पुस्तकीय तथा शाब्दिक ज्ञान तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है ही। इस आधार पर मुझे सुखद आशा है कि आप लोगों के पवित्र जीवन तथा पवित्र उदाहरण से जर्मनी के युवकों को पवित्रता तथा धार्मिकता का पाठ ग्रहण करने की प्रेरणा मिलेगी जो कि युवा पीढ़ी के लिये बहुत लाभदायक है। मैं तो अपना अधिक समय उन धार्मिक छात्रों पर लगाऊंगा जो चाहे मुझे द्रव्य की दृष्टि से कम ही दें, किन्तु चरित्र की दृष्टि से इतने ऊंचे उठे हुए हों,

ताकि वे अन्यों के लिये नमूने बन सकें, इसलिये मैं तो आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप कमेटी की परवाह न करें। प्रायः बहुमत सदा ही बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय नहीं करता, चाहे उनमें का प्रत्येक व्यक्ति चतुर तथा तर्कपूर्ण ही क्यों न हो। यह कहावत ही है कि कई रसोइये भोजन को बिगाड़ देते हैं। कमेटी यदि चाहे तो थोड़े दिन बाद अपनी राय को बदल भी सकती है, तथा वह आप तथा मुझसे सहमत भी हो सकती है। जो धन उच्चतर शिक्षा पर व्यय किया जाता है, वह वहां फेंका हुआ नहीं माना जायेगा। अतः आप अपने छात्रों को मेरे पास भेजने में संकोच न करें। हम उन्हें आपकी शर्तों पर ही लेंगे।

प्रिय स्वामी, आप मुझमें विश्वास करें, तथा अपने आत्मीय मित्रों से पूछें कि मैं जो कुछ कह रहा हूं क्या वह सत्य नहीं है और क्या वे उसमें विश्वास नहीं करते। ईश्वर हमारे साथ है।

जी० वाइज

पुनश्च—मेरी धारणा है कि आर्य छात्रों के अधिकांश माता पिता यूरोप में कुछ वर्षों तक अपने लड़कों को पढ़ाने के लिये प्रति-वर्ष १०० गिनी का व्यय कर सकते हैं। हम यह न्यूनतम राशि अंग्रेज लड़कों से भी वसूल करते हैं जो हमसे अधिक रियायत की उम्मीद नहीं करते। इसी रकम पर हम आपके शिष्यों को भी रख सकते हैं तथा उनकी आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं। तथापि जो धनी माता पिता अपने लड़कों पर अधिक खर्च करना चाहेंगे, उन्हें उसी अनुपात में अधिक देना होगा।

—:o:—

[पूर्ण संख्या २०२] पत्र

19 Albrecht Street[1].
Wiesbaden, October 17, 1880.

Swami Dayanand Saraswati, Pandit,

Dearest Master,

I hope you have received my last letter of October 10.

---

१. यह पत्र वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) में कार्त्तिक १९६५ वि० में छपा था।

To-day I have to send you the respects of Mrs. E. Knowles, a true Theosophist, who has given her son into my charge for education and instruction. He is the first son of a Theosophist I have among my English pupils, and I am glad of having him, for he is good of heart and on the way of becoming a Theosophist, like his own mother. He is sixteen of age and will become an Artist (painter).[1] His progress is good. With my other English pupils, of a higher age still. I cannot speek about the subject of Theosophy. Their parents, members of the English church might not thank me, for teaching their sons doctrines not quite in agreement with those they have been taught in youth.

Thus I am obliged to teach them only what they require of material science and leave the rest to Providence. No use of making proselytes among those who consider themselves already wise in these important matters and will **not** learn the **better** they could have, if they were not so ignorant and so canceited.

If truth was **sweat**, instead of being **bitter** to most people who live not in accordance with the truth, they would welcome it better, examine all and adopt the best, as every Theosophist does.

The difficulty of acquiring the German language will soon be overcome by clever students of Aryan descend. With me English students learn German in about six months so as to be able to make practical use of it for all purposes. Aryan

1. His father is a Captain in the British navy.

students that have learned the rudiments of English or French. will get on quite as fast as Englishmen of normal capacity in learning the German language. Those that know neither of the two, may reach their aim within a year by proper zeal and good instruction and control, then they can enter practically into the branches of handicrafts, etc, they each have chosen for their special study. They will then get on and even be able to pass at the end their examinations in those arts and handicrafts, as our technical students do. In that way Aryan students may prove to all the world that they are up to the mark in technical knowledge and as fit to do the work they have undertaken, as any German or European. They can thus benefit their countrymen by the knowledge of useful arts, and free their nation from the supremacy of foreign industry and competition, that has kept the country in poverty and in sujections. Foreign nations have made a profit of the fact that India was **short** of **industry** of the most necessary kind for supplying the wants of the million with **cheap goods** and **commodities** of life.

To supply those goods that you can produce yourself as good, and cheaper than the others,[that now are selling them to you,] to your own country is a step towards the growth of national wealth,and national strength and general prosperity and progress of your race.

This stands to common sense and reason ! The wealth of England, acquired by industry and commerce, is a proof of it. One nation must learn from

another to keep pace with him and all the others. or he will be the loser and be overtaken in the race of human progress by his neighbours and subdued by them.

One may say, it is the **law**—the will of the most High—that mankind should love and serve each other. One nation should learn the **good** of other nations, but **avoid** their **vices** and weaknesses. Then all would improve materially and spiritually, and cruel wars of conquest cease, and peace and harmony among the human race, the final fruit of it. "This is a consummation devoutly to be wished for," to use a phrase of Shakspear, in another sense than Hamlet used it in.

Theosophy will make its way and will **conquer materialism** and Idolatry of Matter and material wealth in our cultivated lands, where worldly knowledge, selfishness and sophistry takes the lead and true wisdom and virtue is banished;—because the blind materialists cannot "see the **use** of it." What they cannot perceive with mortal eyes and grasp with mortal hands, does **not exist for them**. Virtue and wisdom, and love to God and fellow-man, they look upon as **things chimerical**, created by the fancy of people quite **impractical**.—and "**of no use to them**" who love the **practical** and the **material above all !**

"**What is the use of it ?**" has many a silly man, asked me, when I spoke to him about Theosophy and about the **imperishable treasures** of wisdom that extend beyond the boundaries of this **changeable world** we are so short of,—though we may be rich

in gold. "What is the use" say I, of talking about colours and about the brillancy of the sun and stars with people **spiritually blind;** to whom all colours are alike—**all dark,**—invisible the light of universe, who still fancy, they can see as much as others who possess spiritual sight as well as bodily perception, and **know to use it right.** The worst is that millions who are spiritually blind, don't know it themselves. The reason of it is, that they are not lead on their path by those that are **seeing,** but by **spiritually blind guides**—the learned of our time, – who do as if the secrets of creation had been discovered by their scientific skill and, they were now the guides of mankind enthroned on the **highest heights of human science,** and as infallible as Roman Popes.

"What is the use" of such poor guides, I ask the silly flock. No answer can I get in any way satisfactory to solve the question.—They shrug their shouldres and walk off. The question is too, difficult for them, and their learned guides know no more about the point essential than the majority of their blind flock. Such sophistry and shere conceipt rules prominently in the world. Is it not time that we should try to put a stop to such a bad regime of our youth, the bearers of the coming generation ? If each that is not himself will help us in the work, we may succeed in time with God's help, for whose empire we fight on earth as warriors for their own country and own right and liberty. God, is the source of Liberty, of Love and Right and life eternal to mankind. to seek Him, love and **follow**

His **will**, is the first duty man has to fulfit during his pilgrimage on earth.

The greatest misery of human society is that few people ever learn and know for certain **"where they come from ?"** and **what is the aim and purpose of their short earthly existance ?** and, **where they are going to ?** when their immortal spirit shuffles off its mortal coil for entering the ever-lasting world, that our **mortal** eyes have never been able to perceive— **the only real** world that does exist. In comparison to which this earth is but a heap of smoke and dust, and earthly life a period of struggle and of suffering to work out the salvation of our soul and to return to Him who sent us out. Is this not your own view of human destiny and duty ? Oh ! dear master, please to tell me so. May God bless you and me, and the good work we have the will to do to His glory, as far as we are able to recognise His Will eternal.

balieve me to be your faithful pupil,

G. WIESE

भाषार्थ

१६, आल्ब्राख्ट स्ट्रीट,

वीसबादेन, अक्टूबर, १७, १८८०.

स्वामी दयानन्द सरस्वती पण्डित।

सर्वाधिक प्रिय आचार्य,

मुझे आशा है आपको मेरा गत १० अक्टूबर का पत्र मिल गया है। आज मैं आपको एक सच्ची थियोसोफिस्ट महिला श्रीमती ई० क्नोलेस का आपके प्रति आदरभाव प्रेषित कर रहा हूं जिसने अपने पुत्र की शिक्षा एवं प्रशिक्षण का भार मुझे सौंपा है। मेरे अंग्रेज शिष्यों में किसी थियोसोफिस्ट का यह पहला ही पुत्र है और मुझे उसे

अपने शिष्य के रूप में पाकर प्रसन्नता होती है। वह हृदय का शुद्ध और पवित्र है तथा अपनी मां की ही भांति थियोसोफिस्ट बनने के मार्ग पर आरूढ है। (उसकी आयु १६ वर्ष है और वह चित्रकार बनने का इच्छुक है। इसकी प्रगति सन्तोषजनक है।)

मैं अपने अन्य अंग्रेज शिष्यों से, जो कुछ अधिक आयु के हैं, थियोसोफी के विषय पर बातचीत नहीं कर सकता। उनके माता पिता जो कि अंग्रेज ईसाई चर्च के अनुयायी हैं, मुझे हरगिज धन्यवाद नहीं देंगे, यदि मैं उनके पुत्रों को उन सिद्धान्तों की शिक्षा दूं जो उस शिक्षा के कथमपि अनुकूल नहीं है जो उन्होंने स्वयं अपनी जवानी में ग्रहण की थी।

अतः मैं उन्हें केवल वही सिखाता हूं जो भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत पढ़ाया जाता है और अवशिष्ट को ईश्वर के अधीन मान कर छोड़ देता हूं। उन लोगों का धर्मपरिवर्तन करना व्यर्थ ही है जो इन महत्त्वपूर्ण मामलों में स्वयं को अत्यन्त बुद्धिमान् मानते हैं और उससे अधिक अच्छे को हरगिज सीखना नहीं चाहते। कारण यही है कि वे अज्ञानी तथा मिथ्या अभिमानी हैं। जो लोग सत्याचरण नहीं करते, उन्हें यदि सत्य से प्यार होता तो वे निश्चय ही उसका स्वागत करते, सब की परीक्षा कर सर्वश्रेष्ठ विचार को स्वीकार करते, उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रत्येक थियोसोफिस्ट करता है।

आर्य परिवारों के चतुर विद्यार्थी जर्मन भाषा सीखने की कठिनाई को अविलम्ब पार कर लेंगे। मेरे पास रहने वाले अंग्रेज विद्यार्थी लगभग ६ मास में जर्मन भाषा सीख लेते हैं, जो प्रायः उन के सभी कामों में आती है। जो आर्य विद्यार्थी अंग्रेजी या फ्रेंच भाषा के मूल सिद्धान्त जानते हैं वे अंग्रेज विद्यार्थियों की ही भांति सामान्य सामर्थ्य से जर्मन भाषा सीखने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। जो इनमें से एक भी भाषा नहीं जानते, वे भी अपने परिश्रम से तथा उत्तम प्रशिक्षण प्राप्त कर एक वर्ष के भीतर ही अपने लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। इसके पश्चात् उन्होंने अपने लिये जिन विशेष हस्तकौशल को सीखने का लक्ष्य बनाया है, वे उस ओर बढ़ सकते हैं। इस प्रकार वे भी आगे तरक्की कर सकते हैं और हमारे प्रविधि

[तकनीकी ज्ञान] को सीखने वाले अन्य छात्रों की ही भांति उन कलाओं तथा हस्त-शिल्पों में परीक्षायें उत्तीर्ण कर सकते हैं। इस प्रकार आर्य विद्यार्थी सारे संसार को बता देंगे कि तकनीकी ज्ञान को सीखने में वे उतने ही सक्षम हैं तथा किसी भी जर्मन या यूरोपियन की भांति इस प्रकार के कामों को करने में पूर्ण व्युत्पन्न हैं। इस प्रकार उपयोगी कलाओं का प्रशिक्षण प्राप्त कर वे अपने देशवासियों का भला कर सकते हैं तथा अपने देश को विदेशी उद्योग तथा प्रतिस्पर्धा से उबार सकते हैं जो उनके देश की दरिद्रता तथा पराधीनता का सबसे बड़ा कारण है विदेशी राष्ट्रों ने इसी बात का लाभ उठाया है क्योंकि वे जानते हैं कि भारत में ऐसे उद्योग धन्धों की कमी है जो उसके करोड़ों निवासियों की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं तथा जीवनोपयोगी वस्तुओं को सस्ते दर पर उपलब्ध करा सकते हैं।

यदि आप दूसरों की अपेक्षा उपभोक्ता वस्तुओं को अच्छा और सस्ता बना कर अपने देशवासियों की मांग को पूरा करते हैं तो इस से आपकी राष्ट्रीय सम्पत्ति, राष्ट्रीय शक्ति सामान्य समृद्धि तथा राष्ट्रीय प्रगति में वृद्धि ही होगी, क्योंकि अभी तक तो अन्य देश इन उपभोक्ता सामग्रियों को स्वयं पैदा कर आपको बेचते हैं। यह सब बात सामान्य बुद्धि तथा तर्क से ही सिद्ध हैं। इसका एक बड़ा प्रमाण इंगलैण्ड है, जिसने अपने उद्योग एवं वाणिज्य से प्रभूत सम्पत्ति अर्जित की है। एक राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों के साथ प्रगति की दौड़ में कदम बकदम चलना सीखना चाहिये अन्यथा वह देश घाटे में ही रहेगा तथा मानवी प्रगति की दौड़ में अपने पड़ोसियों से पीछे रह जायगा, तब वे उस पर अपना आधिपत्य भी जमा लेंगे।

कोई कह सकता है कि यह तो नैसर्गिक नियम है, अथवा सर्वोच्च परमात्मा की इच्छा है कि मानव जाति परस्पर प्रेम से रहे तथा एक दूसरे की सहायता करे। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अच्छाइयों को तो बेशक सीखे, किन्तु उनकी बुराइयों और दुर्बलताओं से दूर रहे। उसी स्थिति में भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सभी की उन्नति होगी, विजय के लिये लड़े जाने वाले युद्ध समाप्त हो जायेंगे तथा मानव जाति में शान्ति तथा सामञ्जस्य ही अन्तिम सुखद परिणाम होगा। यदि हम शेक्सपियर द्वारा हेमलेट से कहलाई गई एक उक्ति का

भिन्न अर्थ में प्रयोग करे तो हम कहेंगे कि यह परिपूर्णता की एक ऐसी आदर्श स्थिति है जिसे हर कोई सच्चाई के साथ प्राप्त करना चाहता है।

मेरे विचार से थियोसोफी को जड़वाद तथा प्राकृतिक तत्वों एवं भौतिक ऐश्वर्य की पूजा पर विजय प्राप्त करने में सफलता मिलेगी जो कि आज के सभ्य समाज में सर्वत्र प्रचलित हैं। यहां सांसारिक भौतिक ज्ञान, स्वार्थ की प्रवृत्ति तथा कृत्रिमता का बोलबाला है तथा यहां से वास्तविक प्रज्ञा तथा धार्मिकता को तो निष्कासित ही कर दिया गया है। कारण यही है कि अब भौतिकवादियों के लिए इन नैतिक मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं है। जिन चीजों को वे अपने भौतिक चक्षुओं से देख नहीं सकते तथा जिन्हें अपने स्थूल हाथों से पकड़ नहीं सकते, उनका तो उनके लिए अस्तित्व ही नहीं है। सदाचार और बुद्धिशीलता ईश्वर तथा अपने साथियों से प्रेम आदि गुणों को तो ये लोग सर्वथा असङ्गत एवं मिथ्या ही समझते हैं जिन्हें लोगों ने अपनी कल्पना से ही आविष्कृत कर लिये हैं किन्तु जो सर्वथा अव्यवहार्य हैं। इन गुणों का ऐसे व्यक्तियों के लिए कोई उपयोग नहीं है क्योंकि वे तो व्यावहारिक सांसारिकता तथा भौतिक मूल्यों को प्यार करते हैं।

जब भी मैं किसी आदमी से थियोसोफी के बारे में बात करता हूं अथवा बुद्धि के उन अनश्वर कोशों की चर्चा करता हूं, जो इस परिवर्तनशील संसार की सीमाओं से भी परे हैं, जिन्हें न पाकर हम चाहे भौतिक दृष्ट्या कितने ही धनवान् क्यों न हो गये हों, यथार्थ में तो हम कङ्गाल ही हैं, तो वह मूर्ख व्यक्ति बदले में मुझ से ही पूछ बैठता है—इन सबका उपयोग क्या है? उत्तर में मैं उससे कहता हूं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से अन्धा है उससे रङ्गों के बारे में, सूर्य तथा तारों की दीप्ति के बारे में बात करने का क्या लाभ है? उस के लिए तो सारे ही रङ्ग एक से हैं, सभी कुछ अन्धकारमय है क्योंकि वह तो संसार के प्रकाश को देख ही नहीं सकता। तथापि ऐसे लोग दम्भ करते हैं कि वे वस्तुओं को उसी प्रकार देख सकते हैं तथा उनका भौतिक स्पर्श भी कर सकते हैं जैसा कि एक आत्मिक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति उन्हें देखता है तथा अनुभव करता है, साथ ही यह भी कहता है कि वह उनका उपयोग करना भी जानता है। सबसे बुरी

बात तो यह है कि ऐसे लाखों लोग जो आत्मिक दृष्टि से रहित हैं, उस तथ्य को जानते भी नहीं। इसका कारण यह है कि उनका मार्ग दर्शन करने वाले लोग स्वयं ही दृष्टि सम्पन्न नहीं हैं। उनका नेतृत्व करने वाले तो हमारे आज के युग के वे पठित लोग हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से विरहित हैं। वे इस प्रकार का दर्प भरा आचरण इस लिए करते हैं मानों सृष्टि के रहस्य का पर्दा उनकी वैज्ञानिक योग्यता के कारण ही उठ सका है तथा रोमन पोपों की भांति मानव द्वारा आविष्कृत विज्ञान के सर्वोच्च आसन पर सिंहासनारूढ़ होकर वे मानवता के पथप्रदर्शक बन सकते हैं।

मैं इस मूर्ख मण्डली से पूछता हूं—इस प्रकार के दरिद्र पथप्रदर्शकों से तुम्हारा क्या भला होने वाला है? इस प्रश्न का कोई समाधानकारक उत्तर मुझे नहीं मिलता। वे अपने कन्धों को उचका कर चले जाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देना उनके लिए बहुत कठिन है तथा उनके विद्वान् मार्गदर्शक भी अपने अन्ध-अनुयायियों की ही भांति इस बारे में कुछ नहीं जानते। इसी प्रकार के कुतर्क तथा धोखाधड़ी करने वाले आज संसार पर शासन कर रहे हैं। नई पीढ़ी के अलम्बरदार अपने नवयुवाओं के इस दुर्नीतिपूर्ण शासन को समाप्त करने का क्या अब उचित समय नहीं आ गया है? यदि कोई व्यक्ति जो स्वयं इस प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि से हीन नहीं है, हमें हमारे काम में मदद करता है तो हम परमात्मा की सहायता से समय रहते अपने ध्येय में सफल भी हो सकते हैं, क्योंकि हम तो स्वयं की आजादी तथा अधिकारों की रक्षा के लिए ही धरती पर परमात्मा के साम्राज्य के योद्धा बन कर लड़ रहे हैं। परमात्मा ही मानव की स्वतन्त्रता, प्रेम इसके अधिकारों तथा जीवन का शाश्वत स्रोत है। उसे प्राप्त करना, उसे चाहना तथा उसकी इच्छा का अनुकरण करना ही धरती पर जाने वाली मनुष्य की तीर्थ यात्रा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

मानव समाज का सबसे बड़ा दुःख तो यही है कि बहुत कम लोग जानते हैं या जानना चाहते हैं कि वे आखिर आये कहां से हैं, नितान्त अल्प भौतिक अस्तित्व का लक्ष्य एवं उद्देश्य क्या है तथा उन्हें जाना कहां है? उनकी अमर आत्मा अपने पार्थिव अवशेषों से मुक्त होकर उस शाश्वत जगत् में प्रवेश पाने के लिए घिसटती हुई

आगे बढ़ती है जो उस दृश्य को हमारी भौतिक आंखे देख भी नहीं सकतीं। उस ईश्वरीय जगत् की तुलना में यह धरती तो केवल धूल और धुयें का ढेर ही हैं, तथा हमारा सांसारिक जीवन अपनी आत्माओं को मुक्ति की ओर ले जाने के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों और भोगी जाने वाली पीड़ाओं की ही अवधि है। इस अवधि को पार कर हम उस परमात्मा को पा लेते हैं जिसने हमें यहां भेजा है। अहो, मेरे प्यारे स्वामी, आप मुझे बतायें। परमात्मा आपको तथा मुझे आशीर्वाद प्रदान करे तथा उसकी गौरव वृद्धि के लिए हम जो उसकी शाश्वत इच्छा को समझते हुए कार्य करने का इरादा रखते हैं, उसे भी परमात्मा का आशीर्वाद मिले।

विश्वास रक्खें, मैं हूं आपका आज्ञाकारी शिष्य,
जी० वाइज

—:०:—

[पूर्ण संख्या २०३] पत्र

दयानन्द सरस्वती योग्य नमस्ते।[1]

महाशय! कार्तिक की पञ्चमी को एक पत्र गुजरांवाले कि आर्यसमाज नें हमारे मंदिर में भेजा[2] वह पत्र हमारे परम पूज्य विद्वानों में अग्रगण्य साधुओं में श्रेष्ठ श्रीमान् आत्माराम जी के नाम था उनों ने यह पत्र देखते ही मुझे दे दिया। कारन कि उनको वादानुवादसें कुछ संबंध नहीं पत्र का आशय जो खोल कर मेनें पढा, तो बहुत ही चकित हुआ, ओर जब बीच में देखा कि आपकी आज्ञानुसार यह पत्र लिखा गया है। ओर आपही ने अपने "गुजरावालस्थ आर्यसमाज" को भेज कर उत्तेजित किया हैं कि वह आत्माराम जी के नाम यह पत्र भेजे तब तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। पत्र का शिर नामा ओर ऊपर आत्माराम जी का नाम देखकर मैंने समज्या था कि आर्यसमाज को भ्रम हुआ जो उनु ने मेरे नाम के बदले आत्माराम जी

---

१. ठाकरदास का यह पत्र 'दयानन्द सरस्वती मुखचपेटिका' के पृष्ठ १७-१९ तक छपा है।

२. पं० आत्माराम के नाम आर्यसमाज गुजरां वाला का पत्र इस भाग के परिशिष्ट में छापा जा रहा है।

का नाम लिख दिया, परन्तु नहिं जब पत्र का आशय पढ़ा तो वही प्रतीत हुवा कि आर्यसमाज ने जानबूझ कर यह भ्रांति की है। और इस भ्रांति के मूल कारण आप हो क्योंकि आपही के आदेश से आर्य समाज ने ऐसा किया, आ हा हा !!! प्यारे दयानन्द जी यह बुद्धि आपकों किसनें दी ? यह आपको किसनें समझाया ? कि आत्माराम जी के नाम पत्र भेजो ? एक बात का उत्तर मैं आप से पूछता हूं। पांच, छ, पत्र मैंने आपके पास भेजे। दो तीन पत्र आपने भी मेरे ही नाम पर भेजवाये फिर आप आज बिन बुलाये आत्माराम जी के सामने क्यों जा पड़े ? वाह यह न्याय और विद्वत्ता, आपने कहां से सीखी कि जो पत्र भेजे उसका तो उत्तर न देना और जो न भेजे उस के गले जा पड़ना ? आप पहिले मेरे साधारण से प्रश्न का तो उत्तर दीजिये फिर आत्माराम जी के भी सामने आइयें उससें आपको क्या सम्बन्ध ? एक प्रश्न की जिज्ञासा मै आप से करता हूं और आप फिसल फिसल कर दूसरी ओर जाते हैं, परन्तु इस फिसल फिसल जाने से आप जूठे वाक्य लिखने के अपराध में न छूट सकेंगे इस बात का आप खूब ध्यान रखियें आत्माराम जी को पत्र भेजने सें कदाचित आपने यह समझ लिया होगा कि उनकु इदर उदर की बातां बना कर समजां लूंगा और नालिश तक न पहुंचने देउंगा। परन्तु मैं आपको सच्च सच्च कहता हूं कि यह आपका महा-भ्रम है आत्माराम कों इस मुकर्द में से कुछ सम्बन्ध न होगा। जो कुछ करना है सो मैंने करना है आत्माराम जी इस झंझट सें अलग हैं हां यदि उनकी इच्छा होगी तो जब कभी उन्हें अवसर होगा वह आपकी लिखत बातों का खण्डन भी कर देंगे परन्तु इस समय उने इस बात में कुछ सम्बन्ध नहि।

सरस्वती जी महाराज, आप विचार कर तो देखियें मेरा प्रश्न कुछ बड़ा भारी नहि। केवल इतना मात्र आपसें पूछा और पूछता हूं कि सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास में जो जैनमत विषयक आप ने श्लोक लिखे हैं वह किस जैनी पुस्तक वा जैनी शास्त्र का प्रमाण लेकर लिखे हैं ? बड़े ही शोक का विषय है कि आज इस प्रश्न को किये मुझे चार मास हो गये परन्तु आपने अंधाधुंध पत्र भेज भेजकर यह चार मास रडकाय दिये परं स्पष्ट उत्तर न दिया अदालत में पहिला दावा मेरा यही होगा कि यह श्लोक सत्यार्थ प्रकाश में जो

दयानन्द नें लिखे हैं और हमारे मत की निंदा की है सो यह श्लोक हमारे मत के किसी प्राचीन सें प्राचीन वा नवीन सें नवीन ग्रन्थों में कहीं नहिं है। और यह जो इसने (दयानन्द ने) विना प्रमान के व्यर्थ हमारे "मजहब की तोहीन" की है इसका दण्ड इसकों अवश्य मिलना चाहिये। प्रियवर ! फिर उस समय आप क्या करोगे ? इसी से चाहता हूं कि घर में निबटेरा करना उत्तम और श्रेष्ठतम है। गुजरांवाले की समाज सें प्रेषित पत्र मैं यह भी लिखा है कि सत्यार्थ प्रकाश में लिखे हुए वाक्यों में से जिन जिन को आप अशुद्ध ठहरावें उनको आप हमारे पास लिख कर भेज दें। हम उस का निर्णय करा देंगे। सो महात्मन् ! आप और बातों का निर्णय कों तो रहने दीजीयें सबसे प्रथम इस बात का निर्णय कर दीजीयें कि वह श्लोक, आपके कहां से लेकर और किस प्रमाण को लेकर रख कर लिखे हैं। बस शेष बातों का निर्णय फिर आप सें आप हो जायगा। अन्त में मैं आपकूं यह जताना चाहता हूं कि मेरा प्रश्न कुछ गम्भीर नहिं है केवल एक साधारन सा है उसका उत्तर आप शीघ्र दे दीजियें। और जो कुछ लिखना होय सो सो मुझे लिखे। आत्माराम जी कों दुःख देने से प्रयोजन नहिं और दूसरा यह कि यदि अपनी बांता को सिद्ध करने के अर्थ कोई प्रमाण आपके पास नहिं तो आपने हस्ताक्षर सहित एक पत्र भेजकर हमसें क्षमा मांग लीजियें। और क्षमा पत्र नम्रतापूर्वक लिखिये। हम शांत हो जायंगे। नहि तो अपना पक्ष दृढ रखकर मुझे आज्ञा दीजिये कि फिर अदालत में अपना फैसला करवा लिया जाय। यदि आप देनेवाले बने तो हमारा उत्तर दो बातों और दो पंक्तियों में आ सकता है। गुजरांवाला, ता० २५ अक्टोबर सन १८८०

जैनियों का एक दासानुदास ठाकुरदास भाजड़ा

—:o:—

[पूर्ण संख्या २०४] पत्र

श्रीमद्दयानन्द सरस्वती योग्य नमस्ते ॥[1]

महाशया ! बहुत विचार और प्रतिज्ञा के अनन्तर आज में आप

१. यह पत्र 'दयानन्द सरस्वती मुखचपेटिका' के पृष्ठ २२-२९ पर छपा है।

को उत्तर प्रत्युत्तर लिखने और लखाने के कष्ट से मुक्त करता हूं और प्रतिज्ञा पूर्वक आपको नोटीस देता हूं के एक मास तक जो आपकी इच्छा हो करले, तत्पश्चात् अवश्यमेव आप पर मेरी ओर से नालीश होगी और जो कुछ होगा सो अदालत द्वारा ही भुगतवाया जायेगा आपका एक पत्र दूसरे पत्र से विरुद्ध, और एकवचन दूसरे वचन से विपरीत है। इसी कारण किसी से भी संतोष नहि हुवा। और पत्र-लाप से संतोष होना तथा पत्र द्वारा आपसे मेरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर मिलना नितांत असम्भव जान अब एही स्थिर किया है कि अदालत आपकु बुलवाने का दृढ़ पण किया जाय, यह पण मैं आज करता हूं जिसका फल आपकू एक मास की पश्चात् भोगना पड़ेगा, यह मेरा आपके चरण कमल में अन्तिम पत्र है। इस कारण उचित समजा गया है कि अपने और आपके सारे पत्रों का जो आज तक आपके पास गये वा मेरे पास आये पुनः आपकू एक वार पूर्ण परिचय करा दूं कि जिस्सें इस पत्रालाप का सर्ववृतांत आप भली प्रकार विचार ले, और अपने अर्थ लाभकारि विवेचना में तत्पर हो जाय। विदित हो कि मेरा प्रथम पत्र आषाढ वदि एकादशी कों आपके पास भेजा गया और दूसरा आषाढ सुदि पञ्चमी को इन दोनों पत्रों में आपको केवल इतना मात्र लिखा गया था कि सत्यार्थ प्रकाश में जो जैन मत विषयक श्लोक आपने लिखे हैं वो किस जैनी शास्त्र कों देखकर लिखें हैं यदि आप इसका यथार्थ उत्तर वा निर्णय करा दें तो अच्छा, नहिं तो अदालत में आप पर नालीश की जायगी इन में से प्रथम पत्र का उत्तर तो आपने कुछ न दिया परन्तु दुसरे का अवश्य दिया जो आनंदी लाल मंत्री आर्यसमाज मेरट ने आप की तरफ से लिखा और गुजरां वालें की आर्यसमाज ने श्रावण वदि चतुर्दशी को मेरे हाथ दिया। आप का इस पत्र का आशय कुछ अजबही था कां ही तो इस में आपने हम जैनियों कों गालीयां दीई और कांही वह धमकी दीई कि तुमारा सर्वस्व इस मुकद्दमे में निलाम हो जायगा। इत्यादि। परं खेर! अभिप्राय इस पत्र सें केवल इतना मात्र निकल सकता था कि आपनें अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में जिहां कांही हमारे बातें लिखी है (वहां) अर्थात् जैनी ऐसा कहते हैं ए लिख दिया। जिस्सें यह सिद्ध हो गया कि आपने सत्यार्थ प्रकाश लिखते समय में कोई जैनी धर्म पुस्तक नहि देखा किंतु किसी के कहे कहाये आपनें सब लिख दिया आपके इस पत्र सें उक्त अभिप्राय निकलता जान और आपकी आज्ञा

शिरोधारण कर मैंने श्रावण सुदि एकमकु अपना तीसरा पत्र गुजरां वाले का आर्यसमाज ही की मार्फत भेजवा दिया। जिसमें यह लिखा कि अच्छा यदि कोई धर्म पुस्तक हमारा दयानन्द जी नें नहिं देखा औ किसी जैनी सें सुन कर ए अशुद्ध वाक्य आपनें लिखे हैं तो दयानन्द जी इन बात का उत्तर शीघ्र लिखे कि कोन सा दिगंबरी वा श्वेतांबरी जैनी उनके कान में यह बात सुणा गीया था कि एसें एसें श्लोक जैन मत में हैं। महाशया ! यह पत्र मैंने गुजरां वाले की आर्यसमाज द्वारा भिजवाया, और तेइस दिन तक इसके उत्तर को प्रतीक्षा करता रहा, परन्तु जब आपकी चुप्प ही देखी तो फिर मैंने भाद्रवा वदि दशमी को इसी विषयक दूसरा पत्र आपको सीधा मेरट में भेजा जिसका आशय प्रथम पत्र के अनुसार था और इतना मात्र विशेष आपसे अनुरोध किया गया था कि पत्र आप अपने हाथ सें लिखन। क्योंकि हमारे और तुमारे झगड़े में आनंदी लाल सा एक तीसरे मनुष्य कूं बिच में आय जाना उचित नहि और दूसरा ए बी आपकूं चेताय दिया था कि जो पत्र आप किसी अन्य सें लिखाकर भेजेंगे वो आप की जबानी वा आपही के हाथ का लिखा हुवा समज्या जावेगा। और फिर आप कूं इन लिखीं हुई बातों सें मुकरने का अवसर नहीं मिलेगा (१) इस पत्र का उत्तर भी आपनें आनन्दीलाल

(१) दयानन्द जी महाराज ! यद्यपि यह बात मैं स्पष्ट इस पत्र में लिख चूका था कि किसी अन्य सें भी यदि आप कुछ उत्तर लखायगे तो आपकी ही जुबानी समज्या जावेगा। परन्तु बाह ! फेर भी आपका भोलेपन का क्या कहेनां ? आप उसें भूल ही गये ? और देहरादून सें लुधियाने के श्रावकों को लिख मारा कि, मेरट में मन्त्री आर्यसमाज और ठाकुरदास जी गुजरांवाले के मध्य में कुछ पत्रालाप हुवा है उसमें आप देख लें; सरस्वती जी ! आप टुक इधर तो देखियें ? क्या ए पत्रालाप मेरे और आणंदी लाल के मध्य में हुवा था ? कि मेरे और आपके मध्य में ? एसी एसी कपट युक्त बातों के लिखने सें क्या आप मेरट सें भेजे हुवे पत्रों से अलग रहनां चाहते हैं ? यह कभी हो सकेगा ? क्या आप अपना पल्ला छुडाय के आनन्दीलाल बिचारे कुं इसमें फसाया चाहते हैं ? क्या गुरु का यही धर्म है ? सचमुच आणंदी-लाल का इसमें कुछ काम नहि, और ये ही पत्र आपही के लिखे हुवे समजे गये हैं जो अदालत में भी (पेस) प्रकट किये जायेंगे।

सें ही लिखवा कर भिजवाया और यह लिखा कि तुम पिष्ट पेषणवत् पुनः पुनः परिश्रम करते हो, हम ने जो लिखना था लिख चूके, तुमने पत्र का आशय किंचिदपि नहिं समज्या आप आप आत्माराम जी सें हमारा सन्मुख शास्त्रार्थ करवाय लिजियें इत्यादि। भला दयानन्द जी ! यह तो बताइये कि आप अपने पत्र में क्या लिख चूके थे जो मैंन समज्या पर अस्तु भाद्रपद शुदि अष्टमी का उक्त पत्र आपका गुजरांवाले की आर्यसमाज द्वारा मैंने आश्विन वदि नवमी को उक्त समाज की मार्फत ही पुनः अपना पत्र आपके पास इस आशय का भिजवाया कि आपने पीछले पत्र में जो मैंने ए पूछ्या था कि यह श्लोक कोन से जैनी शास्त्रों के हैं अथवा कोनसे जैनी सें सुणे वा सीखें हैं। उसका कुछ उत्तर आपने नहीं दिया। मत चर्चा के विषय जो आपने लिखा लिखा हें जब आप प्रश्न का उत्तर दे देंगे, तो यह बात भी देखी जायगी पर जब सत्यार्थप्रकाश में लिखना ही आपका असत्य ठेरा तो असत्यवादी सें चर्चा करने की क्या जरूर ? परन्तु इस पत्र को कोई उत्तर आपने न दिया। मैं अपने इस पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा में अतीव उत्कंठित था कि आर्यसमाज गुजरांवाले ने मुजे लिख भेजा कि तुमारा यह पत्र पहिली ही बातों से पूरन था इसलिये स्वामीजी के पास भेजना व्यर्थ पाया आप आत्माराम जी सें शास्त्रार्थ करवाने का प्रबन्ध करा दो (२) आर्यसमाज गुजरांवाले के इस अनुचित लेख और व्यवहार को देख मैं बड़ा ही उद्विग्न हुआ। और चाहता था के आपसे इसका कारन पूछूं, इतने में ही आपकी आज्ञानुसार गुजरांवाले की आर्यसमाज ने फेर ५ कार्तिक को एक पत्र हमारे मन्दिर में भेजा जो हमारे पूज्यवर पंडित श्री आत्माराम जी के नाम था इस पत्र में यही वर्णन था कि सत्यार्थ प्रकाश में जिन जिन बातों को आप जैनमत के विरुद्ध ठहराते हैं उनकी सूची आपके हस्ताक्षर सहित हमारे पास भेज दो। हम स्वामीजी के पास उस्से

---

(२) दयानन्द जी ! मेरा वह पत्र पहिली बातों से पूर्ण भरा होना चाहे था, क्यों कि आपने मेरी बातों का उत्तर किंचिदपि नहिं दिया था। मैं तो आज तक एक ही प्रश्न पर स्थिर हूं और जब तक इसका यथार्थ उत्तर न पाऊंगा क्यों कर इस प्रश्न से हठ जाऊंगा ? आर्यसमाज की बुद्धि भी क्या विचक्षण है ? की उनो ने इस पत्रालाप में भी आपका इतना कट्टा पक्षपात किया कि मेरा पत्र भी न भेजा अच्छा ॥

भेजकर उसके हस्ताक्षर का पत्र आपके पत्र के उत्तर में शीघ्र मंगवाय देंगे, यह अंधाधुंध पत्र पढ मेरे मन को बड़ा शोक हुवा कि आप जैसे विख्यात पंडित एक बात पर स्थिर नहिं रहते और एक प्रश्न के उत्तर देने में इतनी टाल मटाल मचाते हैं एक बात के उत्तर देनें में कभी शास्त्रार्थ का नाम पुकारते है, और कभी हस्ताक्षर मांगते हैं। जब आप एक बात अशुद्ध लिख चूके हैं और उसकी सत्यता का कोई प्रमान आपके पास नहिं तो हस्ताक्षर मांगने वा चाटने से क्या होगा। ए आपका ढंग देख मैंने आर्यसमाज गुजराँवाले के भेजे हुवे उक्त पत्र का यथा योग्य उत्तर आपके पास भेजवाया जो ता० २८मी अक्टोबर को आपके पास देहरादून गाम में पहूच गया और जिसकी रसीद भी मेरे पास आ गई इस पत्र का मतलब (व्योरा) यह था कि आत्माराम जी के नाम जो आपने पत्र लिख्या यह परम अनुचित काम किया उनकों इस विवाद सें कुछ सम्बन्ध नहिं और आप उनको छोड़ कर मेरे प्रश्नों का उत्तर शीघ्र दीजियें इस प्रश्न का उत्तर जो अब आपने आर्यसमाज गुजरांवाले की मार्फत भेजा है एसा उलट पालट और धृष्ट है, कि कुछ कहेते नहिं बनता ये आपका उत्तर ता० १३ मी० नवम्बर के आर्यसमाज ने हमने दिया। जिसमें आपकी वाह! वुद्धिमानी पाई गई कि बालक भी इस पर हसते हैं इस पत्र सें आपने स्वयं अपने हाथ सें खाडा खोदा जिसमें निश्चय है कि आप स्वयं अवश्य गिरेंगे आपके इस पत्र में निश्चय हो गया कि सत्यार्थप्रकाश में आपने यह श्लोक भ्रान्ति सें नहिं लिखे हैं किन्तु जाणबूज कर एक अन्य मत के श्लोक ले हमारी निंदा की है आगे तो आप अदालत में यह कहकर बच भी सकते थे कि मुज सें अणजाणें में यह अपराध हो गया मैं इसकी माफी मांगता हूं, और छपवा देता हूं कि सत्यार्थप्रकाश में भ्रम से लिखे गये हैं पर इस पत्र के लिखने सें तो आप अब यो भी नहिं बच सकते अब तो आपने लिख दिया कि उक्त श्लोक चार्वाक मत के हैं जो जैन मतानुयायि हैं बस इससे सिद्ध हो गया कि आपने चार्वाक मत के श्लोक लेकर जानबूज कर जैन मत की निंदा की है चार्वाक मत को जैनमत सें कुछ भी संबन्ध नहिं। आप किस प्रकार कहेंगे कि जैनमत और चार्वाकमत का एक भी संबंध है। और यदि आप उगल भी डाले कि चार्वाक जैन मतानुयायी हैं तो आप पर निम्न आपत्तिये पड़ेंगी।

१. यह आपने चार्वाक मत को जैनमत की शाखा किस शास्त्र से प्रमान किया वा कोन सें जंनी शास्त्र में लिखा देखा।

२. यह कितना काल हुवा कि चार्वाक मत जैन मत सें निकल और जैनमत की शाखा निश्चित किई गई ?

३. चार्वाक मत के प्रचार देनेवाला कोन से जैनी था वा किस जंन धर्म आचारज का चेला था।

४. कोन कोन से ऐसे नियम हैं जो जैन और चार्वाक मत एक हैं और आपस में मिलते हैं और कोन कोन से नियमों को देख आप सिद्ध करते हैं कि चार्वाक और जैनमत एक हैं ?

५. जैनमत की सब कितनी शाखा है ? उनका पृथक् पृथक् नाम पत्तेवार कहो ? उन शाखाओं के पृथक्-पृथक् हुवे में क्या प्रमान हैं ? तथा चार्वाक मत कहो ? उन शाखाओं के पृथक्-पृथक् हुवे में क्या प्रमान है ? तथा चार्वाक मत उन शाखाओं से किसकी प्रतिशाखा है इतने प्रश्नो का आप यथार्थ उत्तर सप्रमाणिक दे तब आपका कहना सत्य हो सकता हे नहिं तो यूं ही लिख देने से कोन अज्ञ जन प्रमाण इस बातों कों मान लेगा। यदि आपकी अब भी माफी मांगने की इच्छा हो तो शीघ्र मांग लो। परन्तु पीछे से यह नहिं कहना कि जैनों में दया और क्षमा नहिं अब भी यदि आप अपना क्षमा पत्र भेज दें तो आप पीछे से निर्लज्जता उठाने की आपत्ति से बच सकते है नहिं तो आपको अधिकार है आपकी आज्ञानुसार हमने अम्बाला लुधियाना इत्यादिक स्थानों के बहुत से जंनियों को इस काम में अपने साथ मिला लिया है जो अपना अपना नोटिस भी आप कों देंगे आप ने अपनी चिट्ठी पत्री भेजने में ही इतने फरेब किए हैं कि उसमें भी पकड़े जायगे। लुधियाने वाले सरावगियों को जो पत्र आपने भेजा है जो इसी पत्र की नकल है जो हमारे पास आया है, उसमें लिख दिया है कि इन श्लोकों में से कई श्लोक जंनमत के भी है जिनको ठाकुरदास जी स्वीकार कर चुके है। सरस्वती जी ! इतना छल जूठ आपने कहां से सीखा ? क्या एक एक छल के अपराध में आप पकड़ें नहि जा सकते ? मैंने कब और किस पत्र में स्वीकार किया है कि इसमें से कई श्लोक हमारे मत के है क्या आप जूठ लिख लिख कर औरों को धोखे में फिसाते और मेरा नाम बदनाम करते है आप स्मरण रखिये कि आप का यह सब कपट अदालत में प्रकट किये जायेंगे

और इसका यथेष्ट दण्ड भी आपको दिलवाया जायगा। यह सबका उत्तर चाहे आप भेजे अथवा न भेजे यह आपकी इच्छा है। जैन मन्दिर गुजरांवाला ता० २२ नवम्बर १८८० गुजरांवाला से

जैन धर्म का दासानुदास ठाकुरदास भावड़ा।

—:o:—

[पूर्ण संख्या २०५] पत्र-सूचना

[शेरसिंह का पत्र][1]

—:o:—

[पूर्ण संख्या २०६] पत्र-सूचना

[सत्यार्थप्रकाश भेजने तथा विविध विषयों के लिये बख्तावरसिंह का पत्र][2]

—:o:—

[पूर्ण संख्या २०७] पत्र-सूचना

[मुंशी इन्द्रमणि के मुकद्दमा सम्बन्धी २-३ पत्र][3]

—:o:—

[पूर्ण संख्या २०८] पत्र-सूचना

[स्वामी कृपाराम का पत्र][4]

—:o:—

१. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के श्रावण सुदी ६ सं० १०३७ (१२ अगस्त १८८०) केपूर्ण संख्या ४४६ (भाग १, पृष्ठ ४८७) के पत्र से मिलती है।

२. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के श्रावण शु० १३ सं० १९३७ (१८ अगस्त १८८०) के पूर्ण संख्या ४४८ (भाग १, पृष्ठ ४९३) के पत्र से मिलती है।

३. इन पत्रों की सूचना ऋ० द० के भाद्र कृष्ण ६ सं० १९३७ (२६ अगस्त) १८८० के पूर्ण संख्या ४५० (भाग १, पृष्ठ ४९९) के पत्र से मिलती है।

४. इस पत्र की सूचना ऋ० द० के भाद्र सुदी ४ सं० १९३७ (१८ सितम्बर १८८०) के पूर्ण संख्या ४५६ (भाग १, पृष्ठ ५०६) में मिलती है।

[पूर्ण संख्या २०६] **पत्र-सारांश**

मुंशी इन्द्रमणि का समाचार वेदभाष्य पर छापने के लिये आप ने लिखा था। क्या देवीदत्त और शंकरलाल आप से मिले सत्यनाम सिंह कहां है ?[1]

बख्तावरसिंह

—:०:—

[पूर्ण संख्या २१०]

वीज बेडन,[2]
३० सितम्बर १८८०.

सबसे प्यारे उस्ताद,

मैं अपने अंग्रेज शागिर्दों के साथ ओडन वाल्ड के पहाड़ों को बराए सैर गया हुआ था। वहां से वापिस आने पर मुझे आप का खत मिला। आखिर कार अब मुझे वक्त मिला कि मैं आप का शुक्रिया अदा करूं। इस से मुझे बड़ी खुशी हासिल हुई और मेरे दिल में नया जोश पैदा हुआ कि अपना वक्त आप के नौजवान हमवतनों और आप के मकासद के हिसूल के लिये मदद दूं। मेरा मतलब उसी काम से है कि जिस के जरिये वे अपने मन्ब-ए-इल्म और सनई फनून के खजाने को बढ़ा कर और अपने दीगर भाईयों को इन फनून की तालीम दे कर अपने मुल्क के लिए मुफीद होंगे और इस तरह जमाना-ए-आइन्दा में अपने मुल्क के जरिया-ए-आमदनी को बढ़ाने में एक जबरदस्त हिस्सा लेंगे। हम आप के फर्जन्दों को जो कुछ मदद भी दे सकते हैं निहायत खुशी से जहां तक हमारे बस में है देंगे और हमें विश्वास है कि परमात्मा हमारे काम में बर्कत देंगे और हमारी सहायता करेंगे। आप के लड़के हम से माद्दी हुनर और दीगर उलूम व फनून सीख सकते हैं। हमें आप की तरक्की पर कोई हसद नहीं।

---

१. यह पत्र सारांश ऋ० द० के भाद्र सुदी ६ सं० १६३७ (१० सितम्बर १८८०) के पूर्ण संख्या ४६० (भाग १, पृ० ५११) पत्र के आधार पर बनाया है।

२. यह पत्र मा० लक्ष्मण जी कृत उर्दू जीवनचरित, परिशिष्ट ९ पृष्ठ २७९ पर उद्धृत है।

हम जर्मनों को हिन्दुस्तान साथ के एक माद्दी हमदर्दी है, क्योंकि हिन्दुस्तान हमारे बुजुर्गों का भी गहवारा है और जर्मन लोग भी दीगर अकवाम-ए-यूरोप की तरह आर्यन नस्ल से हैं, जैसा कि लण्डन के प्रोफेसर फ्रीमेन ने अपनी किताब तारीख-ए-यूरोप में लिखा है।

अगरचे हिन्दुस्तान के आर्य जिन्होंने यूरोप को किसी वक्त फतह किया था, आज महकूम हैं, लेकिन वे अपनी आजादी, जमीन और दौलत बगैर किसी खूंरेजी के फिर से फतह कर सकते हैं, अगर वे उस तरीके पर आमिल हों जिस पर कि उन के बुजुर्ग किसी हद तक आमिल थे और जिस पर कि अब आर्य लोग उनकी निस्बत ज्यादा आसानी से चल सकते हैं। आजकल बहतरीन इन्सानी फतूहात अम्न और बगैर खूंरेजी के हासिल की जाती हैं या दूसरे लफ्जों में आज फतह वहशियाना ताकत और असलहजात की निस्बत, जैसा कि गुजिश्ता जमाने में था, अक्ल के जरिये की जा सकती है। सिर्फ इल्म से ही आखरी फतह हासिल नहीं हो सकती। जब तक ईश्वरीय ज्ञान हर एक मामले में रहबरी नहीं करता, इस दुनिया में कोई असली फतह नहीं हासिल हो सकती। यूरोप की बहतरीन तरक्की व तहजीब बिल्कुल झूठी है और सिर्फ खुद-फरामोश आदमियों का खयाली काम है, जो अपने आपको और अपनी गरीब साइंसों को खुदा की तरह आलीशान तसव्वुर करते है। उन्होंने जो कुछ हमारे तुलबा को सिखाया है, उस ने सिवाय अफसोसनाक नतायज पैदा करने के और कोई फायदा नहीं दिया। यहां सुस्त-उल-वजूद लड़के और काहिल अफराद, जो अगर बुजुर्गों का अदब सीख लेते, तो बाकायदा मश्क करने से सर्वोपरि परमात्मा की इताअत करने लग जाते, दुनिया में कोई नेक काम नहीं कर सकते, और प्रोफेसर उन अपने तुलबा समेत अपने कदीम दौर आलूद मुतालये में हद से ज्यादा मसरूफ हैं। उन के साइंटिफिक दिमागों में यह बात कभी नहीं आती कि वे पहले अपने अन्दरूनी आत्मा यानी अपने आप का मुतालया करें। इस लिए वे ऐसे लोगों की तरह जो आंखें बांधकर 'आंधी खेल' खेला करते हैं, जिन्दगी गुजार रहे हैं, और अपने आपको न देखते हुए दूसरों को पकड़ने की कोशिश करते हैं। बाकी यूरोप बमय मालदार इंगलिस्तान इन अमूर में जर्मनी से भी बदतर है।

रूहानी तरक्की कम अज कम गुजिश्ता हिस्से में से साइंसदानों

के धोखे के बाइस जो इन्सानी रूह और दीगर आलमगीर मसायल के मुताल्लिक हर एक मामले में रहनुमा बने हुए हैं। ये लोग एक फहीमतरीन शख्स के खिलाफ जिसने आखिरकार यह मालूम किया था कि वह आलातरीन अहम मसायल की निस्बत खुद कुछ नहीं जानता, यह दावा करते हैं कि वे हर शय का मुकम्मल इल्म रखते हैं और कहते हैं कि जो कुछ है, वह सब माद्दा ही माद्दा है। उस फहीमतरीन शख्स का इकबाल-ए-अदम-ए-वाकफियत इस अमर की बदीही दलील था कि उस जमाने के दीगर फहीम अशखास भी उसकी तरह हैं, बल्कि उससे ज्यादा नावाकिफ थे। हमारे उलमा इन अहम मसायल के मुताल्लिक दरहकीकत उस से ज्यादा नहीं जानते, जितना बरस गुजरे, सुकरात और उस के हमासर जानते थे और बावजूद इस अमर-ए-वाकया के हमारे मौजूदा साइंसदान और उलमा शेखी मारते हैं कि वे हर एक बात जो जानने के काबिल हैं और जो मौजूदा साइंसों और मौजूदा अक्ल की बुलन्दियों तक पहुंचने के लिए इन्सान को बताई जानी जरूरी हैं, अच्छी तरह जानते हैं। उन का अकीदा यह है कि इन्सान का आत्मा गैरफानी नहीं है और जमीन या आसमान पर कोई जीता जागता खुदा नहीं है। पैदायश-ए-कायनात के तमाम राज और तमाम कवानीन जो दुनिया में जारी हैं और बाकी तमाम बातें हम को मालूम हैं, दुनिया में सिर्फ हमारी साइंस ही हकीकी इल्म है, कौन है जो हमको नावाकिफ कह सके या हमारी अक्ल के निर्भ्रान्त होने में या हमारे हकीकी इल्म-ए-साइंस में शक कर सके ? हम उस को चैलेंज करते हैं, हम सब से आला हैं, कोई इन्सान या खुदा हमारी तर्दीद नहीं कर सकता। यह है हमारे कसीर-उल-तादाद नेचरल साइंसदानों का मतलब व मुद्दा और लाखों तालीमयाफ्ता होने वाले लोग उनकी अन्धाधुन्ध पैरवी करते है और उनको अपनी वह आलातरीन शय दे देते हैं जो उनके रूहानी बाप ने उन्हें कभी दी हो।

और उन बेवकूफ सांइटिफिक बुढ्ढों के पीछे चलते हैं जिनको यह पता नहीं कि वे कौन हैं और कि इन शरीरों में भी एक आत्मा है जो लाफानी है और मौत वाका होने पर इस फानी जिस्म से निकल जाता है और दूसरी दुनिया में चला जाता है जिसको ये फानी आंख नहीं देख सकतीं, बल्कि सिर्फ उसकी अपनी रूहानी

आंखों के जरिये ही देखी जा सकती है और वही लोग देख सकते हैं जिन्होंने असली मुतालये से अपने रूहानी अन्धेपन को दूर कर दिया है। ख्वाह मौजूदा यूरोपियन साइंस की यह निहायत बुरी हालत है, लेकिन बहतर है कि हम उसे अपनी हालत पर छोड़ दें और अपने हमसायों के कसूरों को नजर-अन्दाज करते हुए पहले अपनी दहलीज से खस व खाशाक साफ करें ताकि हमारे हमसाये हमारी मिसाल से सबक सीखें।

जी० वाइज

—:०:—

[पूर्ण संख्या २११] पत्र (ख)

(विगत पत्र से सम्बद्ध)

मोज्जिजतरीन उस्ताद,[1]

आजकल अपने अंग्रेज तुलबा के साथ मेरा बहुत सा वक्त सर्फ होता है, इसलिये मैं तवील चिट्ठियां लिखकर आइन्दा आप को तंग नहीं करूंगा, बल्कि हमेशा उन्हें मुख्तसर कर दिया करूंगा। मुझे उम्मीद है कि इस दफा के लिए आप मुझे माफ फरमायेंगे। मुझे शेखी या कोई खास ख्वाहिश अपने काम सर अंजाम देने के लिए तहरीक नहीं करती। मेरा वाहिद मकसद व मुद्दा यह है कि पेश्तर इसके कि मैं इस दुनिया से कूच करूं, कुछ नेकी कर जाऊं। मैं परमात्मा की शिकायत नहीं कर सकता कि उस ने मुझे अपनी हकीकत को जानने का कोई मौका नहीं दिया या कि उसने अपनी मर्जी को उसकी मर्जी के ताबय करने की शक्ति नहीं दी। इसमें परमात्मा का कोई दोष नहीं कि मैं अपनी कीमती जिन्दगी और अपनी जिन्दगी की ताकत बजाय आला ख्वाहिशात के पूरा करने के लिए कोशिश करने के ख्वाहिशात में जाया करूं। मुझे कई दफा परमात्मा की तरफ से इशारा होता था कि इस ख्वाब-ए-गफलत से उठ, आस्तीन चढ़ा और पूरी ताकत से हक व हक्कानियत के जंग में शरीक हो जा। लेकिन

१. यह पत्र मा० लक्ष्मण जी द्वारा सम्पादित उर्दू जीवन चरित, परिशिष्ट ६, पृष्ठ २८१ पर उद्धृत है।

मैं हमेशा ताम्मुल करता रहा और खौफ खाता रहा कि दुश्मन की ताकत मुझ से ज्यादा है। मजीद बरां माद्दा और कोशिश-ए-सख्त का कुदरती कानून मेरे जिस्म पर दबाव डाल रहा था। तुम्हें अपने जिस्म की परवरिश करनी चाहिये। कोई डर नहीं, अगर ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा मर जाय। जिस्म पहले है और तुम्हारी सरगरमी पर उसका जबरदस्ततरीन हक है।

लेकिन मेरे अन्दर एक आवाज आहिस्ता से कहती थी कि नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। रूह पहले है, जिस्म से पहले उसकी परवरिश करो। उस वक्त मेरी हालात नौजवान हर्कुलीज की तरह थी जो चौराहे पर खड़ा था और यह नहीं मालूम था कि आया दायीं तरफ को जाना बेहतर है या बायीं तरफ को। मैं कुछ अर्से तक उन दोनों की तरफ देखता रहा। मैंने देखा कि बायीं तरफ आवारागर्दों का एक गिरोह है। उस हिस्से को पहुंचने या दौलत हासिल करने के लिए मेरी तरह ही तग-व-दो कर रहे हैं। दायीं तरफ एक शख्स भी नजर न आया जो उस रास्ते पर चल रहा हो। यह एक छोटा सा रास्ता मालूम होता था और ऐसा प्रतीत होता था कि यह रास्ता नामालूम गैर मुमाकिल को जाता है। बस मैंने भी उसी शाह-राह पर जाना पसन्द किया जिस पर कि लोगों का गिरोह रवां दवां था, जो मुझे बेबीलोन, पैरिस और लण्डन को ले गई जहां तमाम दुनिया से यात्री आ कर जमा होते हैं, ताकि दुनिया की मौजूदा हालत की नब्ज मालूम करें। गो मैं अभी तक डाक्टर नहीं बना था ताहम मैंने आहिस्ता आहिस्ता हाथ लगा कर नब्ज की हरकत मालूम की और देखा कि यह बड़ी तेज थी और बुखार की हालत मालूम होती थी। मैं जवान था, मुझे ऐसी हरगिज तवक्को न थी। आलातरीन दौलतमन्द सोसाइटी और अदनातरीन सोसाइटी में मैंने देखा कि तमाम लोग मजा के लिए रुपये, पैसे और पाई के लिए तग-व-दो कर रहे हैं। मैंने खयाल किया— क्या यही ईसाई जीवन कहलाता है। क्या मसीह ने यह तालीम नहीं दी थी सब से पहले वह सामान इकट्ठा करो जो नाकाबिल-ए-फना है, जिस को चोर कभी चुरा नहीं सकते, न ही दीमक खा सकती है और न ही जंग लग सकती है? क्या जर के लिए जिस वहशियाना तरीक पर यह तग-व-दो हो रही है, यह असली तरीक है या शायद तुमने समुद्र पार रहने वाले अपने भाईयों

से दुलहन देवता की यहूदियों के मोटे बछड़े की तरह परस्तिश करना सीखली है ?

और वे आज लाखों पाकबाज ईसाईयों के साथ हफ्ते में ६ दिन तक खुल्लम खुल्ला यह परस्तिश करते हैं और सातवें दिन सोते हैं। ये लोग रूहानी तौर पर खुदाबन्द के अयजाज में सोते हैं और रोने और आहें भरते हैं कि अफसोस ! उन्हें दुनिआवी दौलत काफी हासिल नहीं हुई जिस से वे अपनी जरूरियात को पूरा कर सकें। चुनांचे वे गिरजों में बैठ कर गीत गाते और दुआ करते हैं कि खुदा-बन्द ! उन्हें वह सब कुछ जो उनके पास नहीं है और जिसकी उन को जरूरत है, दे दे। उनकी अन्दरूनी बड़ी ख्वाहिश बिल्कुल माद्दी आशया के मुताल्लिक होती है। ये लोग अक्ल या पवित्र रोशनी के लिए प्रार्थना नहीं करते, न ही दिल-दिमाग की शुद्धताई और इन्सान और परमात्मा के साथ मुहब्बत के हिसूल के लिए मुल्तजी होते हैं। सिर्फ वे पहली चीज के लिए दुआ करते हैं या अपने लवाहकीन व मलका के लिए; और खुदा से इल्तजा करते हैं कि सब से पहले उन को बर्कत दे, दूसरों के साथ वह जैसा चाहे सलूक करे। यह पाक-बाजों और प्रार्थना करने वालों का गिरोह शायद ही कभी वह काम करने का खयाल करता हो, जो उनका मजहब बतलाता है कि उन का फर्ज-ए-अव्वलीन है। ये तमाम पादरी के साथ प्रार्थना करते हैं और बाकी सब आमीन कह कर घरों को शान्तिपूर्वक चले जाते हैं और खयाल करते हैं कि इस तरह उन्होंने अपने खुदा की तरफ और अपने साथी इन्सानों की तरफ जो फर्ज है पूरा कर दिया है। पर-मात्मा उन्हें माफ करें। उन को मालूम नहीं कि उन का फर्ज क्या है। यह है हमारे मजहबी और माली मामलात की हालत। मगरिबी यूरोप में आर्य लोग जो अपनी कौमी हालत को सुधारने की कोशिश कर रहे हैं, इन हालात से सबक सीख सकते हैं। और अगरचे यह कहा जा सकता है कि जो खाका मैंने खींचा है, उसे गहरा रंग दिया है, लेकिन मुझे यकीन है कि यह असल हालत के खिलाफ नहीं है और मैंने इसे सिर्फ इसलिये लिखा है कि आप इस से फायदा उठायें। एक कौम दूसरी कौम की गलतियों से सबक सीख सकती है और खुद उन से इहतराज करके फायदा उठा सकती है। परमात्मा हमारी मदद करें कि हमें बजाय इस दुनिया की माद्दी अशया के बेबुनियाद

इल्म के जो कि हमें बहुत ज्यादा हासिल है, हकीकी अक्ल हासिल हो, वर्ना इन्सानी दौड़ में हम बहुत बुरी तरह पीछे रह जायेंगे, क्यों कि इस दौड़ में सब से अच्छा घोड़ा जो लाजमीतौर पर जीतेगा, अक्ल है।

आओ, हम भाईयों की तरह अपनी अपनी पैदावार को यानी इल्म और अशया को बाहम तबदील करें, इस तरह कि दोनों में से किसी को धोखा न दिया जाय, बल्कि हर एक को मुनासिब मुनाफा हो या दूसरे लफ्जों में दूसरे फासले पर रहने वाली कौमों से दोस्ती का सम्बन्ध पैदा किया जाय। इस तरह बाहम तबादले के तरीक से, यानी एक नेकी दे तो दूसरा माल, दोनों को फायदा होगा, क्यों कि जिस सूरत में कि हमारी पैदावार जरूरत से ज्यादा है और दूसरे भाई को उसकी जरूरत है क्योंकि उसका मुल्क यह शय पैदा नहीं करता, उसको वह शय तबादले में दे देना और आप उसके हां की शय ले लेना दोनों के लिए मुफीद है।

बनी नो-ए-इन्सान का आलातरीन फर्ज ही यही है कि वे एक दूसरे की जरूरियात को पूरा करते हुए जिन्दा रहें, न यह कि सबसे अलग अलग अपने लिए ही जीएं। अगर हम इस कुदरती कानून की पैरवी करें और एक दूसरे को धोखा देकर न लूटें, तो इस दुनिया पर हम मुख्तलिफ अकवाम बतौर एक खुश व खुर्रम कुनबे के रह सकते हैं।

प्यारे स्वामी !

आप मेरे इस कदर बातें बनाने से यह न खयाल करेंगे कि मैं एक बेवकूफ हूं जो दुनिया से बहुत कम वाकिफ हूं। आप के और आप जैसे दीगर लोगों के मुकाबले में मैं जानता हूं कि मुझे इल्म की अभी किस कदर जरूरत है और निहायत सिदक-दिली से आप की और तमाम अक्लमन्द असहाब की इज्जत करता हूं जो हम से बद-र्जहा आला हैं और मेरी और तमाम दुनिया की ताजीम के मुस्तहिक हैं। मेरे आत्मा में आप के लिए आलातरीन पिदरात इज्जत है और सिदक-दिल से चाहता हूं कि काश! मैं आपके पास होता और आपके चरणों में बैठ कर आप के मुबारक मुखारबिन्द से अक्ल की बातें सुनता और सीखता। मैं अभी अक्ल व इल्म से बहुत कुछ खाली हूं, और अगर मैं आपके सामने बच्चों की तरह बात करता हूं, तो उसकी

वजह यह है कि मैं जानता हूं कि आप बुरा नहीं मानेंगे। काश ! मैं आप का रूहानी बेटा या शिष्य होता। मैं आप को यकीन दिलाता हूं कि उस सूरत में मुझे अज हद खुशी होती। हमको दरम्यान में हायल शुदा समुद्र अलग किये हुए है, लेकिन हमारे आत्मा बाहमी राह-व-रावता के लिए महदूद नहीं है। हम तबादला-ए-खयालात कर सकते हैं, बाहम मिल कर बनी नो-ए-इन्सान का कुछ भला कर सकते हैं। मेरी बड़ी भारी ख्वाहिश है कि मैं आप की नेकी और अक्ल का कुछ हिस्सा हासिल कर सकूं। मैं कोशिश करूंगा कि जहां से भी हासिल हो सके, उसे हासिल कर सकूं। आप के जीवन चरित्र से पेश्तर ही मेरी आत्मा पर बहुत असर हुआ है। उसने मुझे आत्मा हस्ती की जंग में अपनी कमजोरियों को बतला दिया है। मैं अब उस कीमती वक्त का जो मैंने बगैर ईश्वरीय ज्ञान के जाया किया और कुछ हद तक दुनिया बेबुनियाद खुशियों और खेलों में हिस्सा लेता रहा, बड़ा सख्त अफसोस है। काश ! आज से बीस बरस पहले मुझे आप जैसा कोई अक्लमन्द गुरु मिल जाता ! ऐसी हालत में इस वक्त तक मैं किस कदर तरक्की कर लेता। क्या आपका कोई होशियार शागिर्द है ? मेहरबानी करके उसे मेरे पास भेजें, ताकि वह मुझे और मेरे दोस्तों को उस ज्ञान की तालीम देवे जो उसने सीखा है। हम उस के बहुत मशकूर होंगे और मुआवजे में हम उस की खिदमत बजा लायेंगे जो वह हम से चाहेगा और उसे अपने उलूम व फनून सिखायेंगे। मैं उन लोगों के लड़कों को भी लेने को तैयार हूं जो मुतमव्वल नहीं हैं और सिर्फ उन की भारी आसायशों और उन की अपनी पोजीशन और रुतबा-ए-खाज के मुताबिक रखने और उनको उन आलातरीन अशखास से तालीम दिलवाने का जो हम में हैं खर्च अदा कर सकते हैं। जां बाद जहां तक हमारी आमदनी हमें इजाजत देगी, जब आप चाहेंगे, आपके चन्द एक आर्य तुलबा को जो गरीब लेकिन जहीन हों हम बहुत थोड़ा या बगैर कुछ लिए के ले लेंगे। इस तरह यह निहायत अच्छा काम होगा कि अमीर लोग गुरबा की मदद करें, ताकि वे भी उन की तरह हुनरमन्द और सनत व हिरफ्त में लायक हो सकें और समझदार आदमी जो सच्चे थियोसोफिस्ट हैं, इस तरीके पर अच्छी तरह बन्दोबस्त कर सकते हैं। क्या आप भी ऐसा ऐसा ही खयाल नहीं करते ?

मेरा दिल पेशीनगोई कर रहा है कि यूरोप को अन्धापन और

माद्दे की बुतपरस्ती से निकालने और उस ज्ञान की तरफ वापस आने के लिए मदद देने का काम आर्य लोगों की किस्मत में लिखा है, ताकि हमारे बच्चों की उस आसमानी बाप की तरफ रहनुमाई हो जिसने हमें इस दुनिया पर अपने आप को जानने और उसके पास उस की निस्बत ज्यादा अक्लमन्द होकर वापस जाने के लिए भेजा, जितने कि हम उसमें दाखिल होते वक्त थे, ताकि हम ज्यादा देर तक बेवकूफ नन्हें बच्चे ही न बने रहें जो खुद अपनी टांगों पर नहीं चल सकते, बल्कि यह कि उसके जो तमाम ऐसे लोगों को जो उसकी तरफ ऐसे आते हैं जैसे कि बच्चे अपने प्यारे बाप की तरफ, बच्चे बनें और उसकी अबदी दुनिया में उसके साथ रहें। शायद परमात्मा की ऐसी ही इच्छा हो कि तमाम दुनिया के लोग एक दफा फिर अखव्वत-ए-आमा की बिरादरी में मुत्तहद हों और बनी नो-ए-इन्सान के दूसरे उनसुरों को मुहब्बत और दोस्ती के साथ बगलगीर करें और आखिर सब को नेक रस्ते पर चलाकर दुनिया पर इन्सानों के साथ अम्न व अमान से रहने और खुदा के साथ प्रेम करने का सबक दें। मेरे दिल की आंख एक इस किस्म की तसवीर जमाना-ए-मुस्तकबिल में देखती है। क्या यह खयाल सही निकलेगा ? आप का इसके मुताल्लिक क्या खयाल है ? मुझे उस दिन को जल्द लाने के लिए कोशिश करने में खासी सरगरमाना दिलचस्पी महसूस होती है। मुझे इस बात की जरा परवाह नहीं कि मैं उस दिन को देखने के लिए जिन्दा रहूंगा या नहीं। परमात्मा आप को और हम सबको, जो उसकी मर्जी को पूरा करने के आरजूमन्द है, बर्कत दे।

मैं हूं आपका फरमांबरदार पुत्र,
जी० वाइज

—:o:—

[पूर्ण संख्या २१२] **पत्र**

शिमला ८ अक्टूबर सन् १८८० ई॰

बाबू छेदी लाल साहिब

मेरे प्यारे बाबू जी

यह चिट्ठी जो मैं आपको लिखती हूं वह आपकी अपेक्षा स्वामी

१. यह पत्र परोपकारी पत्र, पुस्तक १, अङ्क १ के पृष्ठ २५-२६ तक

जी से अधिक सम्बन्ध रखती है जो कि मुझको इस बात का निश्चय नहीं है कि स्वामी जी के पास योग्य और विश्वसित अनुवादक हो। इस लिये मैं आपसे प्रार्थना करती हूं कि कृपा करके इसका अनुवाद स्वामीजी के पास यथा सम्भव शीघ्र भेज दीजिये।

आप हमारे मित्र हैं और मेरा आप पर अन्य आर्य्य-सामाजिकों की अपेक्षा अधिक विश्वास है।

यदि आप अपनी अर्थात् आर्य्यों की बात अपने जी में ऐसी ही समझते हों जैसी कि मैं अपनी अर्थात् थियोसोफिस्ट की, तो आप इस को अतीव सावधानी से पढ़ेंगे और जब स्वामी जी का उत्तर आ जायगा तो मेरे पास भी भेज देंगे॥

बिदा के समय स्वामी जी ने यह वचन कहा था कि (तुम इस समय यह प्रतिज्ञा करो कि जब कभी कोई तुम्हारे पास आवे और कहे कि स्वामी जी ने तुम्हारे वा तुम्हारी सुसायटी के विपरीत ऐसा किया और कहा है तो तुम हमको त्वरित लिखना जिससे मुझको इस बात का अवसर मिले कि तुम्हारे जी में हमारी तरफ से कुछ अन्तर न पड़े और मैं तुमसे इसी प्रकार वर्तूंगा सो इस बात को मैंने स्वीकार कर लिया था और जब वही समय आगे आया है। मैंने उनसे यह प्रतिज्ञा भी की थी कि जो मनुष्य आकर स्वामी जी के विषय में कुछ भी कहेगा कि जिससे हमारे उनके बीच में मेल और मित्रता की जगह शत्रुता उत्पन्न हो तो मैं कभी विश्वास न लाऊंगी जब तक स्वामी जी के मुख से भी न सुन लूंगी और अब भी आगे को ऐसा ही करूंगी। परन्तु इस वर्त्तमान विषय में न तो मुझसे किसी ने कहा है और न यह सुनी सुनाई गप्प है परन्तु मैं निश्चय जानती हूं कि यह बात अवश्य हुई और मैं जानना चाहती हूं कि स्वामी जी इस का क्या उत्तर देते हैं॥

मेरठ आर्य्यसमाज के द्वितीय वार्षिक उत्सव में कि जो अभी हुआ है और जिसमें और भी समाजों के सभासद् आये थे स्वामी जी ने सब के सम्मुख अपने व्याख्यान में ये अद्भुत शब्द कहे थे कि जब

छपा है। हमने वहीं से लेकर इसे छापा है। इसका उत्तर ऋ० द० ने मार्गशीर्ष बदि ६, मंगलवार (= २३ नवम्बर १८८० के पूर्ण संख्या ५०० (भाग १ पृष्ठ ५५३, द्र० पं० ८-९) के पत्र में दिया है।

और किसी समाज वा सुसाइटी के सभ्य आर्य्यसामाजिकों से उस सुसाइटी में भरती होने के लिए कहें तो इनको यह उत्तर देना चाहिये कि जो नियम और उद्देश्य आर्य्यसमाज और उस सुसाइटी के एक ही है तो उसमें शामिल होने से कुछ लाभ नहीं परन्तु जो इस सुसाइटी के नियम आर्य्यसमाज के नियमों से पृथक् है तो आर्य्यसामाजिकों को कहना चाहिये कि आर्य्यसमाज के नियम हमारे विचार में अखण्डित हैं इसलिये उस दूसरी सुसाइटी में कि जिस के नियम खण्डित है क्योंकि वह हमारे नियमों से विरुद्ध हैं शामिल होने की आवश्यकता नहीं ॥

यथार्थ में अभ्रान्त शील पोप रोम का इससे अधिक और क्या कहता वास्तव में स्वामी जी जो कि अहङ्कारी पोप जी अर्थात् गर्वित ब्राह्मणों के दम्भ के विरुद्ध हैं उनका तात्पर्य यह कभी न होगा। जो उन्होंने कहा।

उन्होंने यह भी कहा कि अन्य देशियों के समाज में मित्रता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता जैसा कि आर्य्यसमाज में जिसके सभासद एक ही देश और एक ही मत के हैं और फिर दूसरे दिन यह कहा कि हम अर्थात् थियोसोफिस्ट लोग आर्य्यसामाजिकों को अपनी सुसाइटी में भरती करने के लिये उद्योग करते हैं और कभी कोई आर्य्यसामाजिक से कहे कि तुम शामिल हो तो उसको वही उत्तर देना चाहिये जो मैंने पहिली रीति को कहा और थियोसोफिस्टों को ऐसा करना अनुचित है आदि।

अब इसके क्या अर्थ है हमने कब किसी आर्य्यसामाजिक को कदाचित् तुम्हारे अर्थात् (छेदी लाल) के सिवाय अपनी सुसाइटी में मिलाने के लिये उद्योग किया। परन्तु हां बम्बई लाहौर और और जगह के आर्य्यसामाजिक लोग हमारी सुसाइटी में है परन्तु हमने उनसे शरीक होने को कभी नहीं कहा और जो हमारे नियम आर्य्य-समाज के नियमों से प्रतिकूल हैं तो केवल यही कि जहां हम थियोसो-फिस्ट के प्रत्येक सभ्य के धर्म्म की प्रतिष्ठा करते हैं और प्रत्येक अन्य-मतावलम्बी को चाहे वह सामाजिक हो वा ईसाई हो अथवा मूर्तिपूजक हो शामिल करते है और कभी हम अपने सभासदों के मत और धर्म में हाथ नहीं डालते और स्वामी जी स्वमतवादी हैं अर्थात् जो उनको धर्म्मविषयक विचार है वही सामाजिकों का। और यह

सभासद् होने का नियम आवश्यक है और हम स्वामी जी और प्रत्येक सामाजिक को अपना मुख्य भाई समझते हैं।

और कोई बात उनकी थियोसोफिस्ट होने में निषेधक नहीं हो सकती (यहां तक कि स्वामी जी भी ढाई वर्ष से हमारे सबसे उत्तम सभासदों में से एक हैं और हमारे बहुत से अंगरेजी और अमरीका के सभासदों के गुरु हैं) कि जिस से उनके सभासद् होने से वैदिक धर्म्म में अन्तर आ जावे।

जैसे कि मैं ईश्वर को कर्त्ता, धर्त्ता नहीं मानती हूं आपकी समाज में भरती नहीं हो सकती तो भ्रातृत्व कि जिससे अधिक लाभ है किस में रहा? सबसे उत्तम और गौण भ्रातृत्व कौन सा है और मुख्य कौन सा? वह कि जिसमें सब मनुष्य भरती हो सकते हैं वा वह कि जिस में भ्रातृत्व स्नेह और रक्षा थोड़े मनुष्यों की हो॥

यह स्वामी जी के वाक्य अद्‌भुत हैं और एक प्रकार का हमारी तर्फ से उनके जी में भेद डालते हैं।

अब तक मैं जानती थी कि सब सामाजिक और थियोसोफिस्ट निश्चय भाई हैं। और इस बात का स्वामी जी ही ने कि जब से हमारा उनका मेलमिलाप हुआ है अधिक प्रचार किया है। और इसी विषय में सब सामाजिकों को भी चिट्ठियां लिखीं और व्याख्यानों में भी वर्णन किया। हमारे लन्दन और अमरीका के मिंबर आर्य्यसामाजिकों को अपना भाई मानते हैं परन्तु जो अंग्रेज हिन्दुस्तान में हमारे मिंबर है वह ऐसा नहीं जानते। वह अंग्रेज जो यहां हम में मिले हैं और विशेष करके वह प्रधान लोग जो शिमले में हैं कहते हैं कि हम थियोसोफिकल सुसाइटी के सब मिंबरों को चाहे वह हिन्दुस्तानी हों चाहे अंग्रेज भ्रातृत्व स्नेह वर्तने को उद्यत है परन्तु वह कहते हैं कि हम इसका कोई दृढ़ हेतु नहीं देखते कि स्वामीजी के अनन्तर और सामाजिकों से भी वैसा ही वर्तें। और स्वामी जी से भ्रातृत्व स्नेह वर्तने का यह कारण है कि वह बहुत से गुरुप वाले भाइयों के गुरू हैं।

यही शब्द मुझसे कल एक नवीन सभासद् ने कि जो दैनिक समाचार दफ्तर का प्रधान है कहा था।

और इसी हेतु से मैंने तुमसे अर्थात् (छेदीलाल से) और दो एक लोगों से भरती होने के लिये सम्मति दी थी ॥

रही यह बात कि और आर्य्यसामाजिक हमारें में मिलें वा न मिलें कुछ परवा नहीं इसमें उन्हीं की और कदाचित समाजों की हानि है।

यहां हमारा सर्वथा अभीष्ट सिद्ध हुआ मेजर हंडरसन ने जो कि पुलिस के सबसे बड़े अफसर हैं हमारी सुसाइटी में मिलने के समय कहा कि मैं केवल इस हेतु से इसमें मिलता हूं कि इस सुसाइटी में बड़े-बड़े लाभ पहुंचे है उन्होंने कहा कि अठारह महीने में तुमने और कर्नल अलकाट ने वह बात प्राप्त करली कि जो हम अंग्रेजों ने बहुत वर्षों में नहीं कर पाई और यह भी कहा तुम अब उस खाई को जो हिन्दुस्तानी और अंग्रेजों के बीच में है पाट रही हो और उन लोगों की हम तुम्हारे सबब से अधिक प्रतिष्ठा कराने लगे और हम से वह घृणा छोड़ने लगे।

वह हमारे काम सुप्रतिष्ठित और श्रेष्ठ कहते हैं और मुझे आशा है कि वह भी ऐसा दिखलायेंगे जैसा उनका विचार है परन्तु उन्होंने जब कि स्वामीजी का प्रस्ताव चला तो कहा कि स्वामीजी की सम्मति थियोसोफिस्ट की सी नहीं है और उनका विचार विपुल और अनिषेधक नहीं है और आर्य्यसमाज एक ईश्वर को कर्त्ता, धर्त्ता मान्ने वाला जथा है तो हम क्यों उनको भाइयों के सदृश जानें।

इसलिये अब आप विचार कर सकते है कि थियोसोफिकल सोसाइटी आर्य्यसामाजिक लोगों के भरती न होने [से] उसको न कुछ हानि है न लाभ परन्तु उनका अर्थात् आर्य्यसामाजिकों का अवश्य है जैसा कि आप देखेंगे परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमने स्वामी जी के सामाजिकों को कभी मिलाने में उद्यत किया हो क्योंकि हमने कभी किया ही नहीं इस हेतु से कि थियोसोफिस्ट हो वा न हो आर्यसामाजिक निश्चय अर्थात् मेरा और कर्नल आलकाट का भाई है परन्तु स्वामी जी ने अपने इन शब्दों से प्राय: सामाजिकों के जी हटा दिये होंगे अच्छा इस विषय में उनको अधिकार है।

हम यहां से २० अक्टूबर को प्रस्थान करके अमृतसर को जायेंगे और वहां से दर्बार के दिनों में लाहौर को, उसके पश्चात् दिल्ली और काशी को कि जहां के राजा ने बुलाया है जायेंगे हमने यहां बहुत से नये मिम्बर अपने में मिलाये है औरों के सिवा मेजर हंडरा-

सन, कप्तान मेटलैण्ड, कप्तान बीटसन डाक्टर जानसन, कप्तान मेसी, मेजर स्टुट, मिस्टर डेबीसन, मिस्टर चो, मिस्टर ह्यूम आदि। हम को लोग घेरे रहते है कल सन्ध्या के समय कर्नल अलकाट गवर्नर जनरल की दावत में गये थे —परसों रात को ह्यूम की दावत में लाइल साहिब और उनकी मेम हमारे बड़ी मित्र हैं और अभी वह कन्धार को गये है—मिस्टर हाग जो सारे हिन्दुस्तान के डाकखानों के अफसर है वह और बहुधा गवर्नर जनरल की कौनसिल के मिम्बर जैसे ग्रैन्ट साहिब और फिट्ज पैटरिक भी मित्र हैं दो जनरल भी हमसे मिलना चाहते है आज का पायुनियर जो पहुंचेगा उसको पढ़ना उसमें कुछ चुट कलह मेरे मध्ये कई साक्षियों के नाम सहित पाओगे। कृपा करके इस सब चिट्ठी का उलथा करके स्वामी जी के भेज देना मैं यह जान्ना चाहती हूं कि वह इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं अथवा हम वह परस्पर मित्र रहेंगे वा अकस्मात् शत्रु बन जायंगे बस यह मैं जान्ना चाहती हूं। चुन्ना लाल को मेरी तरफ से प्यार करना और शिवनारायण और औरों को मित्रभाव॥

अलमिति

हस्ताक्षर मंडम ब्लावैट्स्की

—:o:—

[पूर्ण संख्या २१३] पत्र-सूचना

[पं० भीमसेन का पत्र][1]

आश्विन सुदि ७ रविवार[2]

—:o:—

[पूर्ण संख्या २१४] पत्र

२८६

१९, अलबर्श टी० एच वीजबेडन[3],

[१०][4] अक्तूबर १८८०

---

१. इस पत्र की सूचना और तारीख का निर्देश ऋ० द० के पूर्ण संख्या ४७६(भाग १, पृष्ठ ५३१) के पत्र में मिलती है।

२. १० अक्टूबर १८८०।

३. यह पत्र मास्टर लक्ष्मण जी द्वारा सम्पादित उर्दू जीवनचरित, के परिशिष्ट ९, पृष्ठ २८६ पर उद्धृत है।

४. यहां तारीख का निर्देश नहीं है। जी० बाईज के अगले १७ अक्टूबर

सबसे ज्यादा प्यारे उस्ताद,

९ तारीख के पोस्ट कार्ड में जो चन्द सतूर आपने बराह-ए-महरबानी मुझे लिखी हैं[1], उन से जाहिर होता है कि कमेटी और कई फाजिल अशखास की यह राय है कि नौजवान आर्यों को यूरोप में मुफीद सनत व हिरफत सीखने के लिए भेजना जरूरी नहीं हैं। बिला शुबा अगर आपके हम-वतनों को वह तमाम कुछ हासिल है, जो कि मेरा खयाल था कि वह यूरोप व जर्मनी से सीखना या हासिल करना चाहते हैं, तो यह बिल्कुल दुरस्त है कि उन्हें अपनी मदद आप करनी चाहिये और इस मामले में अपने जराया पर इनहसार रखना चाहिये। अपने आप पर मुनहसर होने से बढ़ कर कोई चीज नहीं है, लेकिन ताहम जैसा कि अक्लमन्द असहाब देख सकते है, कई बातें ऐसी होंगी जो हमारे पास आपकी निस्बत बहतर हैं और जो आप के लड़के हमारे यहां आ कर उन की माहयत मालूम कर के उन के बनाने का तरीका सीख कर खुद बना सकेंगे। इस मकसद के लिए जहां तक हमारी ताकत में है, हम उन की मदद करने के लिए तैयार हैं और बखिलाफ इस के मुआवजे में हम आप से या आप के लड़कों से वे खूबियां सीखने के लिए तैयार हैं जो उन्हें बवजह आर्यन फिलासफी और आप की तालीम के हासिल हैं और आप से और हिन्दुस्तान के दीगर अक्लमन्द असहाब से जिन के पास इन्सानी और खुदाई राज को हमारे मौजूदा साइंसदानों और फिलासफी की निस्बत बहतर तौर पर जाहिर करने और समझाने की कुञ्जी है, तालीम हासिल करने के लिए तैयार हैं।

गोया कि इस तरह हिन्दुस्तान और जर्मनी के माद्दी खजाने और रूहानी खजाने का बाहम तबादला हो जायेगा और दोनों को आखिर-उल-अमर इससे फायदा होगा। आप के मुल्क में सनत व हिरफत और कारीगरी की, जिस के जरिये कि वह अपने मुल्क की जरूरियात को बहम पहुंचा सके, किल्लत है। पस अगर आप उन जराया को (उन अशया को इन अकवाम की मदद के बगैर तैयार

१८८० के पत्र में इस चिट्ठी को लिखने की तारीख १० अक्टूबर लिखी है। उसी के अनुसार हमने यहां छापा है।

1. यह पोस्टकार्ड ऋ० द० ने ९ [सितम्बर ?] १८८० को भेजा था। द्र०— पूर्णसंख्या ४५९ (भाग १, पृष्ठ ५१०)।

करने के जराया को जो अब खुद फायदा उठाकर आप को ये अशया मुहिया करती हैं) गुजार लेना चाहते हैं, तो हम आप को खुश आमदीद कहते हैं। अगर आप सनत व हिरफत में तरक्की करेंगे और हम दीगर अमूर में तरक्की करेंगे, तो हमें आप की तरक्की पर कोई हसद न होगा। जो शख्स आप के हमवतनों की खिदमत करना चाहता है, वह कोई माद्दा परस्त या रुपया-पैसा इकट्ठा करने वाला नहीं है जैसा कि आपके दीगर दोस्त हैं। जर्मनी में मेरे दोस्त और मैं आप को गैर नहीं समझते, बल्कि हम आप के हकीकी चचाजाद भाई हैं, न सिर्फ मांस और खून के रिश्ते से बल्कि रूहानी तौर पर भी। यह अमर कि आपने या मेरे बुजुर्गों की भूमि ने हमारे बुजुर्गों के उन नाकाबिल-ए-फना खजानों को हम लोगों की निस्बत, जिनके बाप-दादा इन सरजमीनों को, जिन में उस वक्त महज वहशी लोग आबाद थे, फतह करने और तहजीब फैलाने के के लिए चले आये, बहतर तौर पर महफूज रखा है। अब मेरे लिए या दूसरों के लिए जिन्होंने प्राचीन जमाने की तारीख को खूब मुतालया किया है और इस मजमून के मुताल्लिक बजाय आक्सफोर्ड या किसी और प्रोफेसर की रायें मालूम करने के अपने दिल में गौर किया है, को हल-तलब मुअम्मा नहीं रहा।

हमारा विश्वास इन्सानी बुजुर्गी में इस कदर नहीं जिस कदर कि हमारे बुजुर्गों का था। हम जानते हैं हमारे फाजिल और आकिल इन्सानों में कोई भी मुबर्रा-अज-खता नहीं और पोप तो बिल्कुल खता से खाली नहीं, जिसको कि लाखों अन्ध विश्वासी निर्भ्रान्त तसव्वुर करते हैं।

नेचरल हिस्ट्री के यूरोपियन प्रोफेसरों का खयाल है और वे इसे बेफायदा साबित करने की कोशिश करते हैं कि इन्सान बालों वाले दरिन्दों की, जिनकी दुम भी थी, औलाद है। इन्सानी पैदायश के मुताल्लिक इस लायानी मसले में भी जर्रा भर सचाई हो सकती है। दर हकीकत बहुत आदमी बन्दर ही हैं, सिवाय इसके कि उनके बाल और दुम नहीं हैं। लाखों इन्सान सिर्फ अपने से बड़े इन्सानों की नकल करना ही जानते हैं। ये लोग अपने लिए आप काम नहीं करते और न सोचते हैं, बल्कि बन्दरों की तरह दरख्त पर बैठे हुए दीगर बन्दरों की नकल करने पर ही इकतिफा करते हैं। यह है दुनिया की हालात। मैं निहायत रहम से भरे हुए दिल के साथ इस बात को

तसलीम करता हूं—क्या ही अच्छा होता अगर थोड़ा वह आला फलसफा और ज्ञान बनी नो-ए-इन्सान का हासिल होता जो कदीम जमाने में हिन्दुस्तान में आया था और उम्मीद है अब भी वहां चन्द अशखास ने जिनके पास इस खजाने की किलीद है, इसे संभाल कर रखा होगा। ख्वाह उनकी जान चली जाय, इसे खोने के लिए तैयार न होंगे। लेकिन सनती माल की तरह ज्ञान रुपये से हासिल नहीं हो सकता, न ही खरीदा जा सकता है, बल्कि सिर्फ आत्मा, मन और आत्मिक शक्ति से काम करने से ही हासिल हो सकता है। जहां तक मुझे मालूम है इसके हिसूल का और कोई जरिया नहीं। असलहजात, माल-असबाब और खजानों के हिसूल के लिए हमारे लिए सब से बढ़कर जरूरी अमर यह है कि इन्सान आत्मा और जिस्म को साथ के साथ मजबूत बनायें, क्योंकि कामयाबी का यही राज है।

हमें अपने बच्चों को मौजूदा तरीके की निस्बत ज्यादा ज्ञान के लिए और बहतर तरीके से तालीम देनी चाहिये। अगर हम किसी दरख्त से फल लेना चाहते हैं, तो हमें निहायत अहतियात से जमीन की काश्त करनी चाहिये और जमीन को खोदना चाहिये, उसमें मुनासिब खाद डालना चाहिये और नुकसान पहुंचाने वाले कीड़ों मकोड़ों से उसे पाक करना और खस व खाशाक से साफ रखना चाहिये, जो उस के निहायत कीमती फल लाने में हारिज हो रहे हैं। बस यही तरीका इन्सानी तालीम के दरख्त के मुताल्लिक हमें बर्तना चाहिये। जितना हम उसकी अहतियात करेंगे और उसे काश्त करेंगे, उतना ही ज्यादा फल हमें हासिल होगा। यह एक मदल्लल बात है। आओ, हम इस पर अमल करें। आओ, हम इत्तहाद और अखुव्वत के निहायत पवित्र काम को मुत्तहद हो कर करें, और सिर्फ उसी परमात्मा की तरह निगाह रखें जिस ने सब को पैदा किया और जिस में जा कर तमाम कायनात मुत्तहद हो जाती है। और आओ, हम उसी प्रभु की स्तुति करें जो अनादि काल से हमारा पिता है और जो अपने मातृवत् प्रेम में तमाम मौजूदा और होने वाली अशया को मुत्तहद किये हुए है, जो उस वक्त तक हमारी समझ में नहीं आ सकता, जब तक कि हम अपने आपको उस की भक्ति में लीन नहीं कर देते या उन लोगों को जो उस के मुस्तहिक हैं उसकी अबदी गर्ज के मुताबिक इस रास्ते की तालीम नहीं देते।

मैं अपने दिल से इस खयाल को दूर नहीं कर सकता कि आप जैसे और आप के खयालात वाले आर्यों से मिलने से हमें कुदरती तौर पर निहायत कसीर फायदा हासिल होगा। हम हर मामले में अपने बेनजीर काबिल-ए-तक्लीद आचरण से अपने हमसायों को तरगीब देंगे और मजबूर करेंगे कि वे हमारी पैरवी करें, खास कर इस सूरत में जब कि जर्मनी और हिन्दुस्तान भर के बहतरीन उनसुर इन्सानी तालीम के बयान करने में जिसे हम फलसफा कहते हैं, बाहम मिल कर काम करेंगे। हमें उसूल से मतलब है न कि काम से। उसूली तौर पर जर्मनी में मेरे खयाल के आदमी और वे जो आप की फहरिस्त में दाखिल हैं, थियोसोफिस्ट कहलाते हैं। इत्तफाक और इत्तहाद से हम रूहानी तौर पर दुनिया को फतह कर सकते हैं और माद्दियत को, अगर हम मजबूत दिल व इरादे के होंगे तो बहुत पीछे छोड़ जायेंगे।

सोसाइटी की आला जमाअतों में सख्त तकलीफ के बावजूद बनिस्बत अदना जामअतों के मुझे ज्यादा कामयाबी नहीं हुई। जो आत्माएं माद्दियत और सोसाइटी के ख्वाहिशात से आलूदा शुदा नहीं हैं, कुदरती तौर पर वे पवित्र सरचश्मे से सत्य को ग्रहण करने के लिए खुली हो जाती हैं। परमात्मा सिर्फ उन की मदद करते हैं जो उस की मर्जी के मुताबिक चलते हैं और बनी नो-ए-इन्सान का उपकार करने में मसरूफ होते हैं। मुझे जरा भी शक नहीं कि आखिर हमें कामयाबी होगी और जबकि हम जमीन को काश्त करने में सख्त महनत करके उसे तैयार कर जायेंगे, हमारी औलाद उस का फल खायेगी।

इन्सानी खुशी और कनाअत की अगर कोई किलीद है, तो वह काम और सख्त दयानतदाराना काम है जो हमें अपनी और दूसरों की भलाई के लिए करना चाहिये। जो शख्स महसूस करता है कि सफह-ए-जमीन पर उस का अपने परमात्मा और इन्सान के प्रति क्या फर्ज है, वह भोग-विलास पर काम को तरजीह देता है।

मेरा खयाल उन आर्य तुलबा के मुताल्लिक, जिन्हों ने यूरोप में जाकर मुख्तलिफ फनून की तालीम हासिल करनी थी, यह था कि औसतन वे मुतमव्वल वालदेन के लड़के होंगे, जो उन को बहतरीन तालीम दिलाने का खर्च अदा कर सकेंगे। शायद मैंने उनकी आम-

दनियों का ज्यादा अन्दाजा लगाया है। हो सकता है कि उन का कसीर हिस्सा अमीर न हो। जब मैंने उनकी रिहायश और तालीम के खर्च के मुताल्लिक पहले हिसाब किया था, उस वक्त यह अमर मेरे खयाल में न था। अमीर अंग्रेज लोगों के लड़कों को, जैसे कि अब मेरे पास हैं, सामान-ए-आसायश (ताय्युश) की ज्यादा जरूरत होती है, जिस पर खर्च भी ज्यादा उठता है, लेकिन हमें उनके लिए यह सब कुछ मुहिया करना पड़ता है, क्योंकि लड़के और उनके वाल-देन उसके आदी हो चुके होते हैं और उनके लिए रुपया अदा करते हैं। हिन्दुस्तान के [लड़के] आसायशों और सामान-ए-ताय्युश के मुताल्लिक किफायत-शार और सादा होंगे। इसलिए बनिस्बत अमीर अंग्रेजों के लड़कों के उनको रिहायश वगैरह पर बहुत कम खर्च होगा। अगर ऐसा ही मामला है, तो मैं आर्यों के लिए अपनी शरायत-ए-खर्च को उनकी हालत के मुताबिक कम करने को तैयार हूं, ताकि वे लड़के भी हमारे पास आ सकें जिनके वालदेन अमीरों जितना रुपया अदा नहीं कर सकते। अगर हमें मालूम हो जावे कि उनकी जरूरियात क्या होंगी और वे हम से क्या कुछ चाहेंगे, तो हम काबिल-ए-इतमीनान तौर पर अखराजात के मुताल्लिक आसानी से फैसला कर सकेंगे। हमसे जो कुछ हो सकेगा, हम आर्यों को अपने हां लेने के लिए करेंगे और हत्तुल-मकदूर उन की मदद करेंगे, क्योंकि हमें इससे रूहानी फायदा हासिल होगा और हमारा खयाल है कि हमारे अपने नौजवान लडके उनके आला अखलाक और आचरणों से फायदा उठायेंगे और वे हमारे लड़कों के लिए एक काबिल-ए-तकलीद मिसाल होंगे। मैं आप को सिदक दिल से कहता हूं कि हमें माद्दी मुनफियत का मुतलकन खयाल नहीं। मैं माद्दियत और दुनियावी अशया से नफरत करने वाला हूं' चुनांचे मैं ने उनके हिसूल के लिए मुद्दत से कोशिश करना छोड़ दिया है। मेरा मुन्तहा-ए-मकसूद गैर माद्दी और लाफानी खजाने हैं। आर्य तुलबा को अपने पास रखने से जो माद्दी नफा या बचत मुझे हासिल होगी, मैं बड़ी खुशी से उनकी खास तरक्की के लिए उनको अपने मुल्क की बहतरीन तालीम दिलाने में खर्च करने के लिए तैयार हूं। जिन मुकामात में एक आर्य तालिब-ए-इल्म भी दस्तकारी या दूसरा हुनर उन बहतरीन उस्तादों की जेर-ए-निगरानी जो जर्मनी में मिल सकते हैं, सीखता होगा, मैं उन शहरों में खुद सफर किया करूंगा और देखूंगा कि हमें

यह इज्जत हासिल हो कि हमने आलातरीन जराया से जो कुछ हो सकता था, उससे काम लेकर आलातरीन शागिर्द तैयार किये हैं। मेरे शागिर्दों की कामयाबाना तरक्की ही मेरा सब से बड़ा मुआवजा है जिसकी आज ख्वाहिश है। और कई शागिर्दों से मैं यह मुआवजा हासिल कर चुका हूं और जो कुछ मैंने उन्हें सिखाया है, उसके लिए वे अब तक मेरे मशकूर है। चुनांचे मेरे पास कई ऐसी चिट्ठियां हैं जो मेरे शागिर्दों ने मेरे पास से जाने के बाद खुद-बखुद मुझे बतौर इज-हार-ए-शुक्रिया लिखी हैं। बस इन्सानी इजहार-ए-शुक्रिया और अय-तराफ-ए-खिदमत के यही निशान हैं, जिनके लिए मैं फख्र करता हूं और मैं उनका बिल्कुल गैर मुस्तहिक भी नहीं हूं। आर्यों को भी उनकी पवित्र नेकी और ज्ञान के लिए जो उन्हें उन अक्लमन्द उस्तादों ने जो आम यूरोपियन उस्तादों से सिवाय चन्द एक मुस्त-स्नियात के जिन का काम बहुत महदूद है और दूर तक नहीं फैला, कहीं बढ़ कर हैं, उन्हें सिखाया है। चूंकि इन्सान जिन्दा मिसाल से ज्यादा मोस्सर तौर पर शिक्षा ग्रहण करता है बनिस्बत किताब या कलाम के जो हमारे यहां बहुत हैं, इस लिए मैं उस दिन की प्रतीक्षा करता हूं जब कि आर्यों के आला आचरणों और पवित्र मिसाल से जर्मन नौजवान भी उस आला खूबी को हासिल करेंगे जो कि नौ-जवानों के लिए निहायत बेशबहा है। मैं उन तुलबा के लिए अपना तमाम वक्त सर्फ करके काम करने को तैयार हूं जो ख्वाह माद्दी तौर पर मुझे कम मुआवजा देते हों, लेकिन रूहानी तौर पर कहीं ज्यादा करते हों और खुद दूसरों के लिए नमूना हों। इसलिए आप से प्रार्थना करता हूं कि आप कमेटी की परवाह न करें। कसरत-ए-राय आम तौर पर सही नतायज पर नहीं पहुंचा करती, अगरचे अकेले-अकेले हर एक शख्स कितना ही होशियार और मुदल्लल क्यों न हो। हो सकता है कि कमेटी आखिर एक दिन अपने मौजूदा खयालात को तबदील कर दे और मेरे और आप के साथ बिल्कुल मुत्तफिक उलराय हो जावे। बहुत से बावर्ची खाना खराब कर दिया करते है। अगर आला तालीम पर रुपया खर्च किया जावे, तो वह जाया नहीं जाता। इसलिए आप अपने तुलबा को मेरे पास भेजने में ताम्मुल न करें। हम उन को उनकी शरायत पर ही लेने को तैयार

हैं। सब से ज्यादा प्यारे स्वामी, मेरी बात पर यकीन करें और अपने रूहानी दोस्तों से पूछें कि क्या मैं सच कहता हूं या नहीं और कि वे मुझ पर विश्वास करते हैं या नहीं। परमात्मा हमारी मदद करें।

जी० वाइज

मेरे खयाल में आर्य तुलबा के वालदेन की तादाद-ए-कसीर पन्द्रह सौ रुपये सालाना अपने लड़कों की यूरोप में चन्द साल तक तालीम के लिए दे सकेंगे। यह रकम सब से कम है जो हम नौ-उम्र अंग्रेज तुलबा से चार्ज करते हैं, क्योंकि वे हम से खास मुतालबात नहीं करते। इस रकम पर हम आपके शागिर्दों को ले सकते हैं, अलबत्ता जो अमीर आदमी हैं और जिनकी जरूरियात अमीराना हैं, उनको हर सूरत ज्यादा देना पड़ेगा।

—:०:—

[पूर्ण संख्या २१५] **पत्र-सूचना**

[मुंशी बख्तावरसिंह का पत्र][1]

१२ अक्टूबर [१८८०]

—:०:—

[पूर्ण संख्या २१६] **पत्र**

आर्यसमाज।[2]

मुंबई आश्विन शुक्लपक्ष[3] भौमवार संवत् १९३६[4]

अंक ता० १२ अक्टोबर १८८०[5]

---

१. इस पत्र और तारीख की सूचना ऋ० द० के पूर्ण संख्या ४७६ भाग १, (पृष्ठ ४३१, पं० ११) के पत्र से मिलती है।

२. यह पत्र महात्मा मुंशीराम सम्पा० पत्र व्यवहार पृष्ठ २४५-२४८ से लिया है।

३. यहां तिथि का निर्देश नहीं है। १२ अक्टूबर को नवमी थी।

४. यह संवत् गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है। उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार सं० १९३७ समझना चाहिये।

५. महात्मा मुंशीराम स० पत्रव्यवहार पृष्ठ २४५ पर सन् १८९० छपा है। वह लेखक की भूल प्रतीत होती है। यहां १८८० चाहिए, यह संवत् निर्देश से स्पष्ट है।

प्रिय आप्त

नमस्ते। आपका कृपापत्र[1] मेरठ से लिखा पहुंचा पढ़के बड़ा आनन्द हुआ और कितनेक सभासदों को भी पढ़ाया इन्हों को भी बड़ा आनन्द हुआ और आपके वचनामृत सुनने की बड़ी अभिलाषा हुई। बहोत दिनों से हम आपके संसर्ग की इच्छा रखते हैं परंतु हम को मुनशी समथदानजी के द्वारा विदित हुआ कि स्वामीजी अभी मुंबई आने को नहीं चाहते जिससे हम लोगों ने निश्चिय किया कि स्वामीजी वाह् भी देशोन्नति के कार्य में विशेष प्रवृत्त हो रहे होगे जिससे विशेष आग्रह करके बुलाने से और भी हानी होगी जई से अहमदाबाद से बुलाने से हुई जिससे हमने कुच्छ दिन आपकी इच्छा की राह देख रहे थे क्योंकि हमारी अभिलाषा तो आप ने मुनशी जी के द्वारा पढ़ी होगी और आलकट साहेब को भी हमने कहा था। मुंबई के हाल आप अच्छि तहरा जानते हो कि—आपका आनेका निश्चिय ही हो तो आप के उतरने के लिए योग्य स्थान और व्याख्यानादि होने के लिए घटीत द्रव्य भी आगे से संचकर रखना चाहिए और आपका पधारना सुन के सभासदों में उत्साह भी बढ़े जिससे चाहिए इतना द्रव्य भी संच हो सके और समाज की उन्नति भी होवे जिससे फिर आप दो चार वर्ष न पधार सको आवश्यकता नहीं। यह निश्चय है जब तक आप फिर न पधारोंगे तब तक समाज विशेषोन्नति को प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि कार्य करने वाले बहोत कम है अपना तन मन धन लगाके करें, वाक्य-विलास करने वाले बहोत हैं परन्तु इससे उन्नति नहीं मात्र पोपों के बहकाने से विरोध बढ़ता है तो भी आनन्द की बात है कि आर्य सिद्धांत से कोई छूटता नहीं क्योंकि आपके सत्य व्याख्यान और पुस्तक सुन पढ़ के जो जो निश्चय हुआ है पोपों की क्या सामर्थ कि स्वार्थि उपदेश करके भ्रष्ठ कर सके परन्तु टके की बात में हट जाते हैं जिससे विशेष उत्साह की उपेक्षा है आप कृपा करके कब पधारोंगे लिख भेजना जिससे समय में हम प्रबन्ध कर ले क्योंकि अभी हमारी चित्तवृती आपके चरणों में लग रही है सो हम को कब आपके दरशन हो। केशवलाल

१. यह पत्र हमें उपलब्ध नहीं हुआ 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' के पूर्ण संख्या ४५१ (पृ० ४९९) पर सेवक लाल कृष्णदास के इसी पत्र के आधार पर पत्र-सारांश छापा है।

के हिसाब के कागज मीले परन्तु मुनशी सा० बख्तावरसिंहजी की संमती लेने के लिए बनारस को इन्हका हिसाब भेजा है सो पुनः अभी तक नहीं मीला आने से सब दिखाला हो जायगा। हॉनरएबल राव बाहदुर गोपालराव हरिदेशमुख पुने को पधारे जब ही आपके दोनो पत्र ले गये हैं जिन से राव बाहदुर महादेव गोविंद रानेडे को भेजे होंगे हमने आप को शीघ्र प्रत्युत्तर भेजने के लिये लिखा है।

कार्य्यालय बांधने के लिये रु० १५०० के आसरा सभासदों ने पटी भरी है परन्तु अब तक लिये नहीं राव बाहदुर के पधारने पीछे व्यवस्था होगी और आज हमने रु० २४१) फरखाबाद को शिघ्र वेदभाष्य के माहात्म्य मे भेजे हैं और वेदभाष्य के ग्राहकों से चन्दा वसूल करने को हम बहोत मेहनत करते है रु० १०० मुनशी बख्तावरसिंहजी को भेज दिये और थोड़े दिनों में और भी भेजने को शक्तिवान हो सकुंगा इस की कुच्छ चिंता नहीं। सब समाजस्थों के बहोत बहोत नमस्ते पहुंचे और कृपा करके प्रत्युत्तर शिघ्र लिखना।

मैं हु आप का आज्ञांकित् सेवक
सेवकलाल कृष्णदास मन्त्री आर्य्यसमाज, मुंबई

वेद शास्त्र संपन्न
श्रीमद् पंडित् दयानन्द सरस्वती स्वामीजी की सेवा में पहुंचे
मुजफ्फर नगर

—:o:—

[पूर्ण संख्या २१७] पत्र

१९, राबर्श स्ट्रीट, बीजबेडन[1]
अक्तूबर १७, १८८८ ई०

बखिदमत स्वामी दयानन्द सरस्वती पण्डित,
सब से ज्यादा प्यारे उस्ताद,

मुझे उम्मीद है कि आप को मेरी आखरी चिट्ठी मवरिखा १० अक्तूबर मिल गई होगी। आज में आप की खिदमत में मिसिज ई० नोवेल्ज का आदाब अर्ज करता हूं, जो एक सच्ची थियोसोफिस्ट है

१. यह पत्र मा० लक्ष्मण जी सम्पादित उर्दू जीवन चरित परिशिष्ट ६, पृष्ठ २६० पर छपा है।

और जिसने अपने लड़के को तालीम-ए-वहदानियत के लिए मेरे सिपुर्द किया है मेरे अंग्रेजी शागिर्दों में वह पहला लड़का है, जो एक थियोसोफिस्ट का बेटा है और मुझे उसे अपने पास लेकर बहुत खुशी हुई है, क्योंकि वह दिल का नेक है, अपनी माता की तरह थियोसोफिस्ट बनने वाला है। उसकी उम्र सोलह साल है और वह एक मुसव्विर बनना चाहता है (उस का बाप ब्रिटिश सीगा-ए-बहरी में कप्तान है), उसकी रफ्तार-ए-तरक्की भी अच्छी है। मैं अपने अंग्रेजी शागिर्दों से, जो उससे बड़ी उम्र के हैं, थियोसोफी के मुताल्लिक बातचीत नहीं कर सकता, क्यों कि उनके वालदेन अंग्रेजी चर्च के मेम्बर हैं[1] और उनके बच्चों को ऐसे ऐतकादात और उसूलों की तालीम देने के लिए जो उस तालीम के बिल्कुल मुताबिक नहीं हैं जो कि उन्हें अय्याम-ए-तफूलियत में सिखाये गये हैं, वे मेरा शुक्रिया अदा नहीं करेंगे। पस मैं उन को सिर्फ वही सिखाने के लिए मजबूर हूं जो कुछ कि वे माद्दी साइंस के मुताल्लिक सीखना चाहते हैं और बाकी परमात्मा पर छोड़ता हूं। उन लोगों को तबदील-ए-मजहब कराना जो इन मामलात में अपने आप को पेश्तर ही अक्लमन्द समझते हैं, बेफायदा है, क्योंकि वे मौजूदा ऐतकादात से बहतर कुछ नहीं सीखना चाहते। हां, अगर वे इस कदर नावाकिफ और धोखा खाये हुए न होते, तो अल्बत्ता सीख लेते। अगर उन कसीर तादाद लोगों के लिए जो सत्य के मुताबिक अपनी जिन्दगी नहीं गुजारते, सचाई बजाय तल्ख होने के शीरीं होती, तो वे उसका इम्तहान करके उसे खुशी से ज्यादा हासिल करते और उस पर हत्तुल-मकदूर अमल करते, जैसा कि हर एक थियोसोफिस्ट करता है। आर्यन नस्ल के होशियार तुलबा जर्मन जबान सीखने की मुश्किल को बहुत जल्द मगलूब कर लेंगे।

मेरे साथ अंग्रेज तुलबा ६ माह में इस कदर जर्मन सीख लेते हैं जिस से कि वे तमाम मामलात में उससे अमली फायदा उठा सकें। आर्यन[2] तुलबा को अंग्रेजी या फ्रांसीसी जबान की शुद-बुद हासिल होगी, वे जर्मन जबान को उतनी ही जल्दी सीख लेंगे जितनी कि औसत दर्जे का काबलियत के अंग्रेज तुलबा सीख लेते हैं। जो इन

१. मूल पाठ 'नहीं' है, लेखक (कातिब) का प्रमाद प्रतीत होता है।
२. मूल पाठ 'जर्मन' है, जो लेखक (कातिब) का प्रमाद प्रतीत होता है।

दोनों जबानों से नावाकिफ हैं, वे एक साल की मुनासिब कोशिश और आला हिदायत से एक साल में सीख लेंगे। उसके बाद वे अमली तौर पर मुख्तलिफ अकसाम की दस्त कारी वगैरह सीखने में, जो कि उन्होंने अपने लिए खास तौर पर मुन्तखिब की होंगी, मसरूफ हो सकते हैं। इस तरह काम करते हुए वे आखिरकार इन उलूम व फनून और दस्तकारियों के मुताल्लिक इम्तहानात भी पास करने के काबिल हो जायेंगे जैसा कि आप के टेक्निकल तुलबा हैं और इस तरह आर्यन तुलबा तमाम दुनिया को साबित कर सकेंगे कि सनती इल्म में वे भी वैसे ही कामिल हैं और उस काम को करने के काबिल हैं जिसे उन्हों ने अख्त्यार किया है, जैसे कि कोई जर्मन या यूरोपियन कर सकता है।

(१) गैर अकवाम ने इस अमर से कि हिन्दुस्तान में अपने करोड़ों आदमियों की जरूरियात मुहिया करने के लिए महनत की है, सस्ते माल और जिन्दगी की जरूरियात को बहम पहुंचा कर फायदा उठाया है। उन अशया को जो गैर अकवाम आप के हाथ फरोख्त करती हैं, खुद पैदा करके मुहिया करना कौमी दौलत की तरक्की की तरफ पहला कदम उठाना है और इसी पर कौमी ताकत, आम फारिग-उल-बाला और आप की कौम की तरक्की का इनहसार है। यह एक आम फहम बात और मुदल्लल बात है। गैर अकवाम ने सनत और तिजारत से जो दौलत पैदा की है वह इस का सबूत है। एक कौम के लिए शाह-राह-ए-तरक्की में तमाम अकवाम के साथ हम-कदम रहने के लिए दूसरों से सीखना जरूरी है, नहीं तो वह घाटे में रहेगी और इन्सानी तरक्की की दौड़ में वह अपनी हमसाया अकवाम से पीछे रह जावेगी और उन की महकूम हो जावेगी। गोया कि एक आदमी कह सकता है कि यह एक कानून बल्कि खुदावन्द करीम की मर्जी है कि इन्सान एक दूसरे से मुहब्बत करे और उस की खिदमत करे। एक को दीगर अकवाम की खूबियां सीखनी चाहियें और उन की बुराईयां और कमजोरियां तर्क करनी चाहियें। इसी सूरत में तमाम आला और अदना तरक्की करेंगे और फतह किये हुए कारनामा-ए-जंग-व-जदल बन्द हो जायेंगे और बनी नो-ए-इन्सान में अम्न और हम-आहंगी जो कि उस की लाजमी नतीजा है, हासिल होगी। शेक्सपियर के एक फिकरे के मुताबिक, जो हैम-

लेट ने किसी और मतलब के लिए इस्तैमाल किया था, यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसी खुराक है जो सब को सरगरमी से हासिल करने की ख्वाहिश करनी चाहिये। थियोसोफी अपने लिए राह पैदा करेगी। और हमारी मुहज्जब सरजमीन की तमाम माद्दा परस्ती और माद्दी दौलत को मगलूब करेगी, जहां कि इल्म-ए-खुदगर्जी और मक्कारी मौजूद [है] और हकीकी इल्म व सदाकत मफ्कूद है, क्योंकि अन्धे माद्दा परस्त उस के इस्तैमाल से वाकिफ नहीं, क्यों कि उनके खयाल में जिस को वे अपनी फानी आंखों से देख नहीं सकते और उनके खाली हाथ पकड़ नहीं सकते उनके नज्दीक उसकी हस्ती का अल-अदम है।

(२) नेकी व ज्ञान और परमात्मा और दीगर इन्सानों से मिस्ल भाईयों के बहस करने को वे महज खयाली बातें तसव्वुर करते हैं जिन की बिना बिल्कुल गैर अमली आदमियों ने डाली है और जिन को वे भी खाली अज फायदा समझते हैं, क्योंकि वे अमली और माद्दी बातों को ही समझते हैं। जब मैं लोगों से थियोसोफी और ज्ञान के उस लाफानी खजाने का जिक्र करता हूं जो इस फानी दुनिया की हद से कहीं परे तक वुसअत पजीर है और जिसकी हमारे यहां इस कदर कमी है, अगरचे हम जर व माल में दौलतमन्द ही क्यों न हों। कई बेवकूफ आदमी मुझ से पूछते हैं, इसका फायदा क्या है? मैं जबाब देता हूं कि जो लोग रूहानी तौर पर अन्धे हैं, जिन की निगाह में तमाम रंग यकसां नहीं तारीक हैं, जो कायनात की रोशनी कुछ नहीं देख सकते और जो अपने जौम में समझे बैठे हैं कि वे रूहानी और जिस्मानी चश्म-ए-बसीरत देखने वालों की निस्बत ज्यादा जानते हैं, वे उस के हकीकी इस्तैमाल से वाकिफ नहीं। ऐसे लोगों से गूं-ना-गूं रंगों और चमकदार सितारों की चमक का जिक्र करने से क्या फायदा है? सब से बड़ी बात यह है कि जो लोग रूहानी अन्धे हैं और अपने आप को ऐसा नहीं समझते, वे मुझे इस सवाल का कोई तसल्लीबख्श जवाब नहीं देते, सिर्फ शानों को हिला कर चल देते हैं। उन के लिए यह सवाल है भी मुश्किल, क्यों कि उनके फाजिल रहबर भी अपने अन्धे पैरोओं की कसीर तादाद की निस्बत इन जरूरी अमूर के मुताल्लिक कुछ ज्यादा नहीं जानते। इस का हेत्वाभास और धोखा तमाम दुनिया में फैला हुआ है। क्या हमें

इस वक्त अपने नौजवानों को इस अब्तर हालत को दुरस्त करना और इस को रोकने के लिए कोशिश नहीं करनी चाहिये ? अगर हर एक शख्स, जो खुद अन्धा नहीं है, हमारे इस काम में मदद करे, तो हम परमात्मा की सहायता से, जिसकी बादशाहत के लिए हम जमीन पर अपने अपने नेक इरादों और अपने अपने हकूक और आजादी के लिए जंगजूओं की तरह लड़ते हैं, हम जरूर कामयाब होंगे। परमात्मा ही आजादी, प्रेम और खुशी और इन्सान के लिए अबदी जिन्दगी का मम्बा है। उस को ढूंढना, मुहब्बत करना और उसकी इच्छा के मुताबिक काम करना इस दुनियावी यात्रा के दौरान में इन्सान का फर्ज-ए-अव्वलीन है। इन्सानी सोसाइटी की सब से बड़ी मुसीबत यह है कि बहुत कम अशखास इस बात को सीखते और हकीकी तौर पर जानते हैं कि हम कहां से आये हैं और हमारी इस चन्द-रोजा दुनियावी हस्ती का मुद्दा व मकसद क्या है और कि दुनिया का लाफानी आत्मा इस फानी कालिब को छोड़ कर कहां चला जाता है ? यह लाफानी दुनिया में शामिल होता है जिसे कि हमारी फानी आंखें नहीं देख सकतीं और न मालूम ही कर सकती हैं, और जो एक ही सच्ची दुनिया है जो हमेशा कायम रहती है, जिस के मुकाबले में यह दुनिया धुएं और खाक का एक तूदा है और दुनियावी जिन्दगी तग-व-दौ का एक मुख्तसर सा हिस्सा है, जिस में कि हमारी आत्माएं हिसूल-ए-निजात और उस परमात्मा के पास वापस जाने के लिए कि जिसने हमें भेजा है, काम करती हैं।

क्या इन्सानी किस्मत और फर्ज के मुताल्लिक आप का ऐसा ही खयाल नहीं ! ए प्यारे उस्ताद, कृपा करके मुझे बतला। परमात्मा आप को और मुझ को आशीर्वाद दे और उस काम पर जो हम उस की अजमत के प्रचार के लिये करते हैं जितना कि हम उसकी मर्जी को अनुभव कर सकते हैं, अपनी बर्कत नाजिल करें।

यकीन करें कि मैं हूं आपका सादिक—

शागिर्द,

जी० वाइज

—:०:—